बदलता पर्यावरण

विज्ञान परिषद, प्रयाग

बदलता पर्यावरण

सम्पादक

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

संपादक 'विज्ञान'

विज्ञान परिषद् प्रयाग

महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद–2

विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद

अपनी बात

विज्ञान परिषद् देश की उन दो चार गिनी चुनी संस्थाओं में से एक है जो बड़े लम्बे समय से निरन्तर क्रियाशील है। परिषद् की स्थापना सन् 1913 में 10 मार्च को इलाहाबाद के ही तत्कालीन चार प्रबुद्ध प्राध्यापकों द्वारा की गयी थी। ये संस्थापक हैं—महामहोपाध्याय पं० गंगानाथ झा, मौलाना हमीदउद्दीन साहब, प्रोफेसर सालिगराम भार्गव और प्रोफेसर रामदास गौड़। उद्देश्य यह था कि अंग्रेजी और विदेशी दासता से पीड़ित माहौल में अपने लोगों, अपनी जनता को दुनिया और विज्ञान के बढ़ते क़दमों के बारे में जानकारी दी जाये। आप जरा सोचिये 1913-14 का वह समय जब हिन्दी को एक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित होने तक का अवसर नहीं मिला था। पर उन विद्वानों ने यह समझ लिया था कि अगर ज्यादा से ज्यादा लोगों तक अपनी बात पहुँचानी है तो यही माध्यम चुनना होगा। तो इस जन जागरण और विज्ञान की जटिलता को सरल बनाकर आम लोगों तक पहुँचाने के उद्देश्य से अप्रैल 1915 से ही विज्ञान परिषद् ने एक मासिक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया जिसका नाम ही रखा गया 'विज्ञान'। 75 वर्षों से नियमित रूप से बिना किसी अवकाश के प्रकाशित होने वाली यह देश की सम्भवत: एकमात्र विज्ञान पत्रिका है।

अब हम आयें अपने मुख्य विषय पर्यावरण सम्बन्धी चेतना पर। एक तरह से कहा जाय तो पर्यावरण की यह चेतना अत्यन्त प्राचीन काल से हमारे देश में विद्यमान है। सूर्य को जल देना, नदियों में मल-मूत्र का त्याग न करना, वृक्षों को देवता मानकर उनकी पूजा करना—यह सभी मामूली दैनिक क्रियायें, पर्यावरणीय चेतना का ही स्वरूप तो हैं। हमारा प्राचीन साहित्य ऐसे मंत्रों, सूक्तियों से भरा पड़ा है। पर जिस रूप में हम आज पर्यावरण की बात करते हैं उसको जन्म लिए अभी मुश्किल से चार-पांच दशक हुए हैं। आज सारे संसार के लगभग सभी देश और उनकी सरकारें पर्यावरण को सुरक्षित रखने और प्रदूषण को रोकने की समस्या के प्रति जागरुक हैं और किसी सीमा तक प्रयत्नशील भी। यह अवश्य है कि समस्या का स्वरूप हाथी जैसा है और हमारे प्रयत्नों की औकात चींटी जैसी। इस कारण अभी तस्वीर बहुत आशापूर्ण तो नहीं है फिर भी, आस्था है और प्रयास जारी हैं तो कुछ न कुछ होकर रहेगा।

विज्ञान परिषद् ने इस समस्या से संघर्ष करने के लिए लेखन और प्रकाशन के माध्यम से जन-जागरण का रास्ता चुना है। यह अवश्य सही है कि आज विजुअल मीडिया, यानी टी वी, वीडियो अधिक प्रभावपूर्ण तरीके से अपनी बात लोगों तक पहुँचाने में सफल हो रहे हैं पर आज भी ग़रीबी और भुखमरी से पीड़ित इलाकों तक टी वी जैसे मँहगे माध्यमों की अपेक्षा पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से लिखी हुई बात पहुँचाना अधिक व्यवहारिक भी है और सरल भी। आप शायद सोचें कि हमें जिन लोगों से अपनी बातें

कहनी हैं उनमें लगभग 75 फीसदी तो अनपढ़ लोग हैं—उनके लिए मुद्रित साहित्य का क्या औचित्य है। पर वहीं आप की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। आप स्वयंसेवी संस्थाओं से जुड़े लोग जो अपनी शक्ति, अपना समय, समाज कल्याण के लिए समर्पित कर रहे हैं, यह प्रकाशित साहित्य आपके लिए है कि आप इसकी सूचनाओं और ज्ञान से अपने क्षेत्र के लोगों को परिचित कराएँ।

विज्ञान परिषद् ने पर्यावरण के प्रति जागरुकता लाने के लिए समय-समय पर अखिल भारतीय गोष्ठियाँ, सभाएँ और कार्यशालाएँ आयोजित की हैं। इन गोष्ठियों में भारत के सूदूर अंचलों से भी लोगों ने भाग लिया और पर्यावरण की समस्या के प्रति अपने-अपने क्षेत्रों की विशिष्ट समस्याओं के साथ-साथ सारे देश के जल, वायु, मिट्टी के प्रदूषण, वन और वन्यप्राणियों के संरक्षण, कुछ समाप्त होते संसाधनों के संकट और अन्य अनेक पर्यावरण संबंधी विषयों पर अपनी वार्ताएँ, शोधपत्र और विचार प्रस्तुत किए। यह भी परिषद् के लिए सौभाग्य की बात है कि परिषद् इन कर्मठ वैज्ञानिकों, विचारकों और लेखकों को एक मंच पर एकत्र करने का माध्यम बना।

जैसा कि आप जानते होंगे कि 1972 के यू एन ओ (संयुक्त राष्ट्र संघ) के पर्यावरण संबंधी प्रस्ताव के बाद ही सभी देश पर्यावरण संबंधी संकटों के प्रति सचेत और सक्रिय होने लगे। 'विज्ञान' पत्रिका में तभी से लोगों में इसके प्रति ज्ञान और चेतना जागरण के लिए बीच-बीच में पर्यावरण संबंधी लेखों का प्रकाशन आरंभ हो गया था, पर इस दिशा में पहला महत्वपूर्ण प्रयास था, 'विज्ञान' का दिसम्बर 1980 का 'प्रदूषण विशेषांक' जिसमें पहली बार पर्यावरण से संबंधित ढेरों सामग्री एक साथ प्रकाशित की गई। इनमें गंगा एक्शन प्लान प्रारंभ होने के बहुत पहले गगा जल प्रदूषण, जीवनाशियों से प्रदूषण, गाँवों में प्रदूषण की समस्या और उसका निराकरण और प्रदूषण रहित प्रगति जैसे सर्वकालिक महत्व के विषयों पर सारगर्भित लेख छापे गये। इसके अतिरिक्त वायुमंडल प्रदूषण, स्थल प्रदूषण, आहार प्रदूषण, शोर प्रदूषण, पर्यावरणीय युद्ध, जनसंख्या विस्फोट तथा औद्योगिक और अन्य प्रकार के अपशिष्टों के पुनरुपयोग जैसे सामयिक विषयों पर भी अन्य लेखों में सार्थक चर्चा की गई।

निरंतर कटते जंगलों के परिणामस्वरूप बाढ़ और सूखे की विभीषिका से आप सभी परिचित हैं। इससे मरुस्थलों का विस्तार हो रहा है। यही नहीं, ऊर्जा की समस्या ने भी विकराल रूप धारण कर लिया। कोयले और मिट्टी के तेल के कम होते भण्डारों के कारण ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों की ओर ध्यान देना आवश्यक हो गया। इस समस्या के प्रति लोगों का ध्यान आकृष्ट करने के उद्देश्य से विज्ञान परिषद् ने 108 पृष्ठों का 'विज्ञान' पत्रिका का 'ऊर्जा विशेषांक' (जनवरी-मार्च 1983) प्रकाशित किया। इसमें ऊर्जा के पारंपरिक और गैर पारंपरिक स्रोतों से सम्बन्धित तीन दर्जन से अधिक लेख हैं। यह हमारा दूसरा उल्लेखनीय प्रयास था।

पर्यावरण से सम्बन्धित हमारा तीसरा उल्लेखनीय प्रयास था वर्ष 1986 में आयोजित की गई अखिल भारतीय संगोष्ठी जो सारे देश में हिन्दी में होने वाला इस प्रकार

का पहला आयोजन कहा जा सकता है। इस संगोष्ठी का प्रमुख विषय ही 'पर्यावरण 2001' था और जैसा कि इस शीर्षक से स्पष्ट हो जाता है, हम लोगों का प्रयास यही था कि हम विज्ञान परिषद् की ओर से एक ऐसा प्रयास करें कि अगली शताब्दी में प्रवेश करने वाले हम, हमारे समकालीन और हमारी संतानें पर्यावरण संरक्षण संबंधी पूर्ण जागरूकता के साथ नयी सदी में क़दम रखें, साथ ही साथ हम इस अपराधबोध को भी पीछे छोड़ सकें कि हमने अपने लोभ और अपनी अदूरदर्शिता के कारण अपने पैरों पर तो कुल्हाड़ी मारी ही है अपने आगे आने वाली सभी नस्लों के रास्ते में भी काँटे बो दिए हैं। इस संगोष्ठी में सम्मिलित की गई सभी चर्चाओं और लेखों का संकलन 'विज्ञान' के जनवरी-मार्च 1986 विशेषांक के रूप में प्रकाशित किया गया था। इसमें अनेक अछूते नये पहलुओं पर प्रकाश डाला गया। धूम-कुहरा, ओज़ोन पर्त में क्षति की समस्या, मरुस्थलीय पर्यावरण, नाभिकीय युद्ध, भोपाल गैस दुर्घटना के दुष्परिणाम, सागरीय पर्यावरण, अलक्षित प्रदूषण, पर्यावरण सम्बन्धी कानून, गंगा प्रदूषण और उपचार, वन विनाश और ग्रामीण पर्यावरण पर विशेष सामग्री के साथ-साथ इस प्रकाशन में कुछ अपारंपरिक विषयों की ओर भी ध्यान दिलाया गया। इनमें पर्यावरण को बचाने के लिए मानव को अपनी मनोवृत्ति को बदलना जैसा विषय प्रमुख है। इसके अतिरिक्त इस अंक में सर्वप्रथम पर्यावरण आन्दोलन को अतिवादी होने से बचाने की ओर ध्यान आकर्षित किया गया और इसके संरक्षण की ओर पूरी तरह सचेष्ट रहते हुए भी प्रगति की राह में रोड़े न अटका कर संतुलन बनाये रखने पर ज़ोर दिया गया।

परिषद् की ओर से पर्यावरण आंदोलन शृंखला की अगली कड़ी थी 14 दिसम्बर 1987 को आयोजित की गई, दूसरी 'विज्ञान तकनीकी और पर्यावरण 2001' अखिल भारतीय संगोष्ठी। इस संगोष्ठी में अनेक ऐसे नये विषयों को लेने का प्रयास किया गया जो अपने विस्तृत कलेवर के बावजूद 1986 की संगोष्ठी में नहीं समेटे जा सके थे। इस बार की संगोष्ठी पर जिस विषय को सभी लेखों में प्रमुख रूप से रेखांकित किया गया वह था मानव सभ्यता की सर्वांगीण प्राकृतिक प्रगति और पर्यावरण सम्पदा के अंधाधुंध विनाश और इन दोनों के मध्य एक संतुलन कायम करने का प्रयास। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए मैं उक्त संगोष्ठी अंक की भूमिका से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करना चाहूँगा। वहाँ लिखा गया है—

'यदि हम वर्तमान पारिस्थितिकीय संकट को दार्शनिक दृष्टि से देखें, तो एक बात जो स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आती है वह यह है कि हमें, इस धरती पर रहने वालों को, अपने रहन-सहन के सामाजिक ढांचे में परिवर्तन लाना होगा, पुनर्निर्माण करना होगा। हमें ऐसे सामूहिक और सुनियोजित विकास पर बल देना होगा जहाँ समाज के एक वर्ग का दूसरे वर्ग द्वारा शोषण नहीं होगा और इस प्रकार के समाज का निर्माण करना होगा जो प्रकृति को विकृत करते हुए नहीं, वरन् उसके साथ तालमेल बिठाकर चल सके।'

हमारे इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए 'विज्ञान तकनीकी और पर्यावरण 2001' के इस अंक में प्रदूषण निवारण सम्बन्धी प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण, विज्ञान और

जन चेतना, फैशन और प्रदूषण, नगर एक पर्यावरणीय परिप्रेक्ष्य, वन संपदा और मत्स्य संपदा संरक्षण, इक्कीसवीं सदी का कृषि पर्यावरण, जैव तकनीकी, ग्रामीण उपयुक्त तकनीकी, कम्प्यूटरों की भूमिका, और रेडियो ऐक्टिव प्रदूषण जैसे लेख सम्मिलित किए गये। इनमें पर्यावरण के प्रति वैज्ञानिकों का नैतिक दायित्व शीर्षक लेख का विशेष महत्व है क्योंकि पर्यावरण सम्बन्धी चेतना को सही दिशा प्रदान करने का सारा उत्तरदायित्व वैज्ञानिकों के दृष्टिकोण पर ही निर्भर करता है।

1986 में विज्ञान परिषद् में जो पर्यावरण विषयक संगोष्ठी आयोजित की गई थी उसके कुछ चर्चित लेखों को 'नेशनल रिसर्च डेवलेपमेण्ट कारपोरेशन' की पत्रिका 'आविष्कार' ने सहर्ष अपने यहाँ से प्रकाशित करने की इच्छा व्यक्त की। उसके फलस्वरूप 'आविष्कार' के नवम्बर-दिसम्बर 1986 के संयुक्तांक में पर्यावरण सम्बन्धी अनेक लेख छापे गये। इन लेखों में हिन्दी लेखक और पर्यावरण, पर्यावरण शिक्षा, पर्यावरण सम्बन्धी राष्ट्रीय नीतियों की समीक्षा, अंटार्कटिक में प्रदूषण, अन्तर्राष्ट्रीय जल आपूर्ति दशक और सन् 2001 में पर्यावरण के लिए क्या करें जैसे विशिष्ट महत्व के लेख सम्मिलित हैं।

अक्टूबर 88 में विज्ञान परिषद् में आयोजित 'वन्य जीव संरक्षण गोष्ठी' की सामग्री को अप्रैल 89 के 'आविष्कार' अंक में पुनः प्रकाशित किया गया। इनमें वन्य जीवों के विलुप्त होने की आशंका के प्रति चेतावनी के साथ ही उनके संरक्षण के उपायों की भी चर्चा की गई।

पिछले वर्ष 1989 में 11 से 16 सितम्बर के मध्य परिषद् में 'हिन्दी-उर्दू बाल-विज्ञान लेखन' पर एक कार्यशाला आयोजित की गई थी। उस कार्यशाला में भी अन्य विषयों के अतिरिक्त बालकों को पर्यावरण सम्बन्धी शिक्षा देने के लिए भी एक समूह बनाया गया था जिसमें तद्विषयक मानक लेख प्रस्तुत किए गये थे। इस प्रकार जनसाधारण में पर्यावरण सम्बन्धी चेतना जगाने के हमारे प्रयास निरन्तर जारी रहे।

इन संगोष्ठियों के अतिरिक्त हमने हर वर्ष 'विज्ञान' पत्रिका के एक दो पर्यावरण सम्बन्धी विशेषांक प्रकाशित करने का प्रयास किया है। इनमें जून 1985 का अंक, जून-जुलाई 1988 का अंक, जून 1989 का अंक, जुलाई 1989 का अंक, जून-जुलाई और पुनः अगस्त-सितम्बर 1990 के अंक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यही नहीं, हम यह भी प्रयास करते रहे हैं कि हम अपने हर अंक की सामग्री में पर्यावरण की समस्या को रेखांकित करने वाले एक-दो लेख अवश्य ही सम्मिलित करें।

इन अंकों में नये पर्यावरण की तलाश, एक शाम पृथ्वी के नाम और—पृथ्वी दिवस पर अन्य लेख, विज्ञान को आम आदमी के लिए कैसे मोड़ें, पर्यावरण की कीमत पर यह कैसा विकास, पर्यावरण सुरक्षा के लिए समन्वित प्रयास आवश्यक, ग्रीन हाउस प्रभाव, पारिस्थितिक तंत्रों का पुनर्विकास, रासायनिक युद्ध की विभीषिका, पर्यावरणीय चेतना का आर्थिक दृष्टिकोण, पर्यावरण और किसानों का दायित्व और जीवनदृष्टि के परिवर्तन की आवश्यकता जैसे लेखों का उल्लेख इसलिए आवश्यक है, क्योंकि इनके माध्यम से ही हम अपने दृष्टिकोण को आपके सामने रख सके हैं और भविष्य में भी रखते रहेंगे।

परिषद् के 75वें वर्ष में अमृत महोत्सव समारोहों की कड़ी के रूप में श्रद्धेय स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती जी ने दिल्ली के 'पुस्तकायन' प्रकाशन से बात करके 75 पुस्तकों के प्रकाशन की एक योजना बनाई। विज्ञान परिषद् के सहयोग से अब तक 'बाल विज्ञान सीरीज़' के अन्तर्गत् 13 पुस्तकें छपकर बाजार में आ चुकी हैं और इस सीरीज की पुस्तकों में 'हमारा पर्यावरण' और 'अंटार्कटिका' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, क्योंकि ये पुस्तकें पर्यावरण से ही सम्बन्धित हैं।

इस प्रकार हम पर्यावरण सम्बन्धी समस्याओं से लोगों को अवगत कराने और उनके निराकरण के उपाय सुझाने का अपनी तरह से लगातार प्रयास कर रहे हैं। हम यह मानकर चल रहे हैं कि बूंद-बूंद से सागर भरता है। और यह हमारी चेष्टाएँ हमारे परिषद् के क्रियाकलाप इस विशाल सागर की एक बूंद बनने की सार्थकता पा सकें, यही हमारी इच्छा भी है और उद्देश्य भी।

इस कड़ी में हमारा वर्तमान् प्रकाशन है 'बदलता पर्यावरण'। इस पुस्तक को पर्या-वरण निदेशालय, उत्तर प्रदेश शासन (लखनऊ) के 7000 रुपयों के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित किया गया है। यह 'विज्ञान' पत्रिका का जनवरी-मार्च 1991 संयुक्तांक 'विज्ञान' का 'समीर विशेषांक' है। इसमें संदेह नहीं कि पर्यावरण निदेशालय के आर्थिक सहयोग के बिना आलेखों को इस रूप में प्रकाशित कर पाना हमारे लिए सम्भव नहीं था। हम इसके लिए पर्यावरण निदेशालय, उत्तर प्रदेश शासन (लखनऊ), निदेशक, उच्च शिक्षा (इलाहाबाद), श्री चन्द्रविजय चतुर्वेदी, सहायक निदेशक, शिक्षा निदेशालय (उच्च शिक्षा) के विशेष रूप से आभारी हैं। श्री जगदीश चन्द्र पंत, अतिरिक्त सचिव, भारत सरकार, नई दिल्ली के प्रति भी हम कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

मैं अपने कर्तव्य का पालन करने में असफल हो जाऊँगा यदि मैं उन सभी लेखकों और लेखिकाओं के प्रति आभार प्रदर्शन में चूक जाऊँ, क्योंकि लेखकों के सहयोग के बिना तो कुछ भी सम्भव न था। इस पुस्तक के मुखपृष्ठ की डिज़ाइन दिल्ली के प्रतिष्ठित लेखक–सम्पादक डॉ० रमेश दत्त शर्मा ने बनवाकर भेजा था। मैं उनके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ।

मैं विज्ञान परिषद् के अंतरंगियों—विशेष रूप से उपसभापति डॉ० पूर्णचन्द्र गुप्ता, प्रधानमंत्री डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी, पूर्व प्रधानमंत्री डॉ० शिवगोपाल मिश्र, डॉ० रामसुरंजन धर दुबे, डॉ० जगदीश सिंह चौहान, डॉ० अशोक महान, डॉ० अशोक कुमार गुप्ता, श्री चन्द्रभान सिंह (कार्यालय सहायक) आदि के प्रति हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनका सहयोग मुझे बराबर मिलता रहा है। श्रद्धेय स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती जी का भी मुझे आशीर्वाद मिला। मुद्रण के लिए मैं नागरी प्रेस के श्री सरयू प्रसाद पाण्डेय जी का भी आभारी हूँ।

इस पुस्तक में यदि कुछ अच्छा है तो वह लेखकों के कारण है। त्रुटियों के लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूँ। पुस्तक कैसी है इसका निर्णय तो पाठक करेंगे। हाँ यदि भविष्य में आप सबका सहयोग मिलता रहा तो इससे भी अच्छी सामग्री के साथ आपके सामने आऊँगा।

नया वर्ष शुभ एवं मंगलमय हो।

—प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

विषय-सूची

पर्यावरण संरक्षण : एक बुद्धिजीवी अभियान

□ जगदीश चन्द्र पन्त

प्रकृति और मानव के अन्तर्संम्बन्धों का विज्ञान ही पारिस्थितिकीय विज्ञान, इकोलोजी कहलाता है। जो दुर्दशा आज पर्यावरण की है उसका मुख्य कारण मानव समाज के अपने अन्तर्विरोधों का कुपरिणाम है। विश्व परिप्रेक्ष्य में बलशाली राष्ट्रों ने पिछली कई शताब्दियों के दौरान कमज़ोर अथवा विकासशील राष्ट्रों की कमज़ोरी का लाभ उठाकर विश्व के प्राकृतिक संसाधनों पर अपना नियन्त्रण जमाया है एवं उनका लाभ भोगा है। यही साम्राज्यवाद का नंगा नृत्य था जिसका विरोध भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के माध्यम से प्रारम्भ हुआ और भारत के स्वाधीन हो जाने के साथ ही इस साम्राज्यवाद के अन्त की भी शुरूआत हुई थी। आज जब विश्व स्तर पर परमाणु युद्ध की विभीषिका के भय से विश्व शान्ति और सह-अस्तित्व की भावना का विस्तार हो रहा है तो पूरे विश्व के पर्यावरण को बचाने एवं उसकी बिगड़ती हुई स्थिति को सुधारने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की सम्भावनायें बढ़ती हुई दिखाई पड़ रही हैं। इस कार्य के लिए भौतिक रूप से बलवान राष्ट्र अपने ही हित में विकासशील राष्ट्रों की सहायता के लिये आगे बढ़ रहे हैं ताकि पूरे विश्व को बचाया जा सके।

जो बात राष्ट्रों पर लागू होती है वही बात हमारे समाज, भारतीय समाज के अन्तर्विरोधों पर भी चरितार्थ होती है। यह देखते हुए कि विश्व के प्राकृतिक संसाधन असीम नहीं हैं यदि हमारे देश के प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग समाज के बलशाली वर्ग के लिए ही होगा तो प्रकृति एवं पर्यावरण की रक्षा कैसे हो सकेगी ? आज जब गरीब से गरीब व्यक्ति के आर्थिक स्तर को ऊपर उठाने के लिए कल्याणकारी राज्य कृतसंकल्प हैं, प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग अब सबके हित में किया जाना ठीक होगा लेकिन निहित स्वार्थों के हितों के लिए इनका उपयोग किया जाना अब शायद बर्दाश्त नहीं किया जायगा। यह ध्यान में रखते हुए कि भारत के संविधान में व्यक्ति की गरिमा एवं सामाजिक न्याय को सर्वाधिक महत्व दिया गया है, अब राज्य के एवं प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग निश्चय ही सर्वसाधारण के लिए ही किया जाना अनिवार्य हो गया है। सबके हित में किये गये प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग से जो पर्यावरण की क्षति होगी उसे कम से कम कैसे किया जाय एवं उसकी क्षति-पूर्ति किन साधनों से और कैसे की जाय यह पारिस्थितिकीय वैज्ञानिकों

अतिरिक्त सचिव, भारत सरकार, नई दिल्ली

एवं विशेषज्ञों, समाज के बुद्धिजीवी वर्ग एवं शासन-तन्त्र के अधिकारियों के लिए एक चुनौती है।

लेकिन एक बात हमें नहीं भूलनी चाहिए कि जिन सामाजिक अन्तर्विरोधों के कारण हमारे पर्यावरण की यह दुर्दशा हुई है उनके समाधान के बिना पर्यावरण सुरक्षा एवं उसके पुनर्स्थापन की हमारी कल्पना एक कल्पना मात्र रह जायगी। मानव के बिना प्रकृति बखूबी रह सकती है लेकिन प्रकृति के बिना मानव का अस्तित्व ही नहीं है। प्रकृति का उपभोग कर उस पर आधिपत्य जमाकर उसके संसाधनों को व्यक्तिगत लाभ के लिए उपयोग किया जाना पश्चिम की भोगवादी संस्कृति की देन है। भारतीय संस्कृति में तो प्रकृति को माता की उपमा दी गयी है जो अपनी मानव संतान को पालने-पोसने के लिए समर्पित है। क्या प्रकृति माँ का मांस खा-खा कर व्यक्तिगत लाभ को बढ़ावा दिया जाना अब बर्दाश्त किया जा सकता है ? प्रकृति यदि माँ है तो उसे माँ का आदर भी दिया जाना होगा तभी उसके द्वारा मानव का संरक्षण हो सकेगा। जितना माँ से लिया जाय उससे अधिक उसे लौटाया जाय एवं इस प्रकार से लौटाया जाय कि उसका संविलयन धरती के गर्भ में आसानी से हो सके और वह पुनः धरती का पोषण कर सके।

वे सामाजिक अन्तर्विरोध क्या हैं जिनके कारण हमें अपने पर्यावरण की रक्षा और उसके पुनर्स्थापन में बाधा पड़ रही है ? भारतीय समाज के परिप्रेक्ष्य में और एक प्रकार से पूरे विश्व परिप्रेक्ष्य में यह प्रथमतः नारी की स्थिति से सम्बन्ध रखता है। मानव इतिहास में जब-जब शारीरिक और भौतिक बल का बोलबाला रहा है तब-तब नारी की स्थिति दयनीय रही है। आदिम मानव जब केवल आखेट से ही निर्वाह करते थे तब भी नारी की स्थिति गुफाओं के अन्दर सीमित थी। जब मानव विकास के क्रम में कबीलों का प्रादुर्भाव हुआ और आखेट के साथ-साथ कन्द मूल फल को एकत्र कर उससे जीवन निर्वाह की स्थिति पैदा हुई तब सम्भवतः पहली बार नारी की स्थिति समाज में वरिष्ठता प्राप्त कर पायी। उस समय पुरुष आखेट पर निकलते और कई दिन बाद खाली अथवा कुछ लेकर लौटते। उनकी अनुपस्थिति में कबीलों के संचालन एवं कन्द मूल फलों का एकत्रीकरण एवं उनका वितरण कार्य नारी के ही ज़िम्में था और इस सामाजिक ज़िम्मेदारी से नारी की स्थिति कबाईली समाज में वरिष्ठ बन पायी। मानव विकास क्रम उसके पश्चात् कृषि, उद्योग और साम्राज्यवाद की ओर बढ़ता गया जिन सब में शारीरिक और भौतिक बल पुनः समाज पर हावी हुआ और नारी की स्थिति फिर से घर के अन्दर सीमित रह गयी। अब पुनः विश्व स्तर पर निरस्त्रीकरण एवं सह-अस्तित्व के प्रतिपादन के साथ व्यक्ति की गरिमा एवं सामाजिक न्याय का बोलबाला फिर से हो रहा है और इसी कारण अब शारीरिक और भौतिक बल का महत्व समाज में कम होता चला जायेगा। इस प्रकार नारी की स्थिति में सुधार के पुनः लक्षण उपस्थित हैं और इसीलिए आज की सबसे महत्वपूर्ण सामाजिक आवश्यकता नारी जागरण के रूप में महसूस की जा रही है।

यह स्पष्ट है कि जिन सामाजिक एवं ऐतिहासिक कारणों से नारी को घर की चहार दीवारी में बन्द रहने के लिये मजबूर होना पड़ा था वे अब धीरे-धीरे हट रहे हैं।

लेकिन उसी परम्परा की लकीर हम अभी पीटे जा रहे हैं। पर्यावरण विनाश की सबसे पहली चोट नारी को ही झेलनी पड़ती है। घर के लिये पीने का पानी, खाना बनाने के लिए जलौनी लकड़ी, जानवरों के लिए चारा इन सबकी दूरी हर ग्राम से बढ़ती जा रही है क्योंकि प्रकृति माता जो इन्हें हमें मुक्त हस्त से देती है उसका शोषण हमारी सामाजिक व्यवस्था ने सुगम बना दिया है। यदि नारी अधिकार-सम्पन्न होती तो अपने ग्रामों की यह दुर्दशा न होती और हमारे देहात एवं पर्वतीय क्षेत्र की नारी का जीना इतना दूभर नहीं होता। इसलिए नारी जागरण के लिए उसे अधिकार-सम्पन्न बनाना होगा तथा उसे अपने पाँवों पर खड़े होने की सुविधाएँ देनी होंगी। इसी प्रकार नारी का भोगवादी शोषण बन्द करना होगा। आज के अधिकांश वाणिज्यिक विज्ञापन नारी देह को उजागर कर उत्पादित वस्तु की विक्री का माहौल बनाते हैं चाहे उसका कोई सम्बन्ध नारी देह से हो अथवा नहीं। ऐसे व्यवसायिक एवं वाणिज्यिक विज्ञापनों को बन्द करना होगा। इसी प्रकार नारी को उसकी दासता से भी मुक्ति दिलानी होगी जिस कारण से उसकी स्थिति एक सामान्य गृहणी के रूप में भी इसी प्रकार की है। उसे लोहे और सोने की जंजीरों से मुक्त करना होगा। लोहे की जंजीर उसकी दासता की निशानी है और सोने की जंजीर उसकी भोगवादी शोषण का प्रतीक है। नारी जागरण के बिना नर का उद्दात्तीकरण सम्भव नहीं है और नर के उद्दात्तीकरण के बिना समाज की प्रगति सम्भव नहीं है। आज का भोगवादी नर कम से कम समय में येन-केन-प्रकारेण अधिक से अधिक धनार्जन करना अपना परम लक्ष्य मान बैठा है। इसी से सामाजिक भ्रष्टाचार बढ़ रहा है तथा भ्रष्टाचार शिष्टाचार बनता हुआ प्रतीत हो रहा है। बेटी की शादी के लिए भ्रष्ट तरीकों से धन कमाना, अधिक से अधिक दामों पर जमाता की खरीद-फरोख्त करना एक आम बात बनती जा रही है। जाग्रत नारी और उद्दात्तीकृत नर के लिए यह असहनीय होगा। भोगवाद के स्थान पर सामाजिक मूल्यों में संयम को प्रतिष्ठित करना होगा। संयम से उपलब्ध होने वाले संसाधनों का उपयोग कमज़ोर वर्ग के उत्थान के लिए करना होगा क्योंकि यदि अब ऐसा बड़े पैमाने पर नहीं किया गया तो कमज़ोर वर्ग के लोग खामोशी से अपनी दुर्दशा को बर्दाश्त करते ही नहीं रहेंगे। गाँधी जी कहते थे—"**There is enough for everyone's needs but not enough for everyone's greed**". (सभी की ज़रूरतों के लिए यथेष्ट है, किन्तु प्रत्येक की लालच के लिए नहीं।) व्यक्तिगत लाभ के लालच पर नैतिक, सामाजिक, विधिक, सभी प्रकार के नियन्त्रण लगाने ही होंगे। भोगवादी विकास की रणनीति के स्थान पर प्रकृति का संरक्षण करते हुए स्थानीय सांस्कृतिक परिवेश के अनुरूप विकास की पद्धति की शुरूआत करनी होगी।

यह तो बात हुई सामाजिक अन्तर्विरोधों का समाधान कर विकास की ऐसी रणनीति अपनाना जो पर्यावरण के लिए मँहगा नहीं पड़ेगा। ऐसी रणनीति जो भोगवाद का पोषण करने वाली मँहगी परियोजनाओं के स्थान पर बेरोज़गारों को रोज़गार देने वाली अधिक से अधिक छोटी-छोटी परियोजनाओं को प्रोत्साहन देंगी जिनमें लाभार्थियों की पूरी भागीदारी होगी। इस प्रकार की परियोजनाओं में प्रमुख स्थान मिलना चाहिए भूमि की दशा में सुधार करने वाली परियोजनाओं को। हमारे सबसे करीब हमारा शरीर है। इसे स्वस्थ

और तन्दुरुस्त रखने के लिए क्या 'टानिक' पिलाए जायें या कड़ी मेहनत से कमाया गया सादा भोजन किया जाय ? भोगवादी विकास की रणनीति के अनुसार 'टानिक' का उपयोग बढ़ाया जाय ताकि शराब मिश्रित टानिक की बिक्री बढ़े तथा इस उद्योग में लगे हुए उद्योग-पतियों को फ़ायदा हो। कड़ी मेहनत से कमाया गया सादा भोजन तभी उपलब्ध होगा जब स्वच्छ रोज़गार के पर्याप्त साधन उपलब्ध होंगे। सार्वजनिक भूमि पर वृक्षारोपण एक इसी प्रकार का रोज़गार-परक कार्यक्रम हो सकता है। जीवन एवं स्वास्थ्य के लिये स्वच्छ जल एवं स्वच्छ हवा अति आवश्यक है। वर्षा का जल कैसे बचाया जाय तथा भूमि-क्षरण कैसे रोका जाय ? ये दोनों कार्यक्रम रोज़गार-परक परियोजनाएँ प्रस्तुत कर सकती हैं। गो-पालन एक महत्वपूर्ण रोज़गार का साधन हो सकता है जिसके द्वारा दूध, घी आदि तो प्राप्त होगा ही गोबर के रूप में उपयोगी खाद भी किसान को उपलब्ध हो सकेगी। भूमि-जल-संरक्षण एवं हरीतिमा-संवर्धन पर्यावरण रक्षा का महत्वपूर्ण कार्यक्रम बन सकता है। इस ओर विशेष प्रयास किये जाने की आवश्यकता है। इससे गाँव-गाँव में जलौनी लकड़ी, मवेशियों के लिये चारा एवं हर गाँव में पर्याप्त पेयजल उपलब्ध हो सकेगा। हमारे देहात की महिलाओं के लिए यह एक बड़ा वरदान सिद्ध होगा। इसी प्रकार से व्यर्थ पदार्थों के पुनर्उपयोग का एक ऐसा कार्यक्रम चलाना चाहिए जिसके द्वारा गृह उद्योग क्षेत्र में बड़े पैमाने पर रोज़गार सृजित हो सकें। इससे यह भी लाभ होगा कि जो कूड़ा-कचड़ा पर्यावरण को गन्दा करता है उससे समाजोपयोगी निर्माण कार्य सम्पन्न हो सकेंगे। मूलतः विकास की रणनीति ऐसी हो जो निभ सके, जिसके द्वारा जन-सामान्य की समस्याओं का समाधान हो सके तथा पर्यावरण की रक्षा एवं उसका संवर्धन हो। **Sustainable development means growth is equitable, low cost, economically most efficient, productive and stable. It should always keep ecological and cultural considerations in full view so that the consequential development benefits reach the largest number of people with a minimum damage to the eco-system.**

दुर्भाग्य से आर्थिक प्रगति का मूल्यांकन विकास कार्यों पर हो रहे व्यय के आधार पर किया जाता है। इसी प्रकार जीवन स्तर का मूल्यांकन अधिकतम ऊर्जा की खपत के आधार पर किया जाता है। सामान्य चर्चा में विकास से अर्थ औद्योगिक विकास लगाया जाता है, इसी प्रकार ऊर्जा से विद्युत् का मतलब लगाया जाता है। विद्युत् उत्पादन एवं बड़े उद्योग दोनों ही सबसे अधिक व्यय-साध्य आर्थिक कार्यक्रम हैं। आज के वैज्ञानिक एवं तकनीकी शोधकर्ताओं के सामने सबसे बड़ी चुनौती यही है कि विद्युत् का उपयोग कैसे कम से कम किया जाय, ऊर्जा का संरक्षण कैसे किया जाय, वैकल्पिक ऊर्जा के स्रोत क्या हो सकते हैं, तकनीक में क्या सुधार किया जाय कि मशीनों द्वारा ऊर्जा का व्यय कम हो सके आदि ? इसी प्रकार कृषि में कीटनाशक दवाओं का उपयोग कृषि कार्य में लगे हुए मजदूरों के लिए घातक सिद्ध हो रहा है और कृषि क्षेत्र से बहने वाला पानी प्रदूषित हो रहा है। रासायनिक उर्वरकों एवं कीटनाशक दवाओं के बढ़ते हुए उपयोग से कृषि की उत्पादकता और उससे होने वाला लाभ हानि में पलट गया है जिसके कारण उन क्षेत्रों में जहाँ-जहाँ

'हरित क्रान्ति' को चले हुए कुछ वर्ष हो गये हैं, वहाँ किसान-असन्तोष उग्र रूप ले रहा है।

बड़ी सिंचाई परियोजनाओं द्वारा जल उपयोग की दिशा में देश को बड़ा नुकसान उठाना पड़ा है। जहाँ एक ओर पश्चिमी उत्तर प्रदेश में गंगा नहर के माध्यम से उसके निर्माण के बाद लगभग 100 वर्ष तक खुशहाली की स्थिति पैदा हुई थी वहाँ आज़ादी के बाद बनी हुई बड़ी जल-विद्युत् परियोजनाओं के द्वारा लगभग 10 लाख हेक्टेयर कृषि योग्य भूमि जल प्लावित होने के कारण पूरी तरह से बेकार हो चुकी है और लगभग 6 लाख हेक्टेयर से अधिक कृषि योग्य भूमि बहुत शीघ्र पूर्ण रूप से जल प्लावित होकर कृषि के लिए सर्वथा अयोग्य हो जायेगी। इन बड़ी जल-विद्युत् परियोजनाओं के कारण जहाँ विशाल हरे-भरे क्षेत्र जल मग्न हो जाते हैं वहीं उन क्षेत्रों में निवास करने वाले ग़रीब किसान और जनजाति के लोग बेघर हो जाते हैं। इन बड़ी परियोजनाओं द्वारा न तो भूमि और जल का संरक्षण ही हो पाता है और न ही जन-सामान्य का कल्याण सम्पन्न हो सकता है। ऊपर से पारिस्थितिकीय असन्तुलन की मार ग्रामीण एवं पर्वतीय क्षेत्र की महिलाओं को और झेलनी पड़ती है। इन सभी वृहत जल-विद्युत् परियोजनाओं का जीवन काल प्रारम्भिक अनुमानों के आधे से एक तिहाई तक होता पाया गया है—अर्थात् आर्थिक दृष्टि से भी ये परियोजनायें लाभकारी नहीं हैं।

'जनसंख्या-विस्फोट' अपने आप में आज के समय की सबसे विकराल मानवकृत आपदा बन गयी है। केवल प्रचार से ही जन्म दर घटती हुयी नहीं दिखायी पड़ती। नारी जागरण एवं नर के उद्दात्तीकरण से जहाँ जनसंख्या नियंत्रण में अवश्य सहायता मिलेगी वहीं अब ऐसी व्यवस्थायें बनानी होंगी कि सामाजिक सुविधायें दो बच्चों के परिवार के आधार पर ही उपलब्ध की जाय। एक परिवार—एक सन्तान के मानक को प्रोत्साहन दिया जाना होगा ताकि जन्म दर कम हो सके। जनसंख्या-नियंत्रण के लिए कानून बनाने पर भी विचार होना चाहिए। कम खर्च के मातृ-शिशु कल्याण कार्यक्रम चलाने होंगे ताकि कुपोषण एवं बीमारी के कारण बच्चों की मृत्यु दर कम की जा सके। सामान्य जन-स्वास्थ्य व्यवस्थाओं में सुधार लाना होगा ताकि आर्थिक रूप से कमज़ोर वर्ग के लोगों के स्वास्थ्य की रक्षा सहज हो सके। बच्चों की मृत्यु दर कम होने पर ही जनसंख्या वृद्धि पर नियंत्रण प्राप्त किया जा सकता है—ऐसी मान्यता समाजशास्त्रियों की है। इसको ध्यान में रखते हुए जन-स्वास्थ्य व्यवस्थाओं में तत्काल सुधार लाना आवश्यक है। अवश्य ही ये व्यवस्थायें खर्चीली न होकर सभी को सहज रूप से उपलब्ध होनी चाहिए।

नारी जागरण एवं नर का उद्दात्तीकरण दोनों ही व्यक्ति निर्माण के कार्यक्रम हैं। स्काउट गाइड की गतिविधियों एवं खेल-कूद तथा कार्यानुभव के अभ्यासों के माध्यम से प्रत्येक विद्यालय में प्रत्येक शिक्षक द्वारा विद्यार्थियों के व्यक्तित्व निर्माण का कार्य सम्पन्न किया जा सकता है। जैसे-जैसे ये गतिविधियाँ बढ़ेंगी और अधिक से अधिक विद्यार्थी इन गतिविधियों से लाभान्वित होंगे वैसे-वैसे हमारे नागरिकों की नई पीढ़ी उन

बुराइयों से मुक्त होगी जिनके कारण भूतकाल में हमारे देश को पराभव का मुँह देखना पड़ा था। इन गतिविधियों द्वारा विद्यार्थियों में प्रकृति प्रेम एवं पर्यावरण संरक्षण की भावना बलवती होगी—ऐसी आशा है। इस प्रकार शिक्षक वर्ग पर ये विशेष ज़िम्मेदारी है कि वे विद्यार्थियों में उन सब संस्कारों का आरोपण करें जिनके प्रभाव से नवयुग के नागरिक तैयार होंगे।

इस प्रकार की पर्यावरण संरक्षण नीति जिसके द्वारा संतुलित विकास की गतिविधियाँ चल सकें यह मांग करेगी कि हमारे प्रशिक्षण संस्थान, इंजीनियरिंग कॉलेज, मेडिकल कॉलेज, उच्च शिक्षा के सभी केन्द्र एवं वैज्ञानिक शोध केन्द्र आदि में ऐसी व्यवस्था की जाय कि जो नयी जनशक्ति तैयार होकर समाज में आ रही है वह इन सिद्धान्तों से भलीभाँति वाकिफ़ हो। इसके लिए यह सुझाव है कि इन केन्द्रों में बुद्धिजीवियों का एक मंच बने जो आज की ज्वलंत समस्याओं पर समय-समय पर विचार करे और उनका व्यवहारिक समाधान भी प्रस्तुत करे तथा साथ ही कुछ न कुछ रचनात्मक कार्यक्रम अपनी क्षमता के अनुसार हाथ में लें। इन विचार क्लबों को "इको रेस्टोरेशन निर्माण क्लब" की संज्ञा दी जा सकती है जिनके द्वारा एक **Social action movement for education and eco-restoration—SAMEER** (सोशल एक्शन मूवमेंट फॉर एजूकेशन एण्ड इको रेस्टोरेशन) 'समीर' नाम का बुद्धिजीवियों का पंचसूत्रीय अभियान चलाया जा सके। पाँच सूत्र इस प्रकार से होंगे। 1—नारी जागरण 2—नर का उद्दात्तीकरण 3—जनसंख्या-नियंत्रण 4—भूमि-जल संरक्षण एवं हरीतिमा-संवर्धन और 5—व्यर्थ पदार्थों का पुनउंपयोग एवं पुनरावर्तन। "समीर" का अर्थ ठण्डी हवा है और यदि इस प्रकार का मलयानिल हमारे प्रशिक्षण केन्द्रों एवं विशिष्ट संस्थानों से समाज की तरफ बहेगा तो निश्चय ही पर्यावरण संरक्षण का वातावरण बनाने में सहयोग मिलेगा। बुद्धिजीवियों और कर्मजीवियों का फासला इससे कम होगा और समाज के कर्मजीवी, बुद्धिजीवियों से प्रेरणा प्राप्त करके अपने कर्म के स्तर को ऊँचा उठा सकेंगे। इससे पूरे समाज की क्रियात्मक शक्ति का विकास भी होगा।

इस सुन्दर वसुन्धरा को विनाश के अंधकूप से उबारने के लिए यदि सोचने-समझने वाले बुद्धिजीवियों की पहल नहीं होती है तो अब यह आवश्यक कार्य और कौन करने वाला है? इसलिए आत्मरक्षा और सबकी रक्षा के लिए बुद्धिजीवियों को आगे आना ही पड़ेगा और कर्मजीवियों से अपनी दूरी कम करनी पड़ेगी। समय तेजी से गुज़र रहा है। वह किसी की प्रतीक्षा नहीं करेगा। अब देखना यही है कि हमारे समाज का बुद्धिजीवी वर्ग किस हद तक अपने दायित्व का अन्जाम देता है। विशिष्ट संस्थानों एवं उच्च शिक्षा के समर्पित फैकल्टी सदस्यों एवं छात्र-छात्राओं के माध्यम से ही यह अभियान शुरू हो सकता है। यह पूरा विश्वास है कि समय की इस पुकार को हमारे देश का बुद्धिजीवी वर्ग नकारेगा नहीं।

संकल्प

शुद्ध वायु, जल, भोजन, दुर्लभ, बढ़ा प्रदूषण का अंधियारा।
प्राकृतिक संसाधन विनशे, अस्त व्यस्त जन जीवन धारा ।।

पर्यावरण अनवरत स्वच्छ हो, ऐसी संरचना करनी है।
धरती के कण-कण में हमको, सुरभित हरियाली भरनी है ।।

आओ मिलकर आज शपथ लें, नव समाज निर्माण करेंगे।
मिल जुल कर बन्धुत्व भाव से, जन-जन का उत्थान करेंगे ।।

नारी में निर्भरता आये ऐसा जागृति-दीप जलायें।
मिले उसे सम्मान, प्रतिष्ठा ऐसी सुन्दर नीति बनायें ।।

कभी न भूलें हम सब, नारी शुचि समाज की है निर्मात्री।
उसको यह अहसास करायें, वह तो सीता, औ' सावित्री ।।

हमें जगानी है मानव की, सोई सी उदात्त भावना।
किसी तरह से धन अर्जित हो रहे न किंचित कलुष कामना ।।

जनसंख्या विस्फोट अनेकों दुष्ट वृत्तियों की जननी है।
सीमित हो परिवार, युक्ति ये मानव-मानस में भरनी है ।।

सर्वोत्तम संतान एक है, सुख समृद्धि का सार यही है।
दो बच्चे यदि हैं तो भी, संतुलित परिवार सही है ।।

पशुओं से भी सीख मिल रही संतति एक योग्य अच्छी है।
एक शेरनी एक बार ही जनती सिंह कथा सच्ची है ।।

व्यर्थ पदार्थ को कर उपयोगी, हम लघु उद्योग लगायें।
हर हाथों को काम मिल सके, आओ मिलकर अलख जगायें ।।

उक्त सूत्रों के प्रतिपादन में तो "समीर" लगा अविरल है।
इको-रेस्टोरेशन क्लब का ये संकल्प अटल अविचल है ।।

□□

पेयजल की व्यवस्था

□ डॉ० रामगोपाल

जल जीवन है। पाँच महाभूतों में से एक है, जिनसे हमारे शरीर की रचना हुई है। जल से ही मनुष्य की उत्पत्ति हुई बताई जाती है। दशावतारों में प्रथम मत्स्यावतार एवं द्वितीय कूर्मावतार उत्तरोत्तर जीवन क्रम के विकास में जलचरों से प्रारम्भ हुए। हमारी सभ्यता का विकास भी नदियों, जलाशयों एवं जलस्रोतों के चतुर्दिक ही हुआ है। जल की सुचारु व्यवस्था ही हमारी सभ्यता को जीवित रख सकती है। प्रकृति ने मानव शरीर में लगभग 70% जल व भूमंडल में भी 70% जल उपलब्ध कराया है। जल जीवन का चरम सत्य है। इस प्रकृति की जल-व्यवस्था को सुदृढ़ कर हमें अपने ग्रह (पृथ्वी) को दीर्घजीवी बनाना है।

पृथ्वी के जलमंडल में कुल मिलाकर 1 460,000.000 घन कि. मी. पानी है। इस सम्पूर्ण उपलब्ध जल का 97.3% जल महासागरों एवं अंतर्देशीय सागरों में एकत्र है तथा 2.7% हिमनदों, वर्फ, मीठे जल की झीलों, नदियों और भूमिगत जल के रूप में है। हिम के रूप में विशेषकर ध्रुवीय पट्टियों में 2% और द्रव्य के रूप में उपलब्ध पेयजल 0.7% में से 0 6% भूमिगत जल और 0.1% मीठे पानी की झीलों, नदियों और जलवाष्प के रूप में है। प्रतिवर्ष सूर्य की गर्मी से समुद्र का 3,40,000 घन कि. मी. जल धरती और आकाश के बीच तैरता रहता है। यह वाष्पित जल बाद में वर्षा, हिम तथा ओलों के रूप में पुनः नीचे बरस पड़ता है। इस जल-चक्र द्वारा उपलब्ध पानी की व्यापक मात्रा के उप-रान्त भी सर्वाधिक सिंचित क्षेत्र चेरापूंजी (औसत वार्षिक सिंचन, 10,000 मि. मी.) भी प्यासा रहता है, जिसका कारण पेयजल की व्यवस्था में दोष है। जीवन की उत्पत्ति से लेकर आजतक जल की मात्रा लगभग स्थिर है। इसका न तो हम विनाश कर सकते हैं और न ही इसमें वृद्धि, पर प्रतिदिन इसे प्रदूषित अवश्य करते जा रहे हैं। फिर भी, किसी सीमा तक प्रकृति में प्रदूषित जल के पुनर्शोधन की व्यवस्था है।

यों तो पृथ्वी पर पेयजल यथेष्ट मात्रा में उपलब्ध है, किन्तु जल के दुरुपयोग, अधिक उपयोग और दुर्व्यवस्था ने अनेक क्षेत्रों में जलाभाव की स्थिति उत्पन्न कर दी है। भूमिगत जल स्रोतों का अत्यधिक दोहन और भूजल व सतही जल का उद्योगों, जल-मल, कृत्रिम उर्वरक, कृमिनाशकों आदि द्वारा प्रदूषण ने इस समस्या को अधिक गंभीर बना दिया

अध्यक्ष, प्रयुक्त रसायन प्रभाग, रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर—342001
समन्वयक (Coordinator), पश्चिमी अंचल-क्षेत्रीय केन्द्र, राष्ट्रीय पेयजल मिशन

है। इनके अतिरिक्त प्राकृतिक विपदाओं, अकाल व असमान वर्षा से, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में, पेयजल की उपलब्धि एक विकट समस्या बन गयी है। महिलाओं को तो पेयजल लाने के लिये प्रति दिन मीलों पैदल चलना पड़ता है। अनेक बार अनेक क्षेत्रों में पेयजल के उपलब्ध न होने पर जैसा भी पानी मिलता है, बिना विचारे पीना पड़ता है। परिणाम चाहे जैसा हो। दूषित जल के प्रयोग से स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्यायें उत्पन्न तो होती ही हैं, बहुत से लोग अकाल ही काल के गाल में समा जाते हैं। वर्ष 1981 में 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' के एक अध्ययन के अनुसार 50,000 लोग प्रतिदिन जलजन्य रोगों के कारण मरते हैं तथा विश्व के लगभग 50% अस्पतालों के बिस्तर इन बीमारियों से ग्रसित रोगी घेरे रहते हैं। पेयजलदाय, जल-मल और मल-निष्कासन व्यवस्था पूरे विश्व में आज भी असंतोषपूर्ण है। लगभग एक तिहाई लोग ही सौभाग्यशाली हैं जिन्हें चिकित्सा सुविधायें प्राप्त हैं, जबकि दो तिहाई जनसंख्या को चिकित्सा सुविधा या तो नगण्य है अथवा अनुपलब्ध।

भारत की स्थिति

विश्व के 2.5% भूभाग को घेरे हुए और 32.9 करोड़ वर्ग कि. मी. क्षेत्र में फैला भारत विश्व का सातवाँ बड़ा देश है। भारत, चीन के बाद, लगभग 83 करोड़ जनसंख्या के आधार पर विश्व का दूसरा बड़ा देश है। विश्व की कुल जनसंख्या के 15.6% व्यक्ति भारत में रहते हैं। बहुमुखी औद्योगिक प्रगति के बावजूद आज भी हमारे लाखों भाई-बहनों को पेयजल सुलभ नहीं है। चीन की तुलना में प्रत्येक वर्ष भारत में 40 लाख अधिक बच्चे उत्पन्न होते हैं और यदि इसी गति से जनसंख्या वृद्धि होती रही तो सन् 2010 में भारत की जनसंख्या चीन से अधिक हो जाएगी। इससे इस बात का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि जल की समस्या कितनी बड़ी समस्या है। वर्तमान दशक में जलदाय और स्वच्छता सुविधाओं की स्थिति सारणी–1 में दर्शायी गयी है।

सारणी–1. भारत में पेयजल और स्वच्छता सुविधाओं की स्थिति

क्षेत्र	लाभान्वित जनसंख्या (%)		
	1981	1985	1990
जलदाय			
नगरीय	72.3	72.9	86.4
ग्रामीण	30.8	56.2	73.2
स्वच्छता			
नगरीय	55.1	28.4	44.7
ग्रामीण	0.5	0.7	1.8

पेयजल की 'सप्लाई' की व्यवस्था करना राज्यों का उत्तरदायित्व है। केन्द्र द्वारा आर्थिक सहायता अथवा निधियाँ 1951 में शुरू हुई पंचवर्षीय योजना के द्वारा राज्यों के बजटों में उपलब्ध कराई गईं। प्रारम्भ में ग्रामीण जलदाय की योजनायें सामुदायिक विकास

कार्यों अथवा स्थानीय विकास कार्यों के अन्तर्गत कार्यान्वित की जाती थीं। तत्पश्चात् 1954 में स्वास्थ्य मंत्रालय के सामाजिक कल्याण क्षेत्र ने राष्ट्रीय पेयजल की समस्याओं से सम्बन्धित कार्य को देखने के लिये गठित अलग विभागों को सौंपना शुरू कर दिया। राज्यों ने शनैः शनैः जन स्वास्थ्य अभियांत्रिकी विभाग बनाये ताकि पेयजल और स्वच्छता की समस्याओं का समाधान किया जा सके। प्रथम चार पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान इस क्षेत्र में हुई वास्तविक भौतिक उपलब्धियों की सही सूचना उपलब्ध नहीं है। भारत सरकार द्वारा चौथी योजना में स्थापित विशेष जाँच पड़ताल प्रभाग एवं राज्यों और केन्द्र शासित क्षेत्रों ने 1.33 लाख समस्याग्रस्त गाँवों का पता लगाया। सन् 1972-73 में केन्द्र सरकार ने राज्यों, केन्द्र शासित क्षेत्रों को त्वरित ग्रामीण जल सप्लाई कार्यक्रम (ARWSP) के अन्तर्गत शत-प्रतिशत अनुदान सहायता दी ताकि इन समस्याग्रस्त गाँवों की पेयजल समस्याओं के समाधान में गति लायी जा सके। सन् 1973-74 में 'न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम' (MNP) को प्रारम्भ करते ही इस कार्यक्रम को 1974-75 में वापिस ले लिया गया और 1977-78 में 'स्वच्छ पेयजल सप्लाई प्रत्याशा' के अनुरूप न होने पर पुनः चालू किया गया। सन् 1978 में 'रोलिंग प्लान' के अन्तर्गत सर्वेक्षण से 2.34 लाख समस्याग्रस्त गाँवों का पता चला।

सन् 1985 में किए गए नये सर्वेक्षण द्वारा समस्याग्रस्त गाँवों का पुनः चयन किया गया और परिणामस्वरूप 1 अप्रैल 1985 को 1.62 लाख गाँव रह गए थे, जिन्हें सातवीं पंचवर्षीय योजना में शामिल किया जाना था। भारत की 80% जनसंख्या गाँवों में निवास करती है। पेयजल व्यवस्था प्रमुखतः गाँवों में केन्द्रित करने हेतु ग्रामीण जल सप्लाई तथा ग्रामीण स्वच्छता कार्य का विषय अगस्त, 1985 में शहरी विकास मंत्रालय से कृषि मंत्रालय के ग्रामीण विकास विभाग में हस्तान्तरित हुआ। ग्रामीण जनता की इस मूल आवश्यकता की पूर्ति करने की इस प्रक्रिया को तेज करने के उद्देश्य से 1986 में 5 सोसाइटल मिशनों में से एक मिशन के रूप में राष्ट्रीय पेयजल मिशन प्रारम्भ किया गया था।

अन्तर्राष्ट्रीय पेयजल और स्वच्छता दशक (International Drinking Water Supply & Sanitation Decade)

विश्व में जल प्रदूषण और पेयजल की उपलब्धि के महत्व पर विचार करने हेतु 1977 में संयुक्त राष्ट्र ने जल सम्मेलन आयोजित किया। इस सम्मेलन ने पहली बार पेयजल तथा स्वच्छता के विषय को अन्य जल मुद्दों से अलग किया और यह सुझाव दिया कि शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों को यदि सम्भव हो, 1990 तक जल उपलब्ध कराने के लिए जल गुणवत्ता तथा मात्रा के वास्तविक मानकों के साथ दशक नीति को अपनाने के कार्यक्रम प्रारम्भ किये जायें। सम्मेलन ने अनुमोदन किया कि प्रत्येक देश जल की अत्यधिक आवश्यकता वाली जनसंख्या को प्राथमिकता देते हुए सामुदायिक जल सप्लाई तथा स्वच्छता हेतु राष्ट्रीय योजनायें तथा कार्यक्रम बनाये। भारत ने भी 1991 तक लक्ष्यों को प्राप्त करने के प्रस्ताव पर हस्ताक्षर किये थे। इसके परिणामस्वरूप 1 अप्रैल 1981 को भारत में जल दशक कार्यक्रम की शुरूआत की गई ताकि 31 मार्च 1991 तक जनसंख्या को 'कवर' करने के वास्तविक लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके। भारत में दशक की शुरूआत

में जल स्थिति की समीक्षा करते समय पेयजल सप्लाई की सुविधाएँ 72.3% नगरीय जनसंख्या व 30.8% ग्रामीण जनसंख्या (सारणी–1) को उपलब्ध थीं, जो कि विकासशील देशों के आँकड़ों, जो विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार 75% नगरीय व 29% ग्रामीण हैं, के अनुकूल हैं।

'संयुक्त राष्ट्र जल सम्मेलन' (1977) में पारित प्रमुख निर्णयों के मुख्य अंश हैं—

(अ) पारित प्रस्ताव

- प्रत्येक धनाढ्य व निर्धन को, जो किसी भी रंग व जाति का हो, अपनी मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये समुचित मात्रा में स्वच्छ पेयजल प्राप्त करने का अधिकार है।
- यह सिफारिश की जाती है कि प्रत्येक राष्ट्र पेयजलदाय और जलमल निष्कासन को प्राथमिकता दे।
- संयुक्त राष्ट्र संघ के सभी सदस्य देशों से अनुरोध किया जाता है कि इस सम्बन्ध में कार्यक्रम बनाये कि किस प्रकार वे 1990 तक नगरीय व ग्रामीण क्षेत्रों में स्वच्छ पेयजल सुलभ करा पाना संभव कर सकेंगे।

(ब) वित्तीय लाभ

- कम अस्वस्थता के कारण कम मानव शक्ति का ह्रास,
- देश में अधिक जनशक्ति की उपलब्धता,
- चिकित्सा व्यय में कमी,
- आय में और वृद्धि, तथा
- अधिक रोजगार।

(स) पर्यावरण लाभ

- स्वच्छ आवास, नगर और ग्राम,
- भू-जल एवं सतही जल का कम प्रदूषण,
- जल-स्रोतों का अधिक अच्छा उपयोग,
- बाढ़ में कमी, और
- भू क्षरण में कमी।

इन कार्यक्रमों के अन्तर्गत पेयजल, एवं जल-मल निष्कासन के कार्यक्रम पिछले वर्षों, विशेषकर पिछले 5 वर्षों, में प्राथमिकता के आधार पर नगरों एवं गाँवों में किये जा रहे हैं। सीवर लाइनों, जलकूप और जलदायों का निर्माण एवं विकास, प्रसार और व्यवसायीकरण भी किया गया है।

पेयजल व्यवस्था एवं राष्ट्रीय पेयजल मिशन

1986 में गठित 'राष्ट्रीय पेयजल मिशन' को सातवीं पंचवर्षीय योजना एक दशक कार्यक्रमों के अंतर्गत 5.83 लाख गाँवों की 52.446 करोड़ जनता को स्वच्छ पेयजल की

सुविधायें जुटाना था। योजना के प्रारम्भिक काल (1985) में भारत में 1,61,722 ऐसे समस्याग्रस्त गाँव थे जहाँ या तो कोई स्वच्छ पेयजल स्रोत उपलब्ध न था या निकटतम जलस्रोत 1.6 कि. मी. दूर था। मिशन ने राष्ट्रीय स्तर पर सम्मेलन, गोष्ठियाँ व कार्यशालायें आयोजित कीं। राज्यों/केन्द्र शासित क्षेत्रों से सर्वेक्षण कराये। देश में उपलब्ध समस्त मिशन एवं तकनीकी जानकारी एकत्र की और समस्याओं के साथ समाधानों से सम्बन्धित विधिवत कार्यक्रम बनाकर उन्हें क्रियान्वित किया।

देश की पेयजल क्षेत्र की समस्त मूल समस्याओं का पता लगाया गया है और उन्हें राज्य सरकारों के लिये उप-मिशनों के रूप में माना गया है ताकि समन्वित वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिकीय तरीकों से लाभ उठाया जा सके। ये उप-मिशन हैं—

1. खारेपन पर नियंत्रण,
2. फ्लोरोसिस पर नियंत्रण,
3. अधिक लौह को दूर करना,
4. गिनीकृमि को दूर करना,
5. वैज्ञानिक जल-स्रोतों का पता लगाना, जल संरक्षण और भूमिगत जल की संपूर्ति, और
6. जल-गुणवत्ता की निगरानी।

इसके अतिरिक्त निम्नलिखित विषयों पर भी विशेष बल दिया गया है—

- परम्परागत तरीकों में सुधार,
- जल का शुद्धीकरण,
- सामग्री तथा डिज़ाइन में सुधार,
- रख-रखाव के तरीकों में सुधार,
- प्रबन्ध सूचना प्रणालियों और प्रक्रियाओं की स्थापना,
- पंचायतों और स्वयंसेवी एजेंसियों के माध्यम समुदाय को सम्मिलित करना, और
- जन जागरूकता अभियान।

ग्रामीण जनसंख्या को स्वच्छ पेयजल उपलब्ध कराने के लिये भारत सरकार त्वरित ग्रामीण जल सप्लाई कार्यक्रम के माध्यम से सदैव उच्च प्राथमिकता देती रही है। निधियों की उपलब्धता के आधार पर अगले दो वर्षों में शेष समस्याग्रस्त गाँवों को कवर करने के भी कार्यक्रम हैं।

गाँवों को जल उपलब्ध कराने के लिये निम्नलिखित मानदण्डों को अंतिम रूप दिया गया है—

(क) मानवीय उपभोग के लिये प्रतिदिन प्रति व्यक्ति 40 लीटर स्वच्छ पेयजल।

(ख) मरुस्थलीय जिलों में पशुओं के लिए प्रतिदिन प्रति पशु 30 लीटर अतिरिक्त जल।

(ग) प्रत्येक 250 व्यक्तियों के लिये एक हैण्डपम्प अथवा स्टैण्ड पोस्ट।

(घ) जल स्रोत 15 लीटर की न्यूनतम गहराई तथा 100 मीटर की ऊँचाई के अंतर पर 1.6 कि. मी. की दूरी पर मौजूद होना चाहिए।

(ङ) उस जल को स्वच्छ जल माना गया है जो जीवाणु प्रदूषण (गिनी कृमि, हैजा, टायफायड) से मुक्त हो और जिसमें रासायनिक तत्व (अधिक फ्लोराइड, खारापन, अधिक लौह, आरसेनिक, नाइट्रेट आदि) मौजूद न हों।

देश में 55 मिनी मिशन ज़िलों का चुनाव किया गया है, जहाँ पेयजल समस्या अति दुष्कर है। उप-मिशन के कार्यक्रमों के अंतर्गत प्रारम्भ में मिनी-मिशन ज़िलों में कार्यक्रम प्रारम्भ कर दिये गये थे। इनके अन्तर्गत निम्नलिखित जल सर्वेक्षण एवं शोधन कार्यक्रम हाथ में लिये गये हैं—

(क) लौह दूर करने वाले संयंत्रों की स्थापना 11,780
(ख) फ्लोराइड दूर करने के संयंत्र 130
(ग) जल-गुणवत्ता जाँच प्रयोगशालाएँ 83 (स्थिर) और 17 (चल)
(घ) खारापन दूर करने के संयंत्र 130
(ङ) गिनी कृमि दूर करना (स्टेप कुँओं को स्वच्छ कुँओं में बदलना) 5,578

इसके अतिरिक्त पेयजल व्यवस्था की सुविधाएँ सुलभ कराने में सोलर फोटोवोल्टिक पम्पिग प्रणालियाँ, रिग निष्पादन, वैज्ञानिक रूप से जल-स्रोतों का पता लगाना आदि सम्मिलित हैं।

जल मिशन की उपलब्धियाँ

कुल 5,83,003 गाँवों में से छठी योजना तक 4,21,281 गाँव कवर किये गये थे। 1 अप्रैल 1985 को बकाया 1,61,722 गाँवों में से सातवीं योजना में 1,55,371 गाँव कवर कर लिये गये हैं। आठवीं योजना में कवर किये जाने वाले गाँवों की संख्या 6,351 में से 1990-91 में 4,014 गाँव कवर करने का लक्ष्य है।

मूल आवश्यकता

गाँवों में प्रचलित जल-संग्रह, जलवायु एवं स्वच्छता से सम्बन्धित पद्धतियों पर यदि दृष्टि डालें तो हमें अभी भी जन-जागरूकता में कमी मिलेगी। इसे प्राथमिक तौर पर शिक्षा तथा जन-जागरूकता कार्यक्रमों द्वारा पूरा किया जा सकता है। ऐसी शिक्षा जलदाय कार्यक्रमों के अपेक्षित सामुदायिक भागीदारी की आवश्यक माँग को पूरा करेगी। शिक्षा-कार्यक्रमों में पेयजल व्यवस्था सम्बन्धी सूचनाओं और ज्ञान का समावेश होना चाहिए। स्वास्थ्य विभाग और जन स्वास्थ्य अभियांत्रिकी विभाग के बीच आपसी तालमेल से स्थिति में सुधार की आशा की जाती है।

जल का उपयोग तथा अधिक दोहन

जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि, शहरीकरण, औद्योगिक विकास, ड्रिलिंग तकनीकों व ग्रामीण विद्युतीकरण में सुधार और कृषि उपयोग के लिये भू-जल की माँग के परिणामस्वरूप पिछले चार दशकों के दौरान समस्त भारतीय उप-महाद्वीप में भू जल का अधिक

दोहन हुआ है। जल स्तर नीचे चले जाने की सम्भावना बढ़ रही है। गुजरात व राजस्थान के अनेक शुष्क क्षेत्रों में इस अत्यधिक दोहन के भीषण परिणाम सामने आने लगे हैं। पानी नीचे चला गया है व खारा हो गया है। वनस्पतियों की वृद्धि में गिरावट आई है और मरुस्थल बढ़ने की तैयारी हो गई है। पेयजल पर इसका भारी प्रभाव पड़ा है। उर्वरकों एवं कृमिनाशकों के अंधाधुन्ध उपयोग ने भी पेय भू-जल को प्रदूषित किया है।

भू-जल कानून

इन समस्याओं पर विचार करने एवं भावी आवश्यकताओं को देखते हुए जल संसाधन मंत्रालय द्वारा जून 1989 को एक कार्यदल बनाया गया जिसकी अब तक 2 बैठकें हुई हैं। इसके अंतर्गत भू-जल कानून से संबंधित प्रावधानों को प्रदूषण नियंत्रण अधिनियम में सम्मिलित किये जाने की संभावना है। भू-जल को एक अनिवार्य वस्तु की श्रेणी में रखते हुए अनिवार्य वस्तु अधिनियम में भी संशोधन करने की संभावना है।

पेयजल गुणवत्ता परीक्षण एवं सर्वेक्षण

भारत में पेयजल व्यवस्था कार्यक्रमों के अन्तर्गत जल मिशन ने 5 क्षेत्रीय केन्द्रों का गठन किया है। ये क्षेत्रीय केन्द्र संबंधित राज्यों एवं केन्द्र शासित क्षेत्रों में स्थापित जिला स्तरीय प्रयोगशालाओं को तकनीकी सहयोग, प्रशिक्षण, जन-जागरूकता कैम्प, प्रांतीय एवं क्षेत्रीय समन्वय, सर्वेक्षण, नीति-निर्धारण आदि के अतिरिक्त अन्य मिशन कार्यक्रमों को लागू करेंगी। क्षेत्रीय केन्द्र और उनसे सम्बन्धित प्रदेशों का विवरण सारणी—2 में दिया गया है।

सारणी—2, जल मिशन द्वारा नामांकित क्षेत्रीय केन्द्र

क्रमांक अंचल	प्रांत/केन्द्र शासित क्षेत्र	क्षेत्रीय केन्द्र
1. पूर्वी एवं उत्तर पूर्वी अंचल	अंडमान-निकोबार द्वीप समूह, पश्चिम बंगाल, सिक्किम, आसाम नागालैण्ड, मणिपुर, त्रिपुरा, मेघालय, अरुणाचल, और मिजोरम	आल इंडिया इंस्टीट्यूट ऑव हाइजीन एण्ड पब्लिक हेल्थ, 110, चितरंजन एवेन्यू, कलकत्ता (प. बं.)
2. उत्तरी अंचल	जम्मू कश्मीर, पंजाब, हरियाणा, हिमांचल, उत्तर प्रदेश, दिल्ली और चंडीगढ़	इण्डस्ट्रियल टॉक्सीकोलॉजिकल रिजर्व इंम्टीट्यूट, पो. बा. नं 80, लखनऊ (उ. प्र.)
3. पश्चिमी अंचल	राजस्थान, गुजरात, दमन और दिउ	रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर (राजस्थान)
4. केन्द्रीय अंचल	महाराष्ट्र, गोवा, दादर, नगर हवेली, म. प्र. और आंध्र प्रदेश	भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र, ट्राम्बे, बंबई
5. दक्षिणी अंचल	केरल, तमिलनाडु, कर्नाटक पांडिचेरी, और लक्षद्वीप	श्री जयचामर राजेन्द्र कॉलेज ऑव इंजीनियरिंग, मैसूर (कर्नाटक)

रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर शुष्क क्षेत्रों के जल-स्रोतों के सर्वेक्षण का कार्य अबाध गति से कर रही है। अनुसंधान एवं विकास कार्यक्रमों के अंतर्गत राजस्थान मरुभूमि और बर्फीले प्रदेशों के जलों को स्वच्छ पेयजल के रूप में उपलब्ध कराने की दिशा में जल-परीक्षण एवं शोधन किटों एवं जल-निर्लवणीकरण उपकरणों का विकास किया गया है। इनका सैनिकों के अतिरिक्त अन्य नागरिक जल मिशन के माध्यम से उपयोग कर रहे हैं। पेयजल गुणवत्ता जाँच एवं जन-जागरूकता पर रक्षा प्रयोगशाला सरकारी एवं समाजसेवी कार्य-कर्ताओं का प्रशिक्षण मिशन कार्यक्रमों के अंतर्गत करती है।

ग्रामीण पेयजल व्यवस्था के क्षेत्र में भारत की उपलब्धि को देखते हुए संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (UNDP) ने इस विषय पर अगला विश्व सम्मेलन सितम्बर 1990 में दिल्ली में आयोजित करने का निर्णय लिया है। अगले दशक की नीति भारत में तय की जायेगी और दिल्ली घोषणा को नवम्बर, 1990 में संयुक्त राष्ट्र की महासभा में प्रस्तुत किया जायेगा। अगले दशक में पेयजल व्यवस्था के बारे में विकासशील देशों में जल नीति तय करने में भारत निश्चय ही एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करेगा।

□□

दूषित जलजन्य रोग

□ डॉ॰ अन्जू शर्मा

यह तो सर्वविदित है कि जल मानव जीवन का आधार है। जल बिना जीवन सम्भव ही नहीं है, परन्तु मानव स्वास्थ्य का भी जल से सीधा सम्बन्ध है। स्वास्थ्य के लिए सुरक्षित पेय जल आवश्यक है। विशेष रूप से विकासशील देशों में, जिनमें भारत भी शामिल है, जनसंख्या का एक बड़ा भाग दूषित जल के कारण उत्पन्न होने वाले रोगों की चपेट में आ जाता है। हमारे देश के अधिकांश ग्रामीण क्षेत्रों में अभी तक पीने के लिए सुरक्षित साफ़ जल उपलब्ध नहीं है और इन क्षेत्रों के निवासी नदियों, तालाबों, झीलों, कुओं आदि का पानी प्रयोग करते हैं जिसकी उचित देखरेख नहीं की जाती तथा परिणाम-स्वरूप अनेक प्रकार की बीमारियों के शिकार होते हैं। पीने योग्य सुरक्षित जल को रोग-जनक कारकों से मुक्त, हानिप्रद रासायनिक पदार्थ रहित एवं अच्छे स्वादयुक्त होना चाहिए। जल को दूषित उस स्थिति में कहा जाता है जब उसमें हानिकारक सूक्ष्मजीव उपस्थित हों अथवा विषैले रसायन मिले हों या किसी अन्य प्रकार की गन्दगी पड़ी हो। दूषित जल के माध्यम से मानव स्वास्थ्य को सर्वाधिक हानि पहुँचाने वाले कारण रोगजनक सूक्ष्मजीव ही हैं और इनके आधार पर दूषित जल-जन्य रोगों को पाँच प्रमुख वर्गों में बाँटा गया है।

1. **विषाणुजन्य रोग** : जैसे कि विषाणुज यकृतशोथ, पोलियो आदि।
2. **जीवाणुजन्य रोग** : इस वर्ग में हैज़ा, टायफॉयड, पेचिस, अतिसार आदि रोग सम्मिलित हैं।
3. **प्रोटोज़ोआजन्य रोग** : उदाहरण के लिए अमीबीरुग्णता, जियार्डिया रुग्णता आदि।
4. **कृमिजन्य रोग** : जैसे कि गोल कृमि, कशा कृमि, सूत्र कृमि इत्यादि के कारण उत्पन्न होने वाले रोग, हाइडेटिड रोग।
5. **लेप्टोस्पाइरा रुग्णता** : वेल्स रोग।

विषाणुज यकृतशोथ

विषाणुज यकृतशोथ उत्पन्न करने वाले चार प्रकार के विषाणुओं की पहचान की जा चुकी है, ये हैं यकृतशोथ ए विषाणु, बी विषाणु, नॉन ए—नॉन बी, तथा डेल्टा विषाणु।

अनुसन्धान अधिकारी, प्रकाशन एवं सूचना प्रभाग, भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसंधान परिषद्, अंसारी नगर, नई दिल्ली—110029

भारतवर्ष में विषाणुज यकृतशोथ की व्यापकता काफ़ी अधिक है और प्रभावित क्षेत्रों में ग्रामीण तथा शहरी दोनों ही प्रकार के क्षेत्र शामिल हैं। दूषित जल के कारण फैलने वाला विषाणुज यकृतशोथ मुख्यतः नॉन-ए नॉन-बी बिषाणुजन्य पाया गया है, परन्तु शेष तीन प्रकार के यकृतशोथ की घटनाएँ भी देखी गई हैं। ए-विषाणुज यकृतशोथ अत्यधिक संक्रामक होता है। संक्रमण का प्रमुख स्रोत मनुष्य ही है। रोगी के मल, रक्त तथा अन्य देह द्रवों में विषाणु उपस्थित रहते हैं। रोग के चिकित्सीय लक्षण प्रकट होने से लगभग एक सप्ताह पूर्व ही व्यक्ति के मल के साथ विषाणु निकलने लगते हैं, तथा रोग ठीक होने के उपरांत भी लगभग एक मास तक विषाणु मल के साथ उत्सर्जित होते रहते हैं। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जब ये विषाणु किसी अन्य स्वस्थ व्यक्ति के शरीर में प्रवेश करते हैं तो वह भी रोग ग्रस्त हो जाता है। रोगजनक विषाणु का संचरण दूषित भोजन, दूषित जल अथवा रोगी के सीधे सम्पर्क में आने पर हो सकता है। अधिक घनी बस्तियों में जहाँ मल निपटान की उचित व्यवस्था न हो अथवा खुले स्थानों में मल त्याग किया जाता हो, ऐसे क्षेत्रों में इस रोग का प्रकोप अधिक भयावह हो उठता है। रोगी का मल किसी भी माध्यम से जब प्रयोग किए जाने वाले जल तक पहुँचता है तो रोग का संक्रमण निश्चित हो जाता है। रोग से बचाव का सबसे बेहतर उपाय यही है कि व्यक्तिगत स्वच्छता को प्राथमिकता दी जाए, भोजन से पहले तथा मल विसर्जन के पश्चात् हाथों को ठीक प्रकार से धोया जाए, मल निपटान की उचित व्यवस्था पर विशेष ध्यान दिया जाए तथा स्वास्थ्य शिक्षा को यथोचित महत्व प्रदान किया जाए।

बी-विषाणुज यकृतशोथ देश में यकृतशोथ की लगभग 30 प्रतिशत घटनाओं के लिए उत्तरदायी है। विषाणु के शरीर में प्रवेश करने के पश्चात् कभी-कभी 6 सप्ताह से लेकर 6 माह के बाद वास्तव में रोग प्रकट होता है। बीच की अवधि में रोगी को अपनी वाहक अवस्था का ज्ञान ही नहीं होता। इस रोग को फैलाने में भी केवल मनुष्य का ही हाथ है। विषाणु संचरण संक्रमित रक्त, सीरम तथा अन्य देह द्रवों के माध्यम से होता है।

नॉन-ए नॉन-बी विषाणुज यकृतशोथ भारत में सर्वप्रथम कश्मीर घाटी में पहचाना गया था, तथा अब यह रोग पूरे देश में व्याप्त है। दूषित जल के प्रयोग से इस रोग का संचरण तीव्रता से होता है।

पोलियो

पोलियो एक विषाणुजन्य रोग है जिसका प्रकोप सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है, परन्तु विकासशील देशों में इसकी व्यापकता अधिक है। पोलियो बचपन का रोग है और हमारे देश में पोलियो का आक्रमण अधिकतर बच्चों में पाँच वर्ष से पहले की आयु में होता है। पोलियो के लिए उत्तरदायी विषाणु तीन प्रकार के हैं, टाइप 1, टाइप 2 एवं टाइप 3 इस रोग में भी संक्रमण का एक मात्र स्रोत मनुष्य ही है। मनुष्य के मल तथा मुखग्रसनी स्राव द्वारा ही यह संक्रमण फैलता है। पोलियो विषाणु का प्रसार दूषित जल, भोजन, दूध एवं दूषित हाथों के माध्यम से होता है। स्वच्छता के अभाव में संचरण तीव्रता से होता है। रोग की उग्र स्थिति में रोगी के छींकने तथा खाँसने पर भी विषाणु बाहर निकलते हैं। पोलियो से बचाव के उत्तम उपाय हैं व्यक्तिगत स्वच्छता रखना, मल निपटान की उचित

व्यवस्था होना, स्वच्छ सुरक्षित पेय जल उपलब्ध होना तथा बच्चों को पोलियो वैक्सीन दिलवाना।

हैजा

हैज़ा एक उग्र अतिसारी रोग है जो **विब्रियो कॉलरा** नामक जीवाणु से फैलता है। हैज़े के रोगी को बार बार पतले दस्त आते हैं तथा वमन होता है, जिससे शरीर में तेज़ी से पानी की कमी हो जाती है। इसे निर्जलन की अवस्था कहते हैं। मांशपेशियों का दर्द तथा मूत्र का न आना इसके अन्य लक्षण हैं। यदि रोगी के शरीर में शीघ्र ही पानी तथा लवण न पहुँचाए जाएँ तो स्थिति घातक हो सकती है। हैज़ा एक प्राचीन रोग है और इसका वर्णन पुराने ग्रन्थों में भी मिलता है। हैज़ा ऐसे किसी भी क्षेत्र में महामारी फैला सकता है जहाँ स्वच्छता का अभाव हो। संक्रमण का प्रमुख स्रोत दूषित जल है। रोगी के वमन एवं मल में जीवाणु भारी संख्या में उपस्थित होते हैं। रोगी के पतले मल में जीवाणुओं की संख्या लगभग $10^7 - 10^9$ जीवाणु प्रति मिलीलीटर तक हो सकती है और आमतौर पर रोगी प्रतिदिन 10-20 लीटर पतला मल विसर्जित करता है। इस प्रकार जीवाणुओं की एक बहुत बड़ी संख्या वातावरण में आ जाती है और मुख्यत: जल के माध्यम से अन्य व्यक्तियों तक पहुँचती है। एक स्वस्थ व्यक्ति के शरीर में रोग के लक्षण प्रकट करने हेतु सामान्यत: 10^{11} जीवाणुओं का शरीर में प्रवेश आवश्यक होता है।

हैज़े का प्रकोप स्त्री तथा पुरुष दोनों पर समान रूप से होता है। यह रोग किसी भी उम्र में हो सकता है। भीड़-भाड़ वाले स्थानों में जैसे कि तीर्थ स्थान, मेले, विवाह आदि में हैज़े की घटनाएँ अधिक होती हैं, क्योंकि बहुत से ऐसे वाहक व्यक्ति जिनमें रोग के लक्षण नहीं होते तथा स्वास्थ्य लाभ कर रहे रोगी जिनके मल में जीवाणु उत्सर्जित हो रहे हों, भीड़ में उपस्थित होते हैं, और सफाई की उचित व्यवस्था नहीं होती। दूषित जल के उपयोग के कारण हैज़े का प्रकोप अधिकतर निम्न आर्थिक स्तर वाले समुदाय में ही अधिक होता है। हैज़ा फैलाने में सामान्य मक्खियों का भी योगदान माना गया है। मल से जीवाणु मिट्टी और पानी में पहुँचते हैं, अत: फल तथा सब्ज़ियों को बिना ठीक प्रकार धोए खाने से भी हैज़ा हो सकता है।

पतले दस्त के कारण रोगी के शरीर में पानी कम हो जाता है। उसे बार-बार बहुत अधिक प्यास लगती है तथा पैरों एवं पेट में दर्द होता है। निर्जलन के कारण रोगी की आँखें धँस सी जाती हैं, गाल पिचक जाते हैं, शरीर का तापमान सामान्य से कम हो जाता है, हाथ की त्वचा में झुर्रियाँ सी पड़ जाती हैं, नब्ज़ धीमी हो जाती है, तथा श्वसन भी अनियमित हो जाता है। तुरन्त उपचार न होने पर इस अवस्था में रोगी की मृत्यु हो सकती है।

टायफॉयड एवं पैराटायफॉयड ज्वर

टायफॉयड एवं पैराटायफॉयड ज्वर आन्त्र ज्वर के अन्तर्गत आते हैं। आन्त्र ज्वर उन सभी विकासशील देशों में व्याप्त हैं जहाँ आज भी मल निपटाने के पुराने तरीके प्रयोग किए जाते हैं। यह एक संक्रामक रोग है जिसे उत्पन्न करने वाले जीवाणु **साल्मोनेला टायफी**

तथा **साल्मोनेला पैराटायफी** ए एवं बी हैं। जीवाणु का एक मात्र परपोषी मनुष्य है। रोगियों के अतिरिक्त समुदाय में अनेक व्यक्ति रोगवाहक भी होते हैं जिनके शरीर में जीवाणु तो होते हैं परन्तु रोग के लक्षण नहीं होते। जीवाणु मल तथा मूत्र के साथ उत्सर्जित होते हैं तथा खुले स्थानों पर विसर्जित किया गया मल संक्रमण का प्रमुख स्रोत है। नदियों, नहरों कुओं, तालाबों आदि के पानी में इस प्रकार की गन्दगी उड़ कर अथवा वर्षा आदि के जल के साथ बह कर पहुँच जाती है और इस दूषित जल का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों में रोग का कारण बनती है।

यूं तो टायफॉयड किसी भी आयु के स्त्री अथवा पुरुष को हो सकता है परन्तु 30 वर्ष की आयु के बाद इसकी घटनाएँ कम देखी गई हैं। ऐसा सम्भवतः समय के साथ शरीर में प्रतिरक्षा विकसित होने से होता है। वैसे तो यह रोग वर्ष में कभी भी फैल सकता है परन्तु जुलाई से सितम्बर के बीच इसकी सम्भावना अधिक बढ़ जाती है जिसमें वर्षा एवं मक्खियों की बढ़ी संख्या का प्रमुख योगदान होता है। रोग के जीवाणु जल में प्रजनन तो नहीं करते, परन्तु ये जल में लगभग एक सप्ताह तक जीवित रह सकते हैं तथा ठण्डे जल में इनका जीवन और अधिक सुरक्षित हो जाता है। अतः पीने के लिए केवल साफ सुरक्षित जल का प्रयोग करने से आन्त्र ज्वर के प्रसार को एक सीमा तक रोका जा सकता है।

पेचिश

पेचिश की व्यापकता पूरे विश्व में पाई गई है परन्तु विकासशील देशों में इसका प्रकोप कुछ अधिक है। रोग के फैलने का प्रमुख कारण मल त्याग के बाद हाथों का ठीक प्रकार से न धोया जाना तथा मल निपटान की उपयुक्त व्यवस्था का न होना पाया गया है। इस प्रकार के मल से दूषित जल रोग को जन्म देने में सहायक बनता है। पेचिश मुख्यतः दण्डाणुओं अथवा अमीबा संक्रमण के कारण होती है। हल्की पेचिश में रोगी को दो चार दस्त आते हैं, पेट में दर्द होता है तथा मल के साथ रक्त एवं श्लेष्म आता है। रोग की उग्र स्थिति में अधिक बार दस्त आने, ज्वर, सिरदर्द तथा मांसपेशियों के दर्द की शिकायत होती है।

अतिसार

अतिसार दूषित जल के माध्यम से फैलने वाला एक सामान्य रोग है जिसकी व्यापकता भी विकासशील देशों में ही अधिक है। अधिकांश घटनाओं में रोगजनक कारक **ई० कोलाई** होता है। रोगी को बार-बार पतले दस्त आते हैं तथा वमन भी होता है। पेट में दर्द होता है तथा रोगी कमजोरी महसूस करता है।

अमीबारुग्णता

अमीबारुग्णता एक परजीवी **एण्टअमीबा हिस्टोलिटिका** के कारण उत्पन्न होने वाला रोग है तथा संक्रमित होने वाले प्रत्येक व्यक्ति में रोग के लक्षण प्रकट नहीं होते। एशिया तथा अफ्रीका महाद्वीप में यह रोग प्रमुख जन स्वास्थ्य समस्या बना हुआ है। ऐसा अनुमान है कि विश्व की लगभग 10 प्रतिशत जनसंख्या अमीबारुग्णता से प्रभावित है।

दूषित वातावरण एवं स्वच्छता के अभाव वाले क्षेत्रों में इसकी व्यापकता 50 प्रतिशत तक भी हो सकती है।

एण्टअमीबा हिस्टोलिटिका सामान्यतः वृहदान्त्र में निवास करता है। इस परजीवी के दो प्रकार पहचाने गए हैं, एक तो वे जिनके ट्रोफोजोआइट छोटे होते हैं (10-20 माइक्रॉन व्यास) तथा दूसरे "आक्रामक" अमीबा जिनके ट्रोफोजोआइट बड़े (50 माइक्रॉन व्यास तक) होते हैं। इनके सिस्ट अथवा पुटी किसी भी प्रकार के प्रतिकूल वातावरण से प्रभावित नहीं होते तथा विपरीत परिस्थितियों में भी महीनों जीवित रह सकते हैं। सिस्ट पानी में पड़े रह सकते हैं परन्तु पानी उबालने पर, क्लोरीन मिलाने पर अथवा पराबैंगनी किरणों से ये तुरन्त मर जाते हैं। रोगी तथा लक्षणहीन वाहक के मल के साथ सिस्ट उत्सर्जित होते हैं जो संक्रमण के प्रसार के लिए उत्तरदायी हैं।

अमीबारुग्णता किसी भी आयु में हो सकती है। जब किसी परिवार का कोई एक व्यक्ति इसका शिकार होता है, तब शेष भी धीरे-धीरे इससे संक्रमित हो सकते हैं। यह भी आवश्यक नहीं कि **अमीबा** के सम्पर्क में आने वाला प्रत्येक व्यक्ति रोग ग्रस्त हो जाए। व्यक्ति की प्रतिरक्षा क्षमता, शोषणज स्तर, व्यक्तिगत आदतें, शरीर में **अमीबा** की संख्या आदि भी इस प्रक्रिया पर प्रभाव डालते हैं। रोग ठीक होने के पश्चात भी कभी-कभी वर्षों तक उस व्यक्ति के मल के साथ सिस्ट निकलते रहते हैं। मक्खियाँ, कॉकरोच, चूहे आदि भी सिस्ट वाहक हो सकते हैं। रोगियों के मलयुक्त जल से सिंचाई करके उगाई गई सब्जियाँ आदि भी यदि ठीक प्रकार से साफ़ करके प्रयोग न की जायें तो **अमीबा** सिस्ट का स्रोत बन सकती हैं। पानी को उबाल कर तथा छान कर पीने से काफी सीमा तक इस बीमारी से बचा जा सकता है। प्रकोप की आशंका वाले क्षेत्रों में फल एवं सब्जियों को विसंक्रामक घोल से धो कर ही खाना चाहिए।

जियार्डिया रुग्णता

जियार्डिया रुग्णता भी दूषित जलजन्य रोगों में से एक है। इसके लिए उत्तरदायी प्रोटोज़ोआ **जियार्डिया लैम्बलिया** है। यह रोग भी विश्व सभी भागों में देखा गया है परन्तु उष्णकटिबन्धीय देशों में इसकी बहुतायत है। यह परजीवी विशेष रूप से बच्चों को अपना शिकार बनाता है। रोगी को पतले दस्त आते हैं तथा पेट में दर्द और बेआरामी महसूस होती है। थकावट, पेट फूलना, अपच, पतली दस्त आदि इसके अन्य लक्षण हैं। इसके सिस्ट भी रोगी के मल के साथ उत्सर्जित होते हैं।

कृमिजन्य रोग

दूषित जल के कारण होने वाले कृमि रोगों में गोल कृमि, सूत्रकृमि तथा कशा कृमि संक्रमण प्रमुख हैं। नर व मादा कृमि अलग-अलग होते हैं। गोल कृमि के नर व मादा दोनों ही परपोषी की आँत में रहते हैं। इनका जीवन-चक्र जटिल होता है तथा इसे पूर्ण करने के लिए मनुष्य के अतिरिक्त एक अन्य परपोषी भी आवश्यक होता है जो कि रोगवाहक का कार्य भी करता है। रोग वयस्क कृमि अथवा इसके माइक्रोफिलेरी के कारण हो सकता है। माइक्रोफिलेरी रक्त एवं ऊतकों में पहुँच जाते हैं तथा इओसिनरागी कोशिका बहुलता

(इओसिनोफीलिया) को जन्म देते हैं। कृमि के अण्डे मल के साथ बाहर निकलते हैं और सफ़ाई के अभाव में पानी में पहुँचकर पूरे समुदाय को प्रभावित भोजन के साथ मानव शरीर में प्रवेश करते हैं।

सूत्रकृमि के भी नर-मादा कृमि अलग-अलग होते हैं, तथा मादा की लम्बाई नर से अधिक होती है। मादा परपोषी की गुदा के समीप अण्डे देती है और ये अण्डे मल के साथ बाहर निकलते हैं। कभी-कभी मल के साथ वयस्क कृमि भी बाहर निकलते हैं परन्तु दूसरे व्यक्तियों में संक्रमण केवल अण्डों से ही फैलता है।

इस वर्ग का एक अन्य कृमि कशाकृमि है। वयस्क कृमि 3-5 से० मी० लम्बा होता है तथा कोड़े के समान मुड़ा हुआ सा होता है। इसके हल्के संक्रमण की स्थिति में अधिकतर लक्षण प्रकट नहीं होते, परन्तु तीव्र संक्रमण होने पर बार-बार दस्त आते हैं। यह संक्रमण बच्चों में अधिक फैलता है।

हाइडेटिड रोग

यूँ तो यह रोग सारे विश्व में पाया जाता है परन्तु दक्षिण अमेरिका, मध्य पूर्वी देशों, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड आदि में इसकी बहुलता है। मानव में इसका संक्रमण बहुधा बचपन में ही होता है। रोग के लक्षण कई वर्षों तक प्रकट नहीं होते। इस रोग के लिए उत्तरदायी जीव फीताकृमि (टेपवर्म) है जिसके जीवन-चक्र को पूर्ण होने के लिए दो परपोषी आवश्यक हैं। इनमें से एक परपोषी तो मानव है, और दूसरा मवेशी अथवा सूअर होता है। शरीर के किसी भी अंग में पुटी अथवा सिस्ट बन जाती है जिसका आकार कभी-कभी एक गेंद के बराबर भी हो सकता है। सिस्ट में द्रव भरा होता है और अनेक फीताकृमि शीर्ष होते हैं। इस रोग का कोई अत्यधिक विशिष्ट उपचार नहीं है और वैसे भी वर्षों तक रोग का ज्ञान नहीं होता। अतः यह आवश्यक है कि बचाव के उपाय अपनाए जायें। अधिकतर रोगियों को इसका संक्रमण सूअर का अधपका मांस खाने से होता है, परन्तु संक्रमित सब्ज़ियों, फलों एवं जल के प्रयोग से भी संक्रमण हो सकता है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि अनेक प्रकार की घातक बीमारियों के संक्रमण का माध्यम दूषित जल है। इनमें से अनेक बीमारियाँ प्रतिवर्ष लाखों लोगों की मृत्यु का कारण बनती हैं। अतः इनसे बचाव के लिए दूषित जल के प्रयोग को पूर्णतः समाप्त करना आवश्यक है।

□□

बड़े बाँध : बड़ा विकास या बड़ा विनाश

□ डॉ० रमेश दत्त शर्मा

मानव-सभ्यता के विकास की कहानी नदियों से जुड़ी है। सिंधु घाटी की सभ्यता से लेकर सुमेरिया, बेबीलोनिया, और मिस्र की प्राचीन सभ्यताएँ इसकी प्रमाण हैं। श्रीलंका में अनुराधापुर और कम्बोडिया (प्राचीन कम्बोज) में अंकोर बाट में मिले नहरों, बाँध और सरोवरों के अवशेष हमारे पूर्वजों की जलयांत्रिक प्रतिभा को पुष्ट करते हैं। नहरें तो और भी बनाते रहे, पर सरोवर बनाने में भारत सबसे आगे था और विश्व के पहले तालाब अब से लगभग दो हज़ार साल पहले भारत में ही बनाए गए। लेकिन आज के विशाल बाँध देखकर हमारे पुरखे भी अचरज में डूब जायेंगे। अतरिक्ष से धरती पर झाँकने पर विशाल बाँध ही साफ़ दिखाई पड़ते हैं। मिट्टी हटाने वाली 2-2 हज़ार टन भारी दैत्याकार मशीनो, कंकरीट-प्रौद्योगिकी और अरबों डॉलर के कर्ज़ में डुबोने वाली विश्व बैंक जैसी संस्थाओं ने बड़े बाँध बनाने को दुनिया के सबसे बड़े कमाऊँ धंधों में शामिल कर दिया है।

मिस्र में नील नदी पर बनाया गया आस्वन बाँध सबसे विशाल पिरामिड से भी सत्रह गुना भारी है। घाना में बोल्टा का बाँध 8,500 वर्ग किलोमीटर के तालाब को भी डुबो दे, इतना बड़ा है। इस वर्ष 1990 तक दुनिया भर में 150 मीटर से अधिक ऊँचे बाँधों की संख्या 113 तक पहुँच जाने का अनुमान है। इनमें से 49 बाँध पिछले दस सालों में ही बनकर पूरे हुए होंगे। सन् 1970 तक विश्व में 100 से 1000 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र वाले 260 मानव निर्मित जलागार थे और 40 ऐसे थे, जिनका क्षेत्र 1000 वर्ग किलोमीटर से भी अधिक था। इन जलागारों में उपलब्ध 4000 घन किलोमीटर पानी "धरती के वायुमण्डल के एक तिहाई पानी" के बराबर है। अभी तो इनसे भी बड़ी बाँध-योजनाओं के नक्शे बन रहे हैं, जिनमें से किसी में पूरी नदी का पाट बदला जाना है, या नदी को उसकी घाटी से हटाकर दूसरी घाटी में डालना है या फिर नदी की धारा को पूरी तरह उलट देने जैसे यांत्रिक कमाल दिखाये जाने हैं।

गोदी में खेलती हैं जिसकी हज़ारों नदियाँ

भारत में सिंधु नदी का जलग्रहण क्षेत्र 4,68,068 वर्ग किलोमीटर, गंगा का 10,50,000 वर्ग किलोमीटर तथा ब्रह्मपुत्र का 5,80,000 वर्ग किलोमीटर है। इसका कुछ हिस्सा उधर पाकिस्तान में और इधर बंगलादेश में चला जाता है। मध्य भारत की नर्मदा, महानदी, गोदावरी और कृष्णा नदी बड़े विशाल क्षेत्र में फैली हुई हैं। कुल मिलाकर 14 बड़ी नदियाँ 20 हज़ार वर्ग किलोमीटर से बड़े जलग्रहण क्षेत्र की अधिष्ठात्री हैं।

प्रधान संपादक 'खेती', भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, कृषि अनुसंधान भवन, पूसा, नई दिल्ली—110012

2 हज़ार से 20 हज़ार वर्ग किलोमीटर जल ग्रहण क्षेत्र वाली 45 मझोली नदियाँ हैं और 13 छोटी नदियाँ और हैं।

भारत की इस विशाल जल-सम्पदा का सर्वेक्षण सबसे पहले जल-आयोग ने सन् 1902-1903 में किया था। उस समय सभी नदियों में पानी का वार्षिक बहाव कुल मिलाकर 1443 वर्ग किलोमीटर कूता गया था। सन् 1945-46 में केन्द्रीय जल तथा बिजली आयोग के संस्थापक अध्यक्ष **डॉ० एन० एन० खोसला** ने सतलुज और महानदी का अध्ययन करके एक सूत्र निकाला, जिसके अनुसार सभी भारतीय नदियों की वार्षिक बहाव दर 1673 वर्ग किलोमीटर बताई गई।

इस तरह दुनिया भर की नदियों में पानी की वार्षिक दर का 4.9% भारत के हिस्से में पड़ता है उपलब्ध जल की कुल मात्रा के हिसाब से कनाडा, चीन, रूस और ब्राज़ील के बाद भारत का पाँचवाँ नम्बर आता है। लेकिन जलसंख्या अ धक होने के कारण प्रतिव्यक्ति जल-उपलब्धता भारत में 1988-89 के आँकड़ों से 2.58 हज़ार घन मीटर प्रति वर्ग बैठती है। सबसे अधिक प्रति व्यक्ति जल आइसलैंड में उपलब्ध है—685,48 हज़ार घन मीटर प्रति व्यक्ति प्रति वर्ग। लेकिन आइसलैंड में उपलब्ध वार्षिक जल-मात्रा 170 घन किलोमीटर है, जबकि भारत में है— 850 घन किलोमीटर।

इन नदियों को बाँधने का सिलसिला अंग्रेजों ने ही शुरू कर दिया था। सन् 1700 में राजस्थान की आरल बानस नदियों पर "उदय सागर", 1730 में इसी राज्य की गोमती-माही नदी पर "जय समंद", 1879 में महाराष्ट्र में मूठा नदी पर "खड्गवा-सला" और 1892 में ताँसा नदी पर तांसा बाँध बने। तमिलनाडु में 1897 में पेरियार बाँध, महाराष्ट्र में 1926 में प्रवर नदी पर विल्सन बाँध (बाद में भंडारधारा), 1931 में आंध्र प्रदेश में निज़ाम सागर, 1934 में तमिलनाडु में कावेरी पर मेत्तूर-स्टेनली बाँध अंग्रेज़ों ने तैयार कराये। स्वतंत्रता के दस वर्ष बाद सन् 1957 में उड़ीसा में महानदी पर हीराकुंड बाँध बना। सन् 96. में महाराष्ट्र में अम्त्री नदी पर पनशेट बाँध बनकर तैयार हुआ। सतलज पर भाखड़ा बाँध गोविन्दसागर) सन् 1963 में बना। सन् 1972 में गुजरात में तापी नदी पर उकाई बाँध बनाया गया। सन् 1974 में केरल में पेरियार नदी पर इदुकी बाँध बना। उसी वर्ष आन्ध्र प्रदेश में कृष्णा नदी पर नागार्जुन सागर और हिमाचल प्रदेश में व्यास नदी पर पोंग बाँध बनकर तैयार हुआ। सन् 1975 में मध्य प्रदेश में तवा नदी पर तवा बाँध, 1976 में महाराष्ट्र में पावना पर पावना बाँध और 1978 में उत्तर प्रदेश में रामगंगा पर रामगंगा बाँध बना। इसी वर्ष गुजरात में मच्छू नदी पर मच्छू बाँध और मध्य प्रदेश में नर्मदा पर बार्गी बाँध तथा गुजरात में करजन नदी पर करजन बाँध बने। इस तरह कुल मिलाकर भारत में करीब 100 मुख्य बाँध बनाए जा चुके हैं, जिनका कमांड क्षेत्र 10 हज़ार हेक्टेयर प्रति बाँध से अधिक है। पहली बार सन् 1769 में अंग्रेज़ों ने यमुना नदी से नहरें निकालकर "पानी" को "सरकारी" बनाया था। पहला कंकरीट निर्मित बाँध कावेरी पर सन् 1863 में बना था—अपर एनीकट।

बाँध बनाने के घोषित उद्देश्य और बाँधों से बँधी समस्यायें

बाँध बनाने के घोषित उद्देश्य शुरू से ही लुभावने रहे हैं। दुनिया में हर साल लगभग एक लाख घन किलोमीटर वर्षा होती है। इसका 30-40% पानी समुद्रों में बह जाता है। दो तिहाई वर्षा जल बाढ़ पैदा करता है। बाँध बनने से वर्षा जल की बरबादी रोककर बाढ़ की समस्या से भी निपटने का वादा किया गया। भारत में बाढ़ नियंत्रण कार्यक्रम सन् 1953 में शुरू किया गया। सन् 1979 तक इस पर 975 करोड़ रुपया बहाया गया। लेकिन न तो बाढ़ से होने वाली विनाश में कमी आई और न उसकी विकरालता में। प्रसिद्ध विकासविद् श्री **बी० बी० बोहरा** के अनुसार बाँध वगैरह बनाकर "हम बाढ़ रोकने का वहम् पालने के सिवा कुछ नहीं कर रही।" वर्षा-जल को बचाने में भी बाँधों की भूमिका संदिग्ध रही, विशेष रूप से उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों में। उदाहरण के लिए भारत के अनेक गरमी वाले इलाकों में 300 से० मी० पानी प्रतिवर्ष भाप बनकर उड़ जाता है। विशाल क्षेत्र में एकत्र जल से वाष्पीकरण भी उसी मात्रा में अधिक होता है। मिस्र में नासर झील से हर वर्ष कम से कम 15 अरब घन मीटर पानी वाष्पीकृत हो जाता है, जिसे बचाया जा सकता तो 20 लाख एकड़ में सिंचाई की जा सकती थी। बाँधों में तलछट जमा होने की दर कूती गई दर से पाँच गुनी तक बढ़ी है और वर्षाकाल में बाँध ही बाढ़ के कारण बन जाते हैं।

जहाँ पहले ज़मीन थी, वहाँ विशाल क्षेत्र में बाँध का जलाशय बनाकर सम्पूर्ण स्थलीय पारिस्थितिक तंत्र को जलीय तंत्र में बदल देने से पर्यावरण बदलना शूरू हो जाता है। भरे-ठहरे पानी में शैवाल और जलीय खरपतवार उग आते हैं, जो पानी की बरबादी का कारण बनते हैं। खुले पानी के बजाय इस बंद पानी में दुगनी से लेकर छह गुनी तक पानी की बरबादी होती है। अकेली जलकुंभी (**इकोर्निया क्रेस्पीपेस**) ही इतनी तेज़ी से फैलती है कि एक हेक्टेयर में दिन भर में 1 8 टन निर्जल भार के बराबर बायोमास पैदा कर देती है। 4600 किलोमीटर लम्बी कांगो नदी में 1600 किलोमीटर में जलीय खर-पतवार छा गये थे। मिस्र की नासर झील की 80 प्रतिशत नहरों में जलीय खरपतवारों की एक किस्म पनप गई थी। सूडान में 3000 वर्ग किलोमीटर जल-क्षेत्र को खरपतवारों ने घेर लिया।

बिजली की चकाचौंध

बड़े बाँध बनाने के पीछे एक बड़ा तर्क है पन बिजली पैदा करने का। इस समय दुनिया भर में 1,23,000 मैगावाट पनबिजली के लिए बड़े बाँध बन रहे हैं। इस समय दुनिया भर में नदियों पर बाँध बनाकर 1,300 मैगावाट घण्टा बिजली प्रति वर्ष जुटाई जा रही है। अगर तमाम नदियों की पनबिजली क्षमता का दोहन किया जाये तो इसे 73,000 टेरावाट-घण्टा तक बढ़ाया जा सकता है। पनबिजली को बेहद सस्ता भी बताया जाता है। सन् 1973 में विश्व स्तर पर प्रति किलोवाट 300 से 400 डॉलर खर्चा आ रहा था, जो अब बढ़कर 1 हज़ार डॉलर प्रति किलोवाट हो गया है। फिर भी यह ताप बिजलीघर और परमाणु बिजली घर से कम है।

लेकिन पनबिजली के लिए यह कतई ज़रूरी नहीं है कि बड़े-बड़े बाँध ही बनाए जायें। छोटे बाँध बनाकर भी पनबिजली पैदा की जा सकती है। छोटे-छोटे कई बाँध बनाये जा सकते हैं।

कृषि के लिए सिंचाई

बड़े बाँध बनाकर उनमें से नहरों के द्वारा खेतों की प्यास बुझाने और पैदावार बढ़ाने के भी बड़े-बड़े दावे किए गए हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि पानी फ़सल की जान है। सिंचाई मिलते ही चुकंदर और दलहनी फ़सलों की उपज पाँचगुनी से आठगुनी तक बढ़ गई और चारे वाली फ़सलों में तो नौ-दस गुनी पैदावार बढ़ी है। सबसे अच्छा उदाहरण है जापान का। यहाँ खेती की सारी ज़मीन में सिंचाई की सुविधा है। जापान में एक आदमी की रोजाना की 2500 कैलोरी ऊर्जा की जरूरत पूरी करने के लिए आवश्यक आहार केवल 0.045 हेक्टेयर जमीन से पैदा किया जा सकता है। जबकि इतना ही अन्न जुटाने के लिए अमेरिका में इससे दुगनी और भारत में सात गुनी ज़मीन की ज़रूरत पड़ेगी। अभी विश्व की खेती योग्य भूमि के लगभग 13 प्रतिशत क्षेत्र में ही सिंचाई की सुविधा उपलब्ध हो पाई है। इस समय लगभग 2500 लाख हेक्टेयर सिंचित भूमि है विश्व में, जो 21वीं सदी के शुरू तक 3500 लाख हेक्टेयर तक पहुँच सकती है।

भारत में सिंचाई क्षमता अभी 8 करोड़ हेक्टेयर के करीब हो पाई है, जिसे बढ़ाकर 11 करोड़ टन अनाज पैदा कर रहे हैं, जिसे बढ़ती आबादी के लिए सन् 2 हज़ार में लगभग 24 करोड़ टन तक पहुँचाना होगा।

गीले रेगिस्तान

लेकिन अब तक बड़े बाँधों से सिंचाई की क्षमता बढ़ाने का अनुभव कुल मिलाकर बड़ा कटु रहा है। बड़े बाँधों ने "गीले रेगिस्तान" बना दिए हैं यानी जललग्न (वाटर लॉग्ड) क्षेत्र। यहाँ पानी ऊपर आने के साथ ही नमक सहित तमाम तरह के लवण भी ऊपर आ गए हैं। लवणीहता और क्षारीयता दोनों तरह की समस्या बढ़ने से, जो ज़मीनें कभी खूब उपजाऊ थीं, वे बड़े बाँधों और उनसे निकली बड़ी-बड़ी नहरों के आसपास रेतीली, कल्लर या बंजर हो गई हैं और यह समस्या बढ़ती जा रही है। उदाहरण के लिए हरयाणा में 44,222 वर्ग किलोमीटर जमीन में से 12,000 वर्ग किलोमीटर में नहरों से सिंचाई होती है। इनमें से 6 हज़ार वर्ग किलोमीटर यानी करीब आधे सिंचित क्षेत्र में जल-लग्नता की समस्या पैदा हो गई है। जब पानी ज़मीन से डेढ़ मीटर नीचे से लेकर 2.1 मीटर नीचे तक आ जाय तो यह स्थिति जल लग्नता की मानी जाती है। बरसात के दिनों में तो यह हाल हो जाता है कि समस्याग्रस्त ज़मीनों में हाथ से खोदो और पानी निकाल लो। हिसार में स्थित कृषि विश्वविद्यालय की एक प्रयोगशाला ही पानी ऊपर आ जाने से फर्श बेकार हो जाने के कारण नष्ट हो गई।

सिंचाई क्षमता बढ़ाने का खर्चा भी बराबर बढ़ रहा है। पाँचवीं योजना काल तक एक हैक्टेयर भूमि के लिए सिंचाई सुविधा उपलब्ध कराने पर करीब दस हज़ार रुपये की

लागत आती थी। अब तो यह 25 रुपये प्रति हैक्टेयर से ऊपर जा पहुँची है—कहीं-कहीं 40 हज़ार प्रति हैक्टेयर तक।

बाँध और नहरें बनाने का काम इंजीनियर करते हैं, जिन्हें हरे-भरे खेत, चहकते-महकते गाँव और भरे-पूरे जंगल डुबोने में तनिक भी हिचक नहीं होती। हिसाब लगाया गया है कि सन् 1951 से 1976 तक ही नदी घाटी योजनाएँ लगभग 49 लाख हैक्टेयर हरा भरा जंगल लील गईं। कुल मिलाकर अनुपात यह निकला है कि अगर 100 लाख हेक्टेयर ज़मीन में सिंचाई पहुँचानी है, तो 10 लाख हेक्टेयर से ज़्यादा जंगल डुबोने होंगे।

सिंचाई-क्षमता बढ़ाने से यह भी जरूरी नहीं कि अनाज-उत्पादन के लक्ष्य पूरे हो जाएँ। योजना आयोग के अनुसार सिंचित क्षेत्रों से प्रति हेक्टेयर औसतन 4-5 टन अनाज पैदा होने की आशा की गई थी, जबकि औसतन 1.7 लाख प्रति हेक्टेयर ही अनाज पैदा हो पा रहा है। लगभग 40% पानी तो ज़मीन में रिसकर नष्ट हो जाता है और फ़सल को नहीं मिल पाता। सिंधु नदी से करीब 80 हज़ार छोटी-बड़ी नहरें 320 लाख एकड़ ज़मीन में 32 लाख खेतों तक पानी पहुँचाती हैं। परन्तु कुल 1680 लाख एकड़ फुट पानी का 310 लाख एकड़ फुट ही फ़सल की सिंचाई के काम आ पाता है।

बड़े बाँध : बीमारियों के स्रोत

बड़े बाँधों में विशाल जल राशि इकट्ठी होने से तमाम तरह के कीड़े-मकोड़े, जीवाणु फफूँदी आदि परजीवी पैदा होते रहते हैं। मलेरिया परजीवी ही हर साल करीब 16 करोड़ लोगों को अशक्त बनाने और दस लाख मौतों के लिए ज़िम्मेदार हैं। **एनाफिलीज** मच्छर की 300 जातियों में से 40 मलेरिया परजीवी को फैलाने की दोषी पाई गई हैं। इस मच्छर को नमी चाहिए, जो सिंचाई योजनाओं ने उपलब्ध करा दी है। एक और रोग भी बड़े बाँधों की देन है। शिस्टोसोमियासिस। 1977 में दुनिया भर में 20 करोड़ लोग इसकी चपेट में आ गये थे। करीब 71 देशों में यह रोग फैल चुका है। मीठे पानी के घोंघे की देह में **शिस्टोसोम** नामक चपटे कृमि (फ्लेटवर्म) का लार्वा पलता है। यह **सर्केरिया लार्वा** आदमी की त्वचा में छेद करके खून में और फिर जिगर, फेफड़े, बड़ी आँत, यहाँ तक की दिमाग़ में भी पहुँच सकता है। 35 साल के जीवन-चक्र में **शिस्टोसोम** की मादा हर रोज़ अंडे देती है। हाथीपाँव फाइलेरियोसिस या एटीफेटियोसिस का परजीवी भी सिंचाई योजनाओं के क्षेत्र में खूब फला-फूला है। इसकी मुख्य जाति **बुकरेरिया बैंक्रोफ्टी** (***Wuchereria bancrofti***) के कारण बाँह, टाँग, जननांग और स्तन भीमकाय हो जाते हैं। सन् 1977 में लगभग 25 करोड़ लोग—पूरे रूस की आबादी के बराबर—फाइले-रियोसिस के शिकार हो गये थे।

एक और भयंकर रोग है ओंकोसर्कियोसिस। इसका तो प्रचलित नाम ही है—रिवर ब्लाइण्डनेस यानी नदी-अंधता, क्योंकि मध्य और दक्षिण अमेरिका तथा अफ्रीका की नदी घाटियों में यह लाखों लोगों को अपना शिकार बना चुका है। अकेली वोल्टा नदी की घाटी में करीब 70 हज़ार लोग फाइलेरिया वर्ग के ही **ओंकोसर्केटा वोल्वुलस** परजीवी के कारण अंधे हो चुके हैं। इसे सिमुलिडी वर्ग की काली मक्खियाँ फैलाती हैं। यह मक्खी

पानी में ही अंडे देती है। कुछ नदी घाटियों में तो इसके कारण तीस प्रतिशत से अधिक आबादी की आँखों की रोशनी जाती रही है। काली मक्खी को नियंत्रित करने के अतिरिक्त इस रोग का कोई उपचार नहीं। जब कीटनाशी दवा छिड़की गई तो मक्खी के लार्वा को खाने वाले कीट भी मर गए और काली मक्खी की संख्या और भी बढ़ गई। फिर यह मक्खी 500 किलोमीटर तक उड़ान भरती देखी गई है। एक जगह मारी गईं, तो दूसरी जगह से आ धमकीं।

ज़मीन से उखड़े लोग

बड़े बांध बनाने के लिए विशाल क्षेत्र में सैकड़ों गाँव और बस्तियाँ डुबोई जाती हैं। वहाँ की आबादी कहीं और बसाई जाती हैं। और मिट्टी से कटे ये लोग हमेशा के लिए उजड़ जाते हैं। इनकी उपजाऊ ज़मीनें डुबोकर बदले में उन्हें अक्सर बंजर ज़मीनों में रोपा जाता है। अच्छी-भली ज़मीन अभी बची ही कहाँ है। इन विस्थापितों के बारे में किए गए अध्ययन आँखें खोलने वाले हैं। जाम्बिया में "करीबा बाँध" बनाने के लिए 50 हज़ार टोंगा आदिवासियों को ऐसी जगह ले जाकर राहत-कैम्पों में बसा दिया, जहाँ त्सी-त्सी मक्खी ने उन्हें "निद्रा रोग" में फँसा दिया। बहुत-से फ्लू के शिकार हो गए। नागरिक सुविधाओं के अभाव में गोलकृमि और हुकवर्म जैसे परजीवियों की बन पड़ी। अतिसार, आंत्रशोथ, हैज़ा, गिनीवर्म, निमोनिया, पीलिया और तपेदिक जैसे रोग भीड़-भाड़ के कारण आ जमे। फिर एक साथ नए चेहरे आ जुड़ने से और आर्थिक दबाव बढ़ने से रतिरोगों में भी बढ़ोतरी हुई। नील नदी पर आस्वन बाँध बना तो 120 हज़ार लोग उखाड़े गए। घाना में बोल्टा बाँध ने 700 नगर और गाँवों के 78 हज़ार नागरिकों को विस्थापित किया; टर्की के केवान बांध से 30 हज़ार, और वियतनाम की पा मोंग परियोजना से 450,000 लोग अपनी ज़मीन से कट गए। अक्सर इन लोगों को भेड़ों के रेवड़ की तरह खदेड़ कर कहीं भी ले जाकर पटक दिया जाता है। भारत में तो लाल फीताशाही, ठेकेदार और अफसरों का सड़ांध भरा गठजोड़ और ऊपर से भ्रष्ट नेता, ये सब मिलकर विस्थापितों के पुनर्वास के नाम पर ऐसा घालमेल करते हैं कि गरीबों के परिवार ठोकरें खाते दर-बदर भटकते रहते हैं। गुजरात में कोयना बांध सन् 1961 में बनकर पूरा हुआ और बीच में एक बार भूकम्प के कारण फटकर कोहराम भी मचा चुका, पर उसके 35 हज़ार विस्थापितों में से 3 हज़ार सन् 1985 तक "ज़मीन के बदले ज़मीन" पाने के लिए इंतज़ार कर थे। विस्थापितों के लिए बनाकर देने के बजाय नकद रकम थमा दी गई। उनका ज़्यादातर पैसा यात्रा, ढुलाई और पेट भरने में ही खप गया। आंध्र प्रदेश में कृष्णा नदी पर बने श्री शैलभ बाँध ने लगभग 100 गाँवों के 21 हज़ार परिवारों के करीब एक लाख लोग उखाड़ डाले। यहाँ भी नकदी बँटी। बड़े और धनी किसान ज़मीन और मकान दोनों के लिए रकम ले उड़े, जबकि गरीबों का पेट काटा गया। इनमें से 95% अपढ़ थे, जिन्हें भूमि-अधिग्रहण कानून का 'क, ख, ग', भी नहीं मालूम था। पुलिस के जोर पर उनसे जबरन गाँव खाली कराये गये।

नर्मदा और गंगा पर विनाश की छाया

इस समय के बहुचर्चित नर्मदा सागर बाँध से 10,516 परिवार प्रभावित होंगे।

कुल 91,348 हेक्टेयर जमीन डूबेगी, जिसमें से 40,332 हेक्टेयर में हरे-भरे जंगल हैं और 44,363 हेक्टेयर में खेत। कुल मिलाकर 1 लाख 30 हज़ार लोग विस्थापित होंगे, जिनमें से 30,000 जनजातियों के हैं। नर्मदा सागर से ही जुड़ा हुआ दूसरा विवादास्पद बाँध है सरदार सरोवर। यह काम्बे की खाड़ी से 95 किलोमीटर दूर नवगाम के निकट गुजरात में बनाया जाएगा। अमेरिका के "ग्रैण्ड कूली" बाँध के बाद यह विश्व का सबसे बड़ा कंकरीट निर्मित बाँध होगा। इससे लगभग 43 हज़ार किलोमीटर लंबी नहरें निकाली जाएँगी। इस बाँध पर 6,404 करोड़ रुपये खर्च होने का अनुमान है। इस बाँध में पानी का स्तर 460 फुट यानी 140.21 मीटर रखा जाएगा। यह बाँध 39,134 हेक्टेयर ज़मीन डुबोयेगा। इसमें से 13,744 हेक्टेयर भूमि में वन हैं। इस बाँध के कारण 66,675 लोग (1981 के जनगणना के अनुसार) विस्थापित होंगे। ये लोग इस समय बाँध के डूब क्षेत्र में बसे 237 गाँवों में रहते हैं। इनमें से 48,240 यानी 72% अनुसूचित जातियों और जनजातियों के सदस्य हैं।

नर्मदा नदी मध्य प्रदेश के शहडोल ज़िले में स्थित मैकाल गिरिमाला की समुद्र तल से 1051 मीटर ऊँची अमरकंटक पहाड़ी से निकलकर पश्चिम में 1312 किलोमीटर बहती हुई, गुजरात की काम्बे खाड़ी के समुद्र में जा मिलती है। इस पर छोटे-छोटे छह बाँध पहले से बने हैं—अपर नर्मदा, राधवपुर, रोसरा, बासनिया, बार्गी, चिंकी। अब नर्मदा सागर और उसी से लगे ओंकारेश्वर तथा महेश्वर और आखिरी गुजरात वाले छोर पर सरदार सरोवर बाँध बनाने की योजना है।

हमारे पुराणों में "नर्मदा" को भारत का हृदय और आत्मा तथा भागीरथी गंगा को भारत का सिर और हाथ बताया गया है। इधर नर्मदा पर दो विशाल बाँध बनाने के साथ ही भागीरथी पर टिहरी बाँध बनाने की योजना चल रही है।

टिहरी बाँध का विचार सन् 1949 में पनपा, जब विकास की कोई स्पष्ट रूपरेखा नहीं थी और बड़े-बड़े बाँध बड़े-बड़े कारखाने वगैरह को ही काम समझने का ज़माना था। टिहरी बाँध के लिए 1961 से पड़ताल शुरू हुई। सन् 1976 में उत्तर प्रदेश सरकार ने स्वीकृति दी। तभी से विरोध शुरू हुआ। सन् 1977 में संसद की समीक्षा-समिति बनी, जिसकी रिपोर्ट पेश नहीं हो पाई, क्योंकि तब तक (1979) संसद भंग हो चुकी थी। टिहरी के स्वतन्त्रता सेनानी **श्री वीरेन्द्र दत्त सकलानी जी** तथा सुप्रसिद्ध पर्यावरण-प्रहरी **श्री सुन्दरलाल बहुगुणा** के नेतृत्व में टिहरी बाँध का विरोध प्रखर होता गया और एक विशेषज्ञ समिति को जाँच का काम सौंपा गया।

इस समिति ने अपनी अंतरिम रिपोर्ट मई 1980 और अंतिम रिपोर्ट 1986 में पेश की। इसके आधार पर अक्टूबर, 1986 में वन और पर्यावरण मंत्रालय ने फैसला किया कि टिहरी परियोजना रद्द कर दी जाए। लेकिन नवम्बर 1986 में रूस से समझौता हुआ कि इस परियोजना के लिए रूस 10,000 लाख रूबल की सहायता देगा और जनवरी 1987 में पुनर्विचार करके पुराना फैसला पलटा गया और तय किया कि पर्यावरण सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करके बाँध बनाया जाए। अतः फिर विरोध तेज़

हुआ । सन् 1985 में ही बाँध के खिलाफ सर्वोच्च न्यायालय में याचिका दायर की गई थी । उस पर अभी तक कोई निर्णय नहीं हुआ । **डॉ० राय कमेटी** और **डॉ० भूमला समिति** ने बाँध रद्द करने की सिफारिश की, परन्तु फिर भी एक और कमेटी बनाकर बाँध बनाने का फैसला किया गया । पर्यावरण मंत्रालय में नया मन्त्री लाकर स्वीकृति प्राप्त की गई । लेकिन अभी (सितम्बर 1990) योजना आयोग ने और संसद ने स्वीकृति नहीं दी है ।

टिहरी और नर्मदा तथा सरदार सरोवर के निर्माण का ठेका वस्तुतः एक ही ठेकेदार के हाथ में है । अरबों रुपये की कमाई के लालच में ठेकेदार+इंजीनियर+नेता ये तिगड़ी गंगा और नर्मदा की हत्या पर तुले हुए हैं । टिहरी बाँध 260.5 मीटर ऊँचा होगा । टिहरी का पुराना शहर और 112 गाँव डूबेंगे । लगभग 80 हज़ार लोग विस्थापित होंगे । जिस समय बाँध बनाया जा रहा है, वह भूकम्प-क्षेत्र है । सुप्रसिद्ध भूविज्ञानी **डॉ० हर्ष गुप्ता** ने बाँधों के कारण आये भूकम्पों पर विशेष अनुसंधान किए हैं । उनका कहना है कि टिहरी बाँध बनाने से भूकम्प की आशंका बढ़ जाएगी और बाँध के जीवन काल (40 से 60 वर्ष) में एक बार 7 से 8 रिक्टर का भूकम्प आवश्य आएगा । प्रसिद्ध पर्यावरणविद् **डॉ० शिवाजी राव** ने हिसाब लगाया है कि टिहरी बाँध फटा तो 3-4 घण्टे में ऋषिकेश से प्रयाग तक गंगा के आसपास बसे सभी नगर, बस्तियाँ, गाँव; खेत, कारखाने डूब जाएँगे । और दिल्ली भी नहीं बचेगी ।

बड़े बाँध और भूकंप

बड़े बाँधों और भूकंपों का ख़तरनाक रिश्ता वैज्ञानिकों के सामने पिछले दशक में ही स्पष्ट हुआ । जब से बड़े-बाँध बने तभी से हर साल उनमें से एक प्रतिशत किसी भी कारण से दुर्घटनाग्रस्त होते रहे हैं । सन् 1889 में 23 मीटर ऊँचा जोंसटाउन बाँध अमेरिका में पेंसिल्वेनिया में फटा था, तो 2 हज़ार लोगों को उस मानव निर्मित प्रलय में जान गँवानी पड़ी । दिसम्बर 1976 में 95 मीटर ऊँचा टेटोन बाँध फटा और 14 लोगों की जान गई और लगभग 100 करोड़ डॉलर का माल डूबा । दक्षिण फ्रांस में फ्रेजस के निकट माल्पासेट बाँध 2 दिसम्बर 1959 को फटा, जिसमें 421 लोगों की मौत हुई । पेरू का ताबलाचाका बाँध वर्षा काल में पहले प्रति दिन एक मिलीमीटर की गति से धसक रहा था । सन् 1983 से इसके धसकने की गति 70 मिली मीटर प्रतिदिन हो गई । अब यह सोचा जा रहा है कि लगभग 100 करोड़ डॉलर की लागत से बाँध के ऊपर एक करोड़ घनमीटर मिट्टी खोद कर बाँध चौड़ा किया जाए ।

बड़े बाँध के कारण भूकंप की आशंका बढ़ती है, यह भेद सन् तीसादिक में अमेरिका के "लेक मीड" बाँध-क्षेत्र में भूकंप आने पर खुला । इसके बाद साठादिक में चार बाँधों के क्षेत्र में भूकंप आये । चीन में 1967 में 6.1 रिक्टर का भूकंप ह्मीनफेंगकियांग बांध में, जिम्बावे में करीबा बाँध में 1963 में 5·8 रिक्टर का, ग्रीस में क्रेमास्टा बाँध में 1966 में 6·3 रिक्टर का और भारत में कोयना बाँध में 1967 में 6·5 रिक्टर का । इनमें से चीन और भारत के बांध फट गये । इटली में सन् 1963 में दुनिया का पहला पहाड़ी "वैयोंत बाँध" फटा था (संभवतः भूकंप आने से) और 2 हज़ार से अधिक लोगों की मौत

हुई थी। सन् 1979 में बाढ़ के कारण भारत का माचू-II बाँध ढह गया और 1500 लोगों को अपने साथ ले डूबा। फ्रांस के भूकंप विज्ञानी। **प्रोफेर जोन पियरे** की किताब **"मैन मेड अर्थक्वेक्स"** (मानव निर्मित भूकंप) में दुनिया भर के तमाम बड़े और मझौले बाँधों के आँकड़े देकर सिद्ध किया गया है कि इन सभी बाँधों के बनने के बाद उनके आस-पास के क्षेत्र में भूकंप के झटके बढ़े हैं। भारत के कोयना बाँध के बारे में तो उनका कहना है कि वह दक्षिण की जिस पट्टी पर बना है, वह तो भूविज्ञानिक दृष्टि से बड़ी सुरक्षित थी। फिर भी वहाँ लगातार भूकंप के झटके दर्ज किये गये, जो बाँध बनने के कारण ही आये।

सारी दुनिया में विरोध

"इकोलोजिस्ट" पत्रिका के विद्वान संपादक **श्री एडवर्ड गोल्ड स्मिथ** से लेखक मिला था। उनकी पुस्तक "द सोशल एण्ड एन्वायरनमेण्टल इफेक्ट्स ऑव लार्ज डैम्स" पठनीय है। इसमें बताया गया है कि बड़े बाँध बनाना "पानी" से नहीं आग से खेलना है। अपने देश में नई दिल्ली में 71 लोदी एस्टेट में स्थित इनटेक संस्थान ने **डॉ० विजय परांजपे** द्वारा भारत के बड़े बाँधों पर विस्तृत समीक्षा-ग्रन्थ लिखवाकर छापे हैं। आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा मानवीय पक्ष तथा वैज्ञानिक आधार पर भारत में ही नहीं दुनिया भर में बड़े बाँधों का विरोध किया जा रहा है। उनकी जगह छोटे बाँध, गैस पर आधारित बिजलीघर, सौर ऊर्जा आदि सैकड़ों विकल्प हैं, जिनसे बिना किसी को उसकी ज़मीन से काटे, बिना किसी को डुबोये और बिना विदेशी कर्ज लादे विकास के लक्ष्य प्राप्त किये जा सकते हैं।

फिर भी सरकारें बड़े बाँध बनाने पर क्यों तुली हैं? बड़ा बाँध सोने की खान होता है। टिहरी बाँध का खर्च शुरू में 192·92 करोड़ रुपया बताया गया था। अब 400 करोड़ से ज़्यादा तो सड़क, ठेकेदार और इंजीनियरों की कोठियाँ और मज़दूरों के क्वार्टर तथा नींव वगैरह पर ही खर्च हो चुका है। खुदाई करके एक किलोमीटर दूर डालनी थी। लेकिन मिट्टी वहीं पटक दी गई है। बाद में वहाँ से एक किलोमीटर दूर मिट्टी ढोने का टेंडर 12 करोड़ रुपयों में मंजूर किया गया। कई बार तो कागज़ पर ही मिट्टी खोदी जाती है और बह जाती है। करोड़ों की इस कमाई को कोई भी सरकार कैसे हाथ से जाने देगी? विकास का तो बहाना होता है बस। बड़े बाँधों के बिना भी विकास के बेशुमार रास्ते हैं। इधर पर्यावरण संबंधी समस्याओं ने विकास के बारे में भोगवादी वृत्ति के विपरीत नई दृष्टि भी विकसित की है। गरीब देशों को विश्व बैंक के जरिए अरबों डॉलर देकर कर्जा में डुबोने और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के द्वारा उनकी प्राकृतिक सम्पदा का दोहन और राष्ट्रीय अस्मिता का चीरहरण—इन सब षडयंत्रों पर से पर्दा उठ रहा है।

हमारा सौभाग्य है कि इस देश में **बाबा आम्टे,** और सुन्दरलाल बहुगुणा जैसे महापुरुष वर्तमान हैं। बाबा आम्टे नर्मदा सागर और सरदार सरोवर के डूब क्षेत्र में जा बसे हैं और बहुगुणा जी टिहरी बाँध के डूब क्षेत्र में। दोनों ने फैसला कर लिया है कि पहले उनको डुबोये तब बनाये। इतनी मदांधता किसी सरकार में नहीं है, जो वर्तमान भारत के इन महान शलाका-पुरुषों के शवों पर बड़े-बाँध बनाये। फिर अब तो आदिवासी जैसे अपढ़ लोग भी जागृत हो गये हैं। सैकड़ों आम्टे और हज़ारों बहुगुणा विकास के नाम पर हो रहे विनाश के विरोध में उठ खड़े होंगे। □□

धरती के रक्षा-कवच को ख़तरा

□कु० स्मृति दुबे

ओज़ोन ऑक्सीजन के तीन अणुओं से बनी जीवन रक्षक गैस है, जो पृथ्वी को एक नाज़ुक पर्दे की भाँति लपेटे हुये है और इस ग्रह की तथा इसके वासियों की सूर्य की घातक पराबैंगनी किरणों से सुरक्षा कर रही है। इसे जीवन सहायक इसलिये माना जाता है क्योंकि इसमें कम तरंग दैर्ध्य (वेव लेन्थ) का प्रकाश, जो कि 300 नैनोमीटर से कम हो, को अपने में अवशोषित करने की अद्भुत क्षमता है। जहाँ पर वातावरण में ओज़ोन उपस्थित नहीं होगी, वहाँ सूर्य की हानिकारक पराबैंगनीं किरणें पृथ्वी पर पहुँचने लगेंगी। ये किरणें मनुष्य सहित समस्त जीव-जन्तुओं और वनस्पतियों के लिये हानिकारक हैं। ओज़ोन पृथ्वी से 60 किलोमीटर की ऊँचाई पर पायी जाती है। पृथ्वी से यह दूरी स्ट्रेटोस्फीयर कहलाती हैं। यह 8 किलोमीटर ध्रुवों से लेकर 17 किलोमीटर विषुवत्‌रेखा तक फैली हुयी है। अगर यह सारी ओज़ोन पृथ्वी की सतह पर एकत्र की जाय, तो हमें मात्र 3 मिलीमीटर मोटी ओज़ोन की एक पर्त प्राप्त होगी। परन्तु इस पतली पर्त का पृथ्वी के निकट होने पर, प्रभाव निश्चित् रूप से हानिकारक होगा।

जब पराबैंगनी किरणें ऑक्सीजन के एक अणु पर प्रहार करती हैं तो फोटॉन उस अणु को दो अत्यधिक क्रियाशील भागों में विभक्त कर देता है। ये भाग शीघ्रता से ऑक्सीजन के एक सम्पूर्ण अणु से क्रिया करके ओज़ोन की रचना करते हैं, अतः हम कह सकते हैं कि ओज़ोन की रचना ऑक्सीजन के प्रकाश-रासायनिक परिवर्तन से होती है, तथा यह क्रिया जितनी अधिक तीव्रता से होगी उतनी ही अधिक मात्रा में ओज़ोन गैस का निर्माण होगा। परन्तु बहुत से रसायन जो हमारे उद्योगों के फलस्वरूप प्राप्त होते हैं, ओज़ोन बनाने की क्रिया को कम करते हैं, तथा इसके अणुओं के टूटने का कारण बनते हैं। इनमें क्लोरोफ्लोरोकार्बन्स, जिन्हें संक्षप्ति रूप में सी० एफ० सीज़ भी कहते हैं, तथा नाइट्रस ऑक्साइड सहित वे सभी गैसें (लगभल 40) हैं जिनमें क्लोरीन, ब्रोमीन और फ्लोरीन विद्यमान होती हैं।

क्लोरोफ्लोरोकार्बन्स यानी सी० एफ० सीज़ यौगिक धरती को सूर्य की ख़तरनाक पराबैंगनी विकिरणों से बचाने वाली ओज़ोन की विनाशक हैं, यह बात अब सारी दुनिया को मालूम हो गयी है।

आजकल 'ओज़ोन छिद्र' अथवा ओज़ोन की चादर का झीना होते जाना अखबारों की सुखियों में है और उन सभी लोगों की चिन्ता का विषय बना हुआ है जो प्रकृति के असंतुलन और लगातार खराब होते पर्यावरण को सुधारना चाहते हैं। वैज्ञानिक परीक्षणों से ज्ञात हुआ है कि पिछले 10 वर्षों में आर्कटिक (उत्तरी ध्रुव प्रदेश) और अन्टार्कटिक (दक्षिणी ध्रुव प्रदेश) में इस सुरक्षा-कवच की मोटाई में कमी पायी गयी है। वास्तविकता

बी० एस-सी० तृतीय वर्ष (जीव विज्ञान), सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद–2

तो यह है कि यही शनैः शनैः बढ़ता झीनापन हमें आगे आने वाले ख़तरे की चेतावनी दे रहा है। अगर ओज़ोन की यह चादर और झीनी होती गई तो धरती पर गरमी बढ़ेगी और पराबैंगनी विकिरण समस्त प्राणियों और वनस्पतियों को मुश्किल में डाल देगा। ध्रुवों की वर्फ पिघल जायेगी, जिसके कारण समुद्रों का पानी ऊपर चढ़ कर अनेक तटवर्ती क्षेत्रों को प्रलयंकारी बाढ़ की चपेट में ले लेगा, तब स्थिति कितनी भयावह होगी इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है।

पराबैंगनी विकिरण कई घातक बीमारियों के लिये ज़िम्मेदार है यथा (1) शरीर की त्वचा का काला पड़ते जाना, (2) हिमअन्धता, (3) आँख की रोशनी का प्रभावित होना, (4) चर्म कैंसर, (5) असमय शरीर पर झुर्रियों का पड़ना, (6) बुढ़ापा आदि।

ये किरणें वनस्पति-वृद्धि पर भी कुप्रभाव डालती हैं। जैसे –प्रकाश संश्लेषण का कम हो जाना, बहुत से पौधों तथा फ़सलों में बीजों का अंकुरण देर से होना आदि। पानी वाले पौधों में शैवाल पराबैंगनी किरणों से अधिक प्रभावित होती हैं। ऐसी आशंका है कि ओज़ोन की पर्त को होने वाली क्षति से जलीय पारिस्थितिकी, विशेष रूप से मछलियाँ, प्रभावित होंगी।

इन सभी कुप्रभावों की जानकारी होने पर भी कुछ सिरफिरे लोगों का ऐसा मानना है कि ओजोन की परत तो अन्टार्कटिका में झीनी हो रही है और वहाँ पर मनुष्यों का निवास तो नहीं, अतएव यह ओज़ोन 'छिद्र' किसी भी प्रकार से चिन्ता का विषय नहीं है। परन्तु ऐसा विचार तो स्वयं को भ्रमित रखने का प्रयास मात्र ही कहा जा सकता है, क्योंकि अनुसंधानों द्वारा अब यह पता चल चुका है कि ओज़ोन की कमी से होने वाले अनिष्टकारी प्रभाव अन्टार्कटिका से काफी दूर-दूर के क्षेत्रों को भी अपनी लपेट में ले लेंगे। एक अनुमान के अनुसार ओज़ोन में सात प्रतिशत कमी पृथ्वी पर करीब 15 प्रतिशत पराबैंगनी किरणों की मात्रा बढ़ा देगी और वास्तव में यही कारण है कि आज विश्व की सरकारें, तकनीकी विशेषज्ञ तथा उद्योग नीतियों का निर्धारण करने वाले ओज़ोन रूपी पृथ्वी के सुरक्षाकवच को बनाये रखने के लिये न केवल चिन्तित हैं वरन् प्रयत्नशील भी हैं।

परन्तु सी. एफ. सी. यौगिकों का घरेलू और औद्योगिक क्षेत्रों में इतना ज़्यादा इस्तेमाल हो रहा है कि उनकी जगह दूसरे रासायन इस्तेमाल करना एक बहुत बड़ी चुनौती बन गया है। अभी तक कोई महत्वपूर्ण विकल्प नहीं खोजा जा सका है और अकेले यूरोपीय समुदाय के देशों में ही हर डेढ़ वर्ष से दो लाख टन सी. एफ. सी. यौगिकों का इस्तेमाल हो रहा है। इन यौगिकों का इस्तेमाल वातानुकूलन उपकरणों में, पैकेजिंग उद्योग में इलेक्ट्रॉनिक्स उद्योग में विलायक के रूप में इलाज के काम आने वाली दवाओं में जीवाणु-रोधक के रूप में बिजली पैदा करने में, आग बुझाने के उपकरणों इत्यादि में हो रहा है।

सी. एफ. सी. का विकल्प खोजते समय हमें यह ध्यान में रखना होगा कि जिस तरह सी. एफ. सी. यौगिकों में आग नहीं लग सकती, कोई विष नहीं फैल सकता, और किसी दूसरे रासायन से वे क्रिया भी नहीं करते, उसी तरह से ये खूबियाँ उसके वैकल्पिक

यौगिकों में भी होनी चाहिये। इसके साथ ही वैकल्पिक यौगिकों में ओज़ोन में कमी लाने का दुर्गुण या तो बिल्कुल न हो या बेहद कम हो।

अनुसंधानों से पता चला है कि ओज़ोन की पर्त नष्ट करने में दो बातें मुख्य रूप से असर डालती हैं।

(1) यौगिक में मौजूद क्लोरीन का अनुपात, और

(2) वायुमण्डल में तरल यौगिक के सक्रिय बने रहने का समय।

इस आधार पर जो मूल सी. एफ. सी. यौगिक खोजे गये थे उनका ओज़ोन विनाशक अंक एक (1) था और आग बुझाने वाले उपकरणों में विद्यमान सी. एफ. सी. यौगिकों में यह अंक 3 से 10 तक पाया गया है। इस आधार पर ऐसे यौगिक खोजे जा रहे हैं, जो वायुमण्डल में बहुत तेज़ी से फैल जायें और ज़्यादा देर तक टिके रहें।

ऐसे यौगिकों की खोज करते हुये वैज्ञानिक हाइड्रोफ्लोरोकार्बन यानी एच. एफ. सी., यौगिकों तक पहुँचे। ये टिकाऊ हैं तथा वायुमण्डल की ऊपरी सतह तक पहुँचते-पहुँचते ये लगभग नष्ट हो जाते हैं। पर्यावरण की दृष्टि से सी. एफ. सी. यौगिकों की अपेक्षा एच. एफ. सी. यौगिक अधिक स्वीकार्य हैं। इनका ओज़ोन विनाशक अंक शून्य से से 0.05 तक है, जो सी. एफ. सी. यौगिकों की तुलना में बहुत कम है। लेकिन अभी नये एच. एफ. सी. यौगिकों पर ज़्यादा खोज नहीं हुयी है, बहुत कम आँकड़े उपलब्ध हैं और इनकी सत्यता के बारे में भी शंकायें उठाई गयी हैं।

एच. एफ. सी. यौगिकों के बारे में विश्वसनीय आँकड़ों की कमी का नतीजा यही हो रहा है कि पर्यावरण के प्रति चिन्ताओं से ग्रस्त होते हुये, आर्थिक दबावों के वशीभूत विविध उद्योगों में सी. एफ. सी. यौगिकों का इस्तेमाल बराबर जारी है। और अनुमान है कि आगे भी जारी रहेगा।

इस समस्या से निपटने के लिये ब्रिटेन की राष्ट्रीय इन्जीनियरी प्रयोगशाला ने तीन महत्वपूर्ण प्रायोजनायें शुरू कीं। इन प्रायोजनाओं का उद्देश्य यह है कि ऐसे हैलोजनयुक्त हाइड्रोकार्बन का पता लगाया जाय जो पर्यावरण की दृष्टि से निरापद ताप भौतिकीय गुणों वाले हों तथा ताप विनिमय की सभी खूबियों के बावजूद उनके लिये ऐसे ताप विनिमायक (**heat exchanger**) इस्तेमाल किये जायें जिससे पर्यावरण को कोई ख़तरा न हो।

किन्तु जब तक सुरक्षित रसायनों और नई तकनीकों को पूरी तरह से विकसित न कर लिया जाये तब तक हमारा यह कर्त्तव्य है कि हम पृथ्वी के जीव-जन्तुओं और वनस्पतियों की सुरक्षा के लिये ऐसे रासायनों का प्रयोग कम से कम करें जो ओज़ोन के सुरक्षा कवच को कमज़ोर कर रहे हैं और साथ ही ऐसी नयी तकनीकें खोजें जो पर्यावरण को क्षति न पहुँचायें। मुझे विश्वास है कि विश्व के समस्त हितचिन्तक समय रहते ही समस्त जीवधारियों के लिये वरदान—ओज़ोन परत—को बचाने की कार्यवाही करने में सक्रिय योगदान करेंगे।

□□

फार्मेल्डिहाइड और पर्यावरण

□ डॉ० ओम प्रभात अग्रवाल

यदि आपको कभी किसी कॉलेज अथवा विश्वविद्यालय के जंतुशास्त्र विभाग में जाने का अवसर मिला हो तो आपने वहाँ की प्रयोगशालाओं एवं संग्रहालयों में एक विचित्र सी तीखी गंध का अनुभव अवश्य किया होगा। वस्तुतः यह गंध इतनी तीव्र होती है कि विभाग के व्याख्यान कक्ष और बरामदों में भी उसे अनुभव किया जा सकता है। यह गंध उस रासायनिक द्रव के कारण उत्पन्न होती है जिसका प्रयोग मरे हुये जीव-जंतुओं आदि के परिरक्षण में किया जाता है। इसे फार्मेलिन कहते हैं और यह फार्मेल्डिहाइड नामक गैस का जल में लगभग चालीस प्रतिशत विलयन होता है।

फार्मेल्डिहाइड एक अत्यंत उपयोगी रसायन है यद्यपि आज यह विवादों के घेरे में फँस गया है। जीवन को आधुनिकता का जामा पहनाने वाले असंख्य उत्पाद कहीं न कहीं इस रसायन से जुड़े हुये हैं। न सिकुड़ने वाले तथा इस्त्री न माँगने वाले सूती कपड़ों को ही लें। इनके रेशों में यह गुण इसी रसायन पर आधारित बहुलकों से उत्पन्न किया जाता है। वस्तुतः फार्मेल्डिहाइड सूती रेशों से स्थायी रूप से जुड़ जाता है। और समय के साथ अत्यंत धीरे-धीरे बाहर निकलता रहता है। स्मरणीय है कि ये ही सूती रेशे टेरीकाट जैसे मिश्र वस्त्रों के उत्पादन में भी प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार का एक अन्य उपयोगी उत्पाद है पॉलीएसीटॉल नामक बहुलक जो अत्यंत मज़बूत, तापसह प्लास्टिक होने के कारण धड़ल्ले से पानी के पाइपों तथा पावर-टूल्स आदि को बनाने के काम में आता है। यूरिया -फार्मेल्डिहाइड फोम एक और ऐसा उत्पाद है जो 1982 तक अमेरिका एवं योरोप के अनेक देशों में हज़ारों-लाखों घरों एवं मोटर-गाड़ियों के निर्माण में अत्यंत सस्ते परन्तु प्रभावकारी इंसुलेटर के रूप में प्रयोग किया जाता था ताकि बाहर के अत्यंत ठंडे वातावरण से बचने के लिये इन्हें सुरक्षा कवच प्रदान किया जा सके। घर की दीवारों एवं गाड़ियों की बॉडी खोखला बना कर पम्पिंग द्वारा यह फोम उनमें भर दिया जाता था। फार्मेल्डिहाइड के विवादग्रस्त हो जाने के बाद ही इस फोम का यह उपयोग समाप्त हो सका।

उर्वरक, रंग, कीटनाशी, प्लास्टिक, लकड़ी के खूबसूरत पैनेल, प्लाइवुड फर्नीचर उद्योग में काम आने वाले रासायनिक सरेस, अखबारी कागज़ तथा कॉस्मेटिक्स आदि के उत्पादन में भी यह रसायन महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। और तो और, कुछ विशेष प्रकार के टूथपेस्टों में भी फार्मेल्डिहाइड मिला रहता है। भारत में भी एक ऐसा टूथपेस्ट उपलब्ध है। सिगरेट से निकले धुयें में भी इसकी काफी मात्रा रहती है। आधुनिक उद्योग धंधों में

प्रोफेसर, रसायन विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक—124001 (हरियाणा)

इसका महत्व कितना अधिक है—यह इसी से स्पष्ट है कि अमेरिका एवं पश्चिमी जर्मनी के औद्योगिक उत्पादों का कम से कम आठ प्रतिशत निश्चित रूप से इस रसायन पर आधारित है। अपने परिरक्षक गुणों के कारण अस्पतालों, मेडिकल कॉलेजों तथा जंतुशास्त्र विभागों में तो यह सदैव से ही खुल कर उपयोग में लाया जाता रहा है और इस क्षेत्र में सारी दुनिया में इसका प्रतियोगी कोई नहीं है।

फार्मेल्डिहाइड, स्वास्थ्य के लिये हितकर नहीं है—यह पहले से ही ज्ञात है। इसकी थोड़ी सी भी मात्रा चमड़े पर दाने उत्पन्न कर सकती है और कुछ दिन तक बराबर सम्पर्क में रहने पर **दमा** तथा **ब्रांकाइटिस** जैसी फेफड़ों की बीमारियाँ भी पैदा हो सकती हैं। एक सोवियत रपट के अनुसार गर्भवती महिलाओं पर इसका विशेष रूप से बुरा प्रभाव पड़ता है। परन्तु यह सब कुछ इतना बुरा नहीं था कि इतने उपयोगी रसायन को बदनाम कर उसे पर्यारण के लिये प्रदूषणकारी घोषित कर दिया जाता। बदनामी, या यों कहिये कि विवादों के शिकंजे में फँसने की कहानी प्रारंभ हुई 1977 से जब अमेरिका में उत्तरी कैरोलिना के केमिकल इंडस्ट्री इंस्टीट्यूट ऑव टॉक्सिकोलॉजी के वैज्ञानिकों ने चूहों पर इसके प्रभावों का विस्तृत अध्ययन प्रारंभ किया। यह अध्ययन सर्वथा उचित था क्योंकि जैसा कि लिखा जा चुका है—यह रसायन आधुनिक जीवन के स्तंभों में से है और इसीलिए प्रतिदिन हज़ारों-लाखों मज़दूर इसके वातावरण में एक लम्बा समय व्यतीत कर रहे थे और आज भी कर रहे हैं। कुछ छिटपुट सर्वेक्षण इंगित कर चुके थे कि ऐसे कारखानों में काम करने वाले मज़दूर, मृत शरीरों के परिरक्षण के धंधे में लगे लोग तथा पैथालॉजिस्टों के समूहों में मस्तिष्क, रक्त तथा बड़ी आँत के कैंसर के रोगी सामान्य से अधिक संख्या में होते हैं। यद्यपि ये सर्वेक्षण निश्चित रूप से फार्मेल्डिहाइड को अपराधी नहीं ठहराते थे क्योंकि ये सभी लोग इसके अतिरिक्त कई अन्य रसायनों के भी दीर्घकालीन सम्पर्क में रहते थे, फिर भी संदेह तो उपजता ही था। इसीलिये विस्तृत अध्ययन के दौरान चूहों को इस प्रकार से फार्मेल्डिहाइड एक्सपोजर दिया गया कि अन्य परिस्थितियाँ इन समूहों के कर्मियों के कार्यस्थल की परिस्थितियों से मिलती जुलती थीं। दो वर्षों के अध्ययन से ज्ञात हुआ कि केवल दो पी० पी० एम० (भाग प्रति दस लाख) तक की मात्रा सुरक्षित कही जा सकती थी। इससे अधिक का एक्सपोजर नैज़ल ट्यूमर (नाक के अन्दर की कैंसरी रसौली) पैदा कर सकता था। बाद के वर्षों में अन्य अध्ययनों के फलस्वरूप यह मात्रा भी सुरक्षित सिद्ध नहीं हो पाई।

इस रसायन का प्रदूषक प्रभाव किस प्रकार उत्पन्न होता है—इसकी निश्चित व्याख्या तो अभी नहीं हो पाई है, फिर भी अनुमान है कि यह डी एन ए (DNA) को क्षतिग्रस्त करता है एवं उसकी मरम्मत की क्रियाविधि में भी अवरोध उत्पन्न करता है।

इन परिणामों से विश्व स्तब्ध रह गया। लगा कि एकाएक समस्त आधुनिकता के सामने एक और प्रश्नचिह्न लग गया हो। फार्मेल्डिहाइड के उत्पादन पर रोक लगाने (कम से कम आंशिक रूप से) तथा कारखानों के वातावरण में इसकी सुरक्षित सीमा निर्धारित

करने के लिये आंदोलन उठ खड़े हुये। इनमें 'पर्यावरण सुरक्षा एजेन्सी' (अमेरिका) तथा 'ग्रीन' (पश्चिमी जर्मनी) आदि संस्थाओं ने प्रमुख भूमिका निभाई। स्वाभाविक था कि उत्पादक अपने हितों के लिये इसका विरोध करते। उन्होंने किया भी। विरोध का प्रमुख वैज्ञानिक आधार था कि यह रसायक चयापचयी क्रियाओं (मेटाबोलिक क्रियाओं) के एक उत्पादक के रूप में शरीर में प्राकृतिक रूप से भी उपस्थित रहता है। ऊतकों में इसकी मात्रा 3-12 पी. पी. एम. तक होती है। अब यदि प्रकृति ने प्रारम्भ से ही मानव शरीर को इसे सहने के योग्य बनाया है तो यह कैंसरकारी कैसे हो सकता है? ब्रिटेन की 'हेल्थ एण्ड सेफ्टी एक्जिक्यूटिव' ने तो 1981 तक में स्पष्ट शब्दों में कहा कि इसके कैंसरकारी होने के अंतिम प्रमाण अभी नहीं मिले हैं। फिर भी सांख्यकीय प्रमाण इतने सशक्त होकर उभरने लगे थे कि सरकारों को झुकना पड़ा। 1970 में अमेरिका में कारखानों के वातावरण में इसकी सीमा 3 पी. पी. एम. निर्धारित की गई और 1987 में इसे घटाकर 1 पी. पी. एम. कर दिया गया।

प्राकृतिक रूप से शरीर में उपस्थित होना ही इसके सुरक्षित होने का प्रमाण पत्र नहीं है। शक्कर एवं नमक, दोनों ही शरीर में स्वाभाविक रूप से उपस्थित हैं पर अधिक मात्रा में बराबर लिये जाने पर उच्च रक्तचाप अथवा मधुमेह के कारण बन सकते हैं। मोनोसोडियम ग्लूटामेट का भी उदाहरण लें। यह रसायन खाने का स्वाद बढ़ाने के लिये, विशेष तौर पर चाइनीज भोजन में, दीर्घकाल से इस्तेमाल किया जाता रहा था, परन्तु अंत में कैंसरकारी (मस्तिष्क कैंसर) सिद्ध हुआ। इसके लिये भी तर्क दिया गया था कि चूँकि प्राकृतिक खाद्यों में ग्लूटामेट रसायन स्वाभाविक रूप से उपस्थित रहते हैं, अतः वे कैंसरकारी हो ही नहीं सकते। परन्तु, तर्क देने वाले भूल गये कि प्राकृतिक खाद्य में ग्लूटामेट विशेष रासायनिक बँधों से जकड़े होते हैं और शायद इसीलिये हानिकर नहीं होते जब कि मोनोसोडियम ग्लूटामेट (एम. एस. जी.) शरीर को मुक्त ग्लूटामेट देता है। सिद्ध हो चुका है कि यह मुक्त ग्लूटामेट ही समस्या पैदा करता है। क्या यही बात फार्मेल्डिहाइड के साथ नहीं हो सकती? शरीर में प्राकृतिक रसायन अत्यन्त जटिल प्रक्रियाओं से गुजर कर अंततः ऊतकों में जमा होते हैं। इसलिये निश्चित रूप से यह कहना कि वे हानिकर क्यों नहीं होते—सम्भव नहीं है। इसीलिये उनकी तुलना, बाहर से स्वतन्त्र रूप से शरीर के अन्दर पहुँचने वाले उन्हीं रासायनों से नहीं की जा सकती। या फिर जैसा कि मैसाचुसेट्स इंस्टीट्यूट ऑव टेक्नोलॉजी के वैज्ञानिक **निकोलस रशफोर्ड** का कहना है कि हो सकता है कि विकास की लंबी प्रक्रिया के दौरान मानव शरीर ने प्राकृतिक फार्मेल्डिहाइड से डी. एन. ए. को क्षतिग्रस्त होने से बचाने की कोई क्रियाविधि विकसित कर ली हो पर यह तो आवश्यक नहीं कि वह शत प्रतिशत सफल भी हो। संभव है कि बाहर से स्वतन्त्र रूप से लगातार अधिक मात्रा में अन्दर पहुँचने वाले रसायन की आक्रामकता के समक्ष बहुत से व्यक्तियों में यह क्रियाविधि नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हो और कैंसरी ट्यूमर की उत्पत्ति का कारण बन जाती हो। जब तक शरीर की सभी जैव-रासायनिक क्रियाओं का पूर्ण ज्ञान न प्राप्त कर लिया जाय तब तक किसी रसायन को सिर्फ इसलिये सुरक्षित करार नहीं दिया जा सकता कि वह शरीर में प्राकृतिक रूप से भी उपस्थित है।

जो भी हो, फिलहाल तो पर्यावरणीय विवाद के शिकंजे में फार्मेल्डिहाइड जैसा उपयोगी रसायन भी गिरफ्तार हो ही चुका है। ☐☐

अम्ल वर्षा

□ डॉ० शिवगोपाल मिश्र

अम्ल वर्षा वायु प्रदूषण का ही विस्तार है। इसका सम्बन्ध **अम्लीकरण** (acidification) से जोड़ा जाता है। भूगर्भ रसायन की दृष्टि से अम्लीकरण प्राकृतिक प्रक्रम है जो पृथ्वी पर आदि काल से चला आ रहा है। अम्लीकरण में **दो** रासायनिक अभिक्रियाएँ एक साथ चलती रहती हैं—एक से हाइड्रोजन आयन उत्पन्न होते हैं (अम्लीकरण) और दूसरी से हाइड्रोजन आयनों की खपत होती है—यह उदासीनीकरण है। अतः अम्लीकरण हाइड्रोजन आयनों के उत्पादन तथा उनकी खपत की दर पर निर्भर करेगा।

अम्लवर्षा का वास्तविक अर्थ तो उस वर्षा, हिम, ओला तथा कुहरा से है जिसमें कार्बन डाइ ऑक्साइड (CO_2) के अतिरिक्त सल्फर डाइ ऑक्साइड (SO_2) तथा नाइट्रोजन के ऑक्साइड (NO_x) घुले हों, जिनसे तनु सल्फ्यूरिक अम्ल (H_2SO_4 तथा नाइट्रिक अम्ल (HNO_3) बनते हैं। किन्तु व्यापक दृष्टि से पौधों तथा इमारतों द्वारा SO_2 तथा NO_x का अवशोषण भी इसमें सम्मिलित कर लिया जाता है।

इस तरह अम्ल वर्षा में योगदान करने वाले प्रदूषकों में SO_2 तथा NO_x मुख्य हैं। अब वाष्पशील कार्बनिक यौगिकों (VOC) पर भी ध्यान दिया जाने लगा है। उष्ण-कटिबन्ध में VOC तथा NO_x की पारस्परिक क्रिया से ओज़ोन (O_3) तथा अन्य ऑक्सीकारक बनते हैं।

अम्लवर्षा से जलसाधन प्रदूषित होते हैं जिससे जल में रहने वाले जीवों में से मछलियाँ सर्वाधिक प्रभावित हुई हैं। अम्ल वर्षा से जंगलों को क्षति पहुँची है। पश्चिमी जर्मनी के तीन चौथाई जंगलों को अम्ल वर्षा से हानि पहुँची है। आस्ट्रिया, फ्रांस, स्विटजरलैंड, पोलैंड, जेकोस्लोवैकिया आदि देशों में भारी क्षति हुई बतलाई जाती है।

इमारतों को भी अम्ल वर्षा से नुकसान पहुँचता है। मुख्यतया SO_2 चूना पत्थर द्वारा अवशोषित होकर उसे जिप्सम में बदल देती है जिससे दरारें पड़ जाती हैं और फिर उसका घुलना प्रारम्भ हो जाता है।

अम्ल वर्षा का एक अन्य कुप्रभाव संक्षारण (Corrosion) के रूप में देखा जाता है। इससे ताँबे की बनी नालियाँ प्रभावित होती हैं और मिट्टी में से एल्युमिनियम (Al) घुलने लगता है। यही नहीं सीसा (Pb) कैडमियम (Cd) तथा पारद (Hg) भी घुल घुलकर जल को विषाक्त बनाते हैं। इस तरह भारी धातु प्रदूषण उत्पन्न होता है।

उपर्युक्त विषाक्तता का अन्तिम रूप से स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है। इसीलिए अम्ल वर्षा को लेकर विशेष चिन्ता व्यक्त की जाती है।

निदेशक, शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद—2

150 वर्ष पूर्व विश्व भर के मृदाविज्ञानी फ़सलों के लिए गंधक तथा नाइट्रोजन की थोड़ी भी मात्रा के लिए वायुमण्डल की ओर निहारते थे। जितना भी गंधक तथा नाइट्रोजन वर्षाजल के साथ मिट्टी में आ मिलता था, वह उर्वरकों का पूरक बनता था। तब किसी को अम्लीकरण की चिन्ता न थी। या यों कहिये कि लोग इस शब्द से अथवा अम्ल वर्षा के आज के शब्दार्थ से परिचित भी नहीं थे। यही नहीं, कुछ वर्ष पूर्व तक लोगों की प्रमुख चिन्ता का विषय झीलों, तालों तथा नदियों में होने वाला सुपोषण (Eutrophication) था। तभी एकाएक स्कैंडिनेविया के वैज्ञानिक वायुमण्डलीय अम्ल प्रदूषण से चिन्तित हो उठे क्योंकि अम्ल झीलों में मछलियों की संख्या घटने लगी। इन्हें खाने वाले पक्षी भी भारी संख्या में मरने लगे। 1972 के पूर्व अम्लीकरण की समस्या का ज्ञान न होने से लोग चिंतित नहीं थे।

भारत, बांग्ला देश तथा चीन में अभी भी अम्लीकरण ने विकराल रूप धारण नहीं किया। इसका कारण यह बतलाया जाता है कि वायु अपरदन (Wind erosion) के फलस्वरूप मिट्टी में से इतनी क्षारीय धूल उठकर वायुमण्डल में जाती है कि SO_2 तथा NO_x से उत्पन्न अम्लता का उदासीनीकरण हो जाता है। यदि अम्ल वर्षा से किसी प्रकार की क्षति की कोई सम्भावना व्यक्त की जाती है तो वह शुष्क SO_2 का अवशोषण हो सकता है—सल्फ्यूरिक अम्ल के रूप में वर्षा द्वारा नहीं। अब यह स्पष्ट हो चला है कि वृक्षों को भी जो हानि पहुँचती है वह अम्ल वर्षा से नहीं अपितु SO_2 गैस के संचय से है। कुछ वैज्ञानिक जलवायु परिवर्तन से भी वनस्पति क्षति का सम्बन्ध जोड़ते हैं।

इसके पूर्व कि प्रदूषकों की मात्रा के आँकड़े प्रस्तुत किये जायें, आइये अम्लीकरण की क्रियाविधि पर विस्तार से विचार कर लें।

ज्ञात हो कि वायुमण्डल में जो CO_2 गैस है वह शुद्ध जल में विलयित होकर कम से कम 5.6 पीएच उत्पन्न कर सकती है अतः सामान्य वर्षा जल का पीएच 5.6 ही होना चाहिए (पीएच अम्लता की प्रखरता का सूचक है), किन्तु वर्षा जल की अम्लता अन्य कारणों से प्रभावित होती रहती है। ब्रिटेन तथा स्कैंडीनेविया में वर्षा जल का पीएच 4.3 से भी कम पाया गया तो वैज्ञानिकों ने तुरन्त यह निष्कर्ष निकाला कि यह अम्लीकरण मानवकृत (man made) है। ऐसा तीन प्रकार से सम्भव है—

(1) अम्ल सीधे जल में मिल जाय, (2) प्रवाहमान जल में विलेय ऋणायनों की मात्रा बढ़ जाय, तथा (3) मिट्टी का अम्लीकरण होने के बाद जल का अम्लीकरण हो।

मिट्टी का अम्लीकरण ह्यूमस (कार्बनिक पदार्थ) से उत्पन्न कार्बनिक अम्लों के उत्पादन तथा उनके अधोगमन पर निर्भर करता है। जल अम्लीकरण के लिए नितान्त रूप से सल्फेट आयन (जो SO_2 के जल में घुलने से बनते हैं) जिम्मेदार हैं। कुछ काल तक बाइकार्बोनेट आयन इनका सामना करते हैं किन्तु बाद में इनके विनष्ट हो जाने से प्रतिरोध घट जाता है। वैसे नाइट्रेट आयन भी (NO_x के घुलने से प्राप्त) अम्ल उत्पन्न करते हैं किन्तु सूक्ष्मजीवों तथा वनस्पतियों द्वारा इनका अवशोषण एवं स्वात्मीकरण इतनी मात्रा में होता रहता है कि अम्लीकरण में नाइट्रेट आयन कम ही योगदान दे पाते हैं।

लाइसोमीटर प्रयोगों से स्पष्ट हो चुका है कि कृत्रिम अम्ल वर्षा द्वारा मृदा अम्लीकरण सम्भव है।

जल का पीएच 10-12 वर्षों में 0.5 से 1 इकाई तक घट पाता है।

अत: दीर्घकाल तक अम्ल वर्षा होने के बाद ही उसके दुष्परिणाम देखने को मिल सकेंगे।

आँकड़े बताते हैं कि केवल यू० के० द्वारा प्रतिवर्ष 35 लाख टन SO_2 वायुमण्डल में छोड़ी जाती है। यह मात्रा 1900-1940 की अवधि में केवल 30 लाख टन थी किन्तु 1970 में बढ़कर 62 लाख टन हो गई थी। यूरोप में रूस, पोलैंड, पूर्वी जर्मनी जैसे देश यू० के० से अधिक SO_2 मुक्त करते हैं जबकि नार्वे, स्वीडेन, पुर्तगाल आदि देश यू० के० से कम SO_2 मुक्त करते हैं। अमेरिका सर्वाधिक SO_2 मुक्त करता है। यह SO_2 औद्योगिक प्रगति की देन है। जीवाश्म ईंधनों के जलाने से यह गैस उत्पन्न होती है।

ज्ञात हो कि कोयला तथा तेल में 0.5 से 4% तक गंधक रहता है अत: इन ईंधनों के जलाने पर SO_2 उत्पन्न होती है। 1952 में लन्दन में धूम्र कुहरे से 4000 लोगों की मृत्यु हुई तो वैज्ञानिकों की आँखें खुली और धुआँहीन ईंधन का प्रयोग चालू हुआ। यू० के० द्वारा विमुक्त SO_2 का 22% अन्य देशों तक पहुँचता है—उदाहरणार्थ 7% नार्वे तक, 5% स्वीडेन तक तथा 4% जर्मनी तक। अत: कोई भी राष्ट्र अपने को SO_2 के प्रदूषण से मुक्त नहीं समझ सकता। स्कैंडीनेविया की झीलों के जल प्रदूषण का मुख्य कारण यू० के० से निकली SO_2 ही है। यही नहीं, जर्मनी, फ्रांस आदि के जंगलों का विनाश ऐसी ही SO_2 के प्रदूषण से हुआ बतलाया जाता है। स्वीडेन की 90 हज़ार झीलों में से 20 हज़ार झीलें कुछ न कुछ अम्लीय बन चुकी हैं और 4 हजार झीलों से तो मछलियों का पूरी तरह लोप हो चुका है। इसी तरह नार्वे के ऊपरी भाग की 80% झीलें मछलियों से रहित हैं।

SO_2 की ही तरह यू० के० प्रतिवर्ष 19 लाख टन NO_x निकालता है जिसमें से 40% बिजलीघरों से और 40% मोटर वाहनों से निकलता है। ध्यान रहे कि अमेरिका में इससे 10 गुनी NO_x उत्पन्न होती है।

यू० के० में प्रतिवर्ष 15 लाख टन VOC भी निकलता है। इसके लिए मोटर वाहन ही उत्तरदायी हैं।

यद्यपि यू० के० ने सम्प्रति उन्नत प्रौद्योगिकी के बल पर SO_2 की मात्रा में काफी कटौती (30%) कर दी है किन्तु NO_x तथा VOC में कमी के बजाय बढ़ोत्तरी ही हुई है।

ऐसी स्थिति में अम्ल बर्षा की तीव्रता में कमी तो लाई जा सकती है किन्तु उसे पूरी तरह बन्द नहीं किया जा सकता। वायु प्रदूषण की रोकथाम से ही अम्ल वर्षा में कोई परिवर्तन सम्भव है।

केवल हो-हल्ले से अम्ल वर्षा का किसी प्रकार का समाधान नहीं हो सकता।

□□

मरुस्थलीकरण क्यों ?

□ डॉ० सुशीला राय

प्रकृति, जीव, जल एवं वायु पर्यावरण के पूरक अंग हैं। जैविक विकास के लिए इनके निर्मल स्वरूप में परस्पर सामंजस्य की आवश्यकता है। पर्यावरण के इन अंगों में असंतुलन होने के कारण ही मरुस्थलों का निर्माण एवं विकास होता है। आस्ट्रिया के डॉ० ब्लादीमीर कोपेन (1918) के वर्गीकरण के अनुसार संसार के सम्पूर्ण 1456 लाख वर्ग कि. मी. भू-भाग का 28 प्रतिशत क्षेत्र शुष्क है, जिसमें 14 प्रतिशत वह क्षेत्र है जिसमें लगभग 250 मि. मी. से कम औसत वार्षिक वर्षा होती है तथा अन्य 14 प्रतिशत में 250 से 500 मि मी. तक वार्षिक सिंचन होता है। संसार के शुष्क क्षेत्र कर्क और मकर रेखाओं के निकट संकरी पट्टियों में मरुस्थलों के रूप में स्थित हैं। प्रमुख तथा पृथ्वी के चतुर्दिक 30° उत्तर और 30° दक्षिण अक्षांशों पर दो चौड़ी पट्टी में उत्तरी अफ्रीका का सहारा, अरेबिया, सीरिया जोर्डन, ईराक, ईरान, अफ़गानिस्तान, बलुचिस्तान, पाकिस्तान और भारत के मरुस्थल सम्मिलित हैं, जबकि दक्षिणी गोलार्ध में दक्षिण अफ्रीका का काला-

चित्र—1. संसार के प्रमुख मरुस्थलों की भौगोलिक स्थिति और उनका क्षेत्रफल
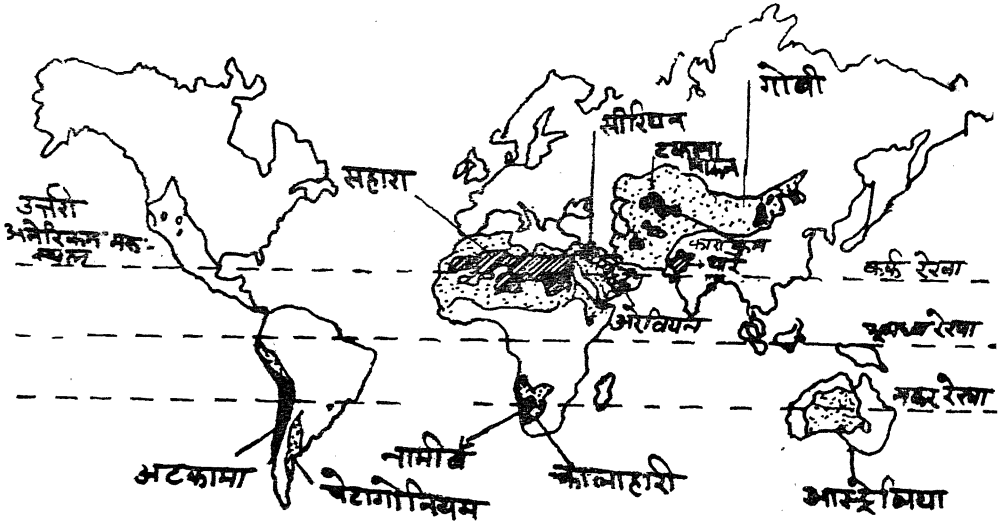
वैज्ञानिक ऑफीसर, रक्षा प्रयोग शाला, जोधपुर—342001 (राजस्थान)

हारी, आस्ट्रेलिया और पश्चिमी अर्जेन्टाइना के मरुस्थल विद्यमान हैं। सहारा मरुस्थल इन सबमें विशाल है, जो अफ्रीका महाद्वीप के लगभग एक चौथाई भाग को अपने में समेटे हुए है। यह उत्तर से दक्षिण तक लगभग 4,500 कि. मी. क्षेत्र में फ़ैला हुआ है [देखें चित्र— 1] तथा इन प्रमुख मरुस्थलों का क्षेत्रफल सारणी—1 में दिया गया है।

सारणी 1—प्रमुख मरुस्थलों का भू-भाग

क्रम	क्षेत्र	वर्ग किलोमीटर (लाखों में)
1.	सहारा मरुस्थल	91
2.	आस्ट्रेलिया मरुस्थल	34
3.	अरब का मरुस्थल	26
4.	तुर्की का मरुस्थल	19
5.	अमेरिकी मरुस्थल (मोजावे, ग्रेट बेसिन, सोनोरन, कोलाराडो महान साल्ट लेक, गिला और दक्षिण-पश्चिमी उत्तर-अमेरिका के मरुस्थल)	13
6.	अर्जेन्टाइना का मरुस्थल	67
7.	कालाहारी और नामीब मरुस्थल (दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका)	57
8.	भारतीय थार मरुस्थल	60
9.	तकला माकन मरुस्थल (गोबी सहित)	52
10.	ईरान का मरुस्थल (परसिया)	39
11.	अटकामा मरुस्थल (पेरू और चिली)	36

मीग्ज (1953) द्वारा निर्मित संसार के मरुस्थलों के वार्षिक वर्षा सिंचन के मान-चित्रों के आधार पर मैकगिनीज (1968) ने शुष्क क्षेत्रों को तीन भागों में विभाजित किया है।

(1) 60—100 मि. मी. औसत वार्षिक वर्षा वाले अत्यधिक शुष्क क्षेत्र,

(2) 30—100 मि. मी. से 150—250 मि. मी. औसत वार्षिक वर्षा वाले शुष्क क्षेत्र, और

(3) 150—250 मि. मी. से 500 मि. मी, औसत वार्षिक वर्षा वाले अर्धशुष्क क्षेत्र।

बढ़ती हुई जनसंख्या, अनियोजित औद्योगिकीकरण, अनियंत्रित नगरीकरण तथा अन्य परिस्थितियों से इन प्राकृतिक संसाधनों में लगातार ह्रास से पर्यावरण सम्बन्धी समस्यायें उग्र रूप धारण करती चली जा रही हैं। हमारे मरुस्थल भी इनसे अछूते नहीं बचे हैं। विश्व के सौ देशों में बर्फ़ीले इलाकों के अलावा तीन करोड़ वर्ग कि. मी. भूमि बंजर हो

चुकी है जो लगभग 22 प्रतिशत् बंजर भाग है तथा प्रति वर्ष करीब साठ लाख हेक्टेयर भूमि बंजर हो रही है। इससे सौ देशों के सात करोड़ 80 लाख लोग प्रभावित हो रहे हैं, जिनमें से 5 करोड़ 70 लाख की आबादी गंभीर रूप से त्रस्त है। इस बढ़ती हुई मरुस्थलीकरण प्रक्रिया से विश्व में प्रति वर्ष 2 करोड़ 60 लाख डॉलर की कृषि उत्पादन में क्षति हो रही है। रेगिस्तान अथवा बंजर भूमि, जल एवं वायु प्रदूषण, वनसंपदा और जीवों का निरन्तर क्षय एक गंभीर चुनौती बनता जा रहा है। इन कारणों से मरुस्थलीय पर्यावरण में असंतुलन बढ़ रहा है, जिसके फलस्वरूप मरुस्थलों के विस्तार की संभावनाएँ बढ़ गई हैं। लुप्त होने वाले प्राणी और वनस्पतियों के संरक्षण की आवश्यकताओं ने सभी का ध्यान आकर्षित किया है।

इन अगम्य और अवास्य मरुस्थलों के संबंध में हमारा काफ़ी समय तक ज्ञान अधूरा रहा है। सन् 1930 तक ऊँट ही प्रमुख साधन थे, जिनके द्वारा वैज्ञानिक सर्वेक्षण सीमित थे। परन्तु 1930 के दशक के साथ ही स्वचालित वाहनों के साथ लीबिया के मरुस्थल के क्रमिक अन्वेषणों की शुरुआत हुई जो दूसरे महायुद्ध के साथ पर्याप्त प्रगति तक पहुँची। इसके साथ हवाई सर्वेक्षण और उपग्रह के द्वारा सुदूर संवेदनों के माध्यमों से पर्याप्त ज्ञान अर्जित किया गया है और इन्हीं वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर पर्यावरण के प्रमुख अंगों का विधिवत् अध्ययन किया जा रहा है।

मरुस्थलों की प्रकृति और मरुस्थलीकरण के कारणों के अध्ययन के लिए नौरोबी में सन् 1977 में 'संयुक्त राष्ट्र संघ' के तत्वावधान में एक संगोष्ठी (यू० एन० ओ० कॉन्फ्रेंस ऑन डेज़र्टीफिकेशन, यू० एन० कोड) आयोजित की गई। इस संगोष्ठी में मरुस्थलीकरण को इस प्रकार परिभाषित किया गया है, **"मरुस्थलीकरण भूमि की जैविक क्षमता में कमी या विनाश है जो कि अंततः मरुस्थलीय स्थिति तक पहुँचाती है।"** संयुक्त रूप से विपरीत और परिवर्तनशील वातावरण पिछले 200 वर्षों के जलवायु-चक्र के अतिरिक्त मृदा एवं खनिज तथा सौर ऊर्जा का प्रभाव और प्राकृतिक संपदा का अत्यधिक दोहन ह्रास का कारण है।

मरुस्थलीकरण के निम्नलिखित तीन कारण परिभाषित किये गए हैं—

1. **जलवायु परिवर्तन**—भूमण्डलीय वातावरण में जलवायु-चक्र के परिवर्तन का परिणाम है, जिसके कारण दक्षिणी ग्रीष्म मानसून का सूडानोसेहेलियन पट्टी में प्रवेश क्रमशः कम होता जाना है। यह जलवायु-चक्र 200 वर्षों से चल रहा है और सन् 2025 तक यह न्यून बिन्दु तक पहुँचेगा। उस समय तक सूखा जैसी अन्य परिस्थितियाँ पैदा होने का यही प्रमुख कारण बना रहेगा।

2. **अव्यवस्था**—प्राकृतिक संपदाओं का अत्यधिक दोहन जिसके कारण वनसंपदा का नाश, भूमि-क्षरण, भू-क्षारीयता आदि का मरुस्थलीय परिस्थितियों के परिवर्तन में योगदान है।

3. **जीव-भौतिकीय पुनर्भरण (बायो-जिओफ़िज़िकल फीड बैक)**—भौतिक, जैविक एवं खनिज सम्बन्धी भूमि परिवर्तन का भी वातावरण पर प्रभाव है विशेषकर उन संवेदन-

शील क्षेत्रों पर जो कि अर्धशुष्क क्षेत्रों और प्रमुख दाब क्षेत्रों के अन्तर्गत हैं, थोड़ा-सा ही परिवर्तन मानसून प्ररिवर्तन मानसून प्रक्रिया को महत्वपूर्ण प्रभाव का कारण बना सकते हैं। इसके अन्तर्गत सुझाए गए उपायों में भूमि के परावर्तन सूचकांक, आर्द्रता, द्रवीकरण और वातावरणीय धूल में परिवर्तन शामिल हैं।

मरुस्थलीय वर्गीकरण

वातावरण के आधार पर संसार के सभी मरुस्थलों को रुक्षता के आधार पर निम्न पाँच भागों में बाँटा जा सकता है।

(i) उपोष्ण मरुस्थल (सब ट्रापीकल डेजर्ट)
(ii) शीत तटीय मरुस्थल (कूल कोस्टल डेजर्ट)
(iii) वृष्टि छाया मरुस्थल (रेन शैडो डेजर्ट)
(iv) महाद्वीपीय आन्तरिक मरुस्थल (कान्टीनेन्टल इंटीरियर डेजर्ट)
(v) ध्रुवीय मरुस्थल (पोलर डेजर्ट)

(i) **उपोष्ण मरुस्थल**—पृथ्वी के चतुर्दिक दो चौड़ी पट्टियों के रूप में यह मरुस्थल विद्यमान हैं जैसा कि चित्र संख्या 1 में दिखाया गया है। ये विशाल मरुस्थलीय प्रसार परिसंचरण प्रतिमान (वर्ल्ड वाइड सरकुलर पैटर्न) हैं। जब बहुत ऊँचाई (हाई अल्टीट्यूड) से अत्यधिक शीतल और शुष्क वायु इन मरुस्थलीय पट्टियों की अन्दरुनी सतह की ओर उतरती हैं तो पृथ्वी की सतह की ओर होने वाले इस उतार में इस वायु का तापक्रम पर्याप्त मात्रा में बढ़ जाता है। परिणामतया सतह पर पहुँच उष्ण और अत्यन्त शुष्क हवा किसी भी प्रकार से वर्षा उपलब्ध कराने में सक्षम नहीं है। यही प्रमुख कारण है जिससे उपोष्ण मरुस्थल में शुष्कता विद्यमान रहती है। संसार का सर्वाधिक शुष्क क्षेत्र इन्हीं उपोष्ण मरु-स्थल के अंदर समोया हुआ है। यद्यपि मोटेतौर पर मूलभूत समानताएँ भी हैं, फिर भी इनमें से प्रत्येक मरुस्थल एक दूसरे से भिन्न हैं। सबसे विशाल और पूर्ण मरुस्थल सहारा है।

(ii) **शीत तटीय मरुस्थल**—विश्व के अनेक भागों में लगभग विरोधाभास लिए हुए ये वे मरुस्थल हैं जिनमें लगभग जल सिंचन शून्य है, यद्यपि ये आर्द्रता (नमी) में डूबे रहते हैं। इनकी स्थिति ग्रीष्म मंडल के निकट होने के बावजूद भी तापक्रम अत्यन्त शीतल है। इनके तीन प्रमुख उदाहरणों में—(1) तटीय दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका का नामीब मरुस्थल, (2) चिलौ और पेरू का अटाकामा तटीय मरुस्थल और (3) मेक्सिको के तटीय प्रशांत महासागर के वाजा केलिफोर्निया का मरुस्थल है। इन तटीय मरुस्थलों का समुद्री जल अत्यन्त ठंडा होता है। वर्षा न होने के अनेक कारणों में से प्रमुखतया हवा में नमी का अभाव, सतह पर ठंडी हवा की पट्टी द्वारा कन्वैक्सनल करेंट का न बनना, और सीमित आर्द्र सतही का वायु पर्याप्त आर्द्रता का स्रोत न बन पाना ही है।

(iii) **वृष्टि छाया वाले मरुस्थल**—वायु परिभ्रमण पैटर्न और उभरे हुए भौगोलिक आकारों के कारण उत्पन्न न्यून वर्षा सिंचन के वायु-प्रवाह दिशा वाले क्षेत्र वृष्टि छाया मरुस्थलों का निर्माण करते हैं। एक दिशा में लगातार बहने वाली हवाएँ जहाँ अत्यधिक

वर्षा सिंचन का कारण बनती हैं, वहीं दूसरी ओर वे सभी पर्वतीय द्वीप, जिस ओर से हवा बहती है, कम सिंचन वाले क्षेत्र होने के कारण मरुस्थलीय स्थितियाँ पैदा करती हैं। अरेवियन अटलांटिक के मध्य के द्वीप और हवाई द्वीप इनके प्रमुख उदाहरण हैं, जहाँ बहुत छोटे-छोटे स्थानीय मरुस्थलों का निर्माण हुआ है। हायसी के बड़े द्वीप दक्षिण-पश्चिम मेडागास्कर के घाट, केलिफोर्निया के मोजावे के कुछ भाग, निवादा, ऊटा और कुछ अंशों में आस्ट्रेलिया के मरुस्थल वृष्टि-छाया मरुस्थलों के अन्तर्गत आते हैं। यहाँ तापक्रम शून्यांश तक नहीं पहुँचता और शीत ऋतु में सामान्य तापक्रम न्यूनतम 12 डिग्री सेल्सियस से लेकर अधिकतम 24 डिग्री सेल्सियस के मध्य रहता है। ग्रीष्म ऋतु में न्यूनतम तापक्रम 18 डिग्री से लेकर अधिकतम 30 डिग्री सेल्सियस तक रहता है।

(iv) **महाद्वीपीय आन्तरिक मरुस्थल**—शीत ऋतु में आस्ट्रेलिया महाद्वीप के आन्तरिक क्षेत्रों में अत्यधिक भू-विस्तार, समुद्र से दूरी और ऊँचाई के कारण छोटे दिन और सौर ऊर्जा की प्राप्ति में कमी के कारण अत्यधिक शीतलता का निर्माण होता है जिसके फलस्वरूप यहाँ उच्च वायु दाब का केन्द्र बनता है, जिससे ठंडी हवा लगातार प्रसारित होती रहती है और वायु लगभग पूर्णतः शुष्क हो जाती है। ग्रीष्म ऋतु में वहीं दूसरी ओर एशिया महाद्वीप पर्याप्त सौर ऊर्जा मिलने के कारण गर्म हो जाता है और ऊँचाई पर स्थित (हाई अल्टीट्यूड) प्रदेशों के दिन लंबे हो जाते हैं जिससे निम्न दाब केन्द्र का विकास होता है और चारों ओर से हवाओं को आकर्षित कर मानसून का कारण बनती हैं। परन्तु काकेसस, हिन्दुकुश, और हिमालय से किंघन और चीन की अन्य दूसरी पर्वतीय श्रेणियाँ ग्रीष्म ऋतु के आर्द्र पूर्ण हवा के मानसून को इस महाद्वीप में प्रवेश करने में बाधक बनती हैं। वृष्टि छाया क्षेत्र के ध्रुवीय मरुस्थल की यह स्थिति, जहाँ तक दक्षिण-पूर्वी हवाओं से संबंध है, वृष्टि छाया की विकट स्थिति उत्पन्न करती है और मरुस्थल के निर्माण का कारण बनती है।

सभी मौसमों में स्थानीय स्तर पर जलवायु में उतार-चढ़ाव रहता है। शीत ऋतु में वर्षा कम रहती है और सामान्यतः हिम के रूप में होती है। वर्षा ऋतु में वर्षा सिंचन अत्यधिक असामान्य रहता है जिसका वितरण कहीं कम कहीं ज़्यादा होता है। कुल वार्षिक सिंचन मैदानी भागों में 12 से० मी० से 50 से० मी० तक और पर्वतीय प्रदेशों में 100 से० मी० तक पहुँच जाता है। शीत ऋतु में मध्याह्न का तापक्रम मैदानी भागों में 15 डिग्री सेल्सियस तक और पर्वतीय क्षेत्रों में 4 डिग्री सेल्सियस से भी कम तक रहता है।

(v) **ध्रुवीय मरुस्थल**—ध्रुवीय क्षेत्र पूर्ण मरुस्थल कहे जा सकते हैं। इन क्षेत्रों में वर्षा नगण्य होती है और जो भी आर्द्रता उपलब्ध होती है वह लगभग पूरे वर्ष हिम के रूप में उपलब्ध होती है। अंटार्कटिक और ग्रीनलैण्ड की बर्फ़ीली टोपियाँ (आइसकेप) ध्रुवीय मरुस्थलों को प्रदर्शित करती हैं। रुक्षता का प्रमुख कारण न्यून तापक्रम है जिसके परिणामस्वरूप हवा में जल की मात्रा लगभग शून्य रहती है। यद्यपि आपेक्षिक आर्द्रता 70 से 85 प्रतिशत तक होती है परन्तु न्यून तापक्रम के कारण पानी, हवा में हिम के नन्हें-नन्हें कणों के रूप में तैरते रहते हैं, अतः वायु में विद्यमान

नगण्य जल की मात्रा द्रवीकरण या सिंचन द्वारा वनस्पति को उपलब्ध नहीं हो पाती। फरवरी माह में इन क्षेत्रों का न्यूनतम तापक्रम–47 डिग्री सेल्सियस तक रिकार्ड किया गया है। यद्यपि दैनिक न्यूनतम तापक्रम 17 डिग्री सेल्सियस और औसत अधिकतम 2 डिग्री सेल्सियस तक पाया जाता है। वर्ष के किसी भी समय तापक्रम जमाव बिंदु तक नहीं पहुँचता।

संयुक्त राष्ट्र संघ के सूडानो-सेहेलियन कार्यालय (यू० एन० एस० ओ० 1970) के अनुसार मरुस्थलीकरण के कारणों को निम्न बिंदुओं में विभक्त किया गया है।

1. **क्षेत्रीय भू-भाग का ह्रास (रेंज लैंड डिटिरिओरेशन)**—इसके अन्तर्गत अखाद्य और मरुस्थलीय पौधों में वृद्धि, शाकीय वनस्पतियों में कमी (प्रमुखतया जलस्रोतों के आसपास), झाड़ियों और अखाद्य घास का विकास, भू-क्षरण, अल्पकालिक वनस्पति संबंधी स्रोतों और सूखे का दुष्प्रभाव सम्मिलित है।

2. **शुष्क भू-भाग का ह्रास (ड्राई लैंड डिटिरिओरेशन)**– इसके अन्तर्गत सतही मिट्टी की कमी, भू-क्षरण में विकास, अकाल का उत्पादन पर दुष्प्रभाव, कार्बनिक खाद की उपलब्धता में कमी, उपयोगी लकड़ी के लिए पेड़ों का कटाव, अखाद्य निर्यात फ़सलों का विकास और उपजाऊ भू-विकास साधनों में कमी एवं रेत का खेतों में फैलाव आदि सम्मिलित है।

3. **सिंचत भू-पतन (इरीगेटेड डीजनरेशन)** - इसके अन्तर्गत लवणीयता का फैलाव, भू-जल का अत्यधिक दोहन, वाष्पीकरण, क्षारीयता और जल संग्रह क्षेत्रों में जलाक्रांति आदि सम्मिलित हैं।

उपरोक्त तीन प्रमुख कारणों के अतिरिक्त हमें नित-प्रति जीवन में घटित होने वाले उन अनेक कारणों पर भी ध्यान देना है जो मरुस्थलीकरण प्रक्रिया में सम्मिलित हैं। इन सभी के बीच एक सामन्जस्य देखने को मिलता है (देखें चित्र संख्या 2)। यहाँ एक मरुस्थल की विषम वातावरणीय परिस्थितियों का सर्वप्रथम प्रभाव पौधों पर पड़ता है। उसके पश्चात् जानवर और मनुष्यों पर पड़ता है। अंततः मनुष्य के लिए निर्धनता की स्थिति आ जाती है। कृषि उपज में कमी से निर्धनता सीमित व्यवहारिक ज्ञान मनुष्य में विलगाव की भावना को और बलवती कर देता है, जिसके फलस्वरूप उसके कार्य संचालन और प्रबन्ध क्षमता में कमी आती है। अंततः पशुधन और उनके उत्पाद जैसे कि दूध-घी, मांस, और ऊन आदि की पैदावार में कमी आती है। इसी प्रकार प्रतिकूल पर्यावरण मनुष्य को आर्थिक, शारीरिक और मानसिक रूप से तोड़ देते हैं। इसके अतिरिक्त और भी अनेक छोटे-मोटे कारण पाये गये हैं जो निम्न हैं—

(i) मनुष्यों और पशुओं की जनसंख्या में वृद्धि के कारण उत्पादन-संतुलन में कमी।

(ii) जलाऊ लकड़ी से प्राप्त ऊर्जा एवं इमारती लकड़ियों के स्थान पर विकल्पी साधनों में बढ़ोत्तरी नहीं के बराबर।

(ii) जलाऊ लकड़ी से प्राप्त ऊर्जा एवं इमारती लकड़ियों के स्थान पर विकल्पी साधनों में बढ़ोत्तरी नहीं के बराबर।

(iii) पशुओं के समान रूप से चतुर्दिक विचरण में कमी जिसके फलस्वरूप कार्बनिक खाद की अनुपलब्धता और इन पशुओं का शुष्क क्षेत्रों में अत्यधिक जमाव जिससे वहाँ उपलब्ध वनस्पति का ह्रास।
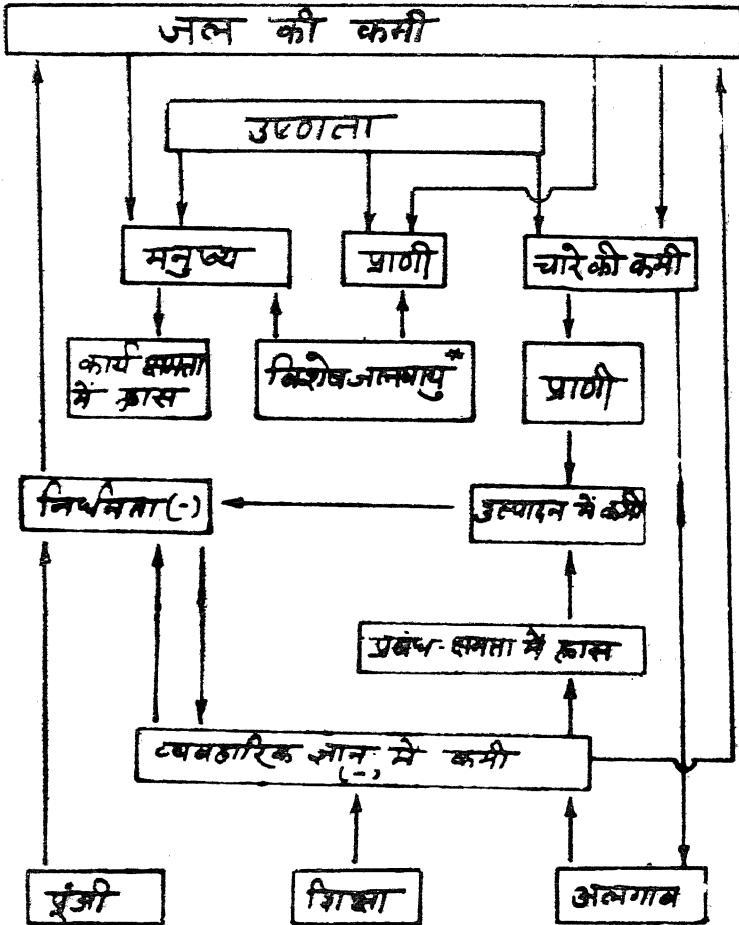
पराबैंगनी विकिरण, धूल, आंधी मरु-भूमि और वनस्पति आदि

चित्र—2. मरुस्थलीय प्राणियों और वनस्पतियों में पारिस्थितिक संबंध

(iv) विशेषकर खाद्यान्नों और कपास की पैदावार में सुरक्षित सीमा से अधिक विकास है। इसका प्रमुख कारण नगद पैदावार और निर्यात के कारण रहे हैं जिसने धन और खाद्यान्न (भोजन) की उपलब्धि के उद्देश्यों के लिए पर्यावरण संतुलन को नष्ट कर दिया है।

(v) कृषकों और पालतू जानवरों के अभाव से उत्पन्न वर्तमान विनाशकारी प्रभाव का कोई वर्तमान समाधान का न होना।

(vi) प्रशासनिक और संगठनात्मक विभागों में समन्वय और उनका उपयुक्त विकास न होना।

(vii) उपयुक्त भूमि व्यवस्था का अभाव।

(viii) प्रोजेक्ट प्रस्ताव में भूमि व्यवस्था, संरक्षण, सर्वेक्षण और आकलनों का पूर्णतः समावेश न होना।

(ix) मरुस्थलीकरण की गहन अध्ययन की तुलना में अल्पकालिक सूखे का ही समाधान करना।

(x) राष्ट्रीय स्तर पर उपयुक्त नीति निर्धारण का न होना।

(xi) सस्त योजनाओं में विशेषकर कृषकों, पशुपालकों को पूर्ण रूप से सम्मिलित न करना, अपर्याप्त अनुसंधान, स्थानीय भाषा और जन-संसाधनों का उपयोग न करना आदि कारण हैं, जिनपर गहन अध्ययन कर प्रोजेक्ट बनाने में विचार होना चाहिए जो मरुस्थलीकरण के उपर्युक्त वर्णित तीन प्रमुख प्रभावों में कमी लायेगा। वर्तमान तकनीक, सामाजिक, आर्थिक और संगठनात्मक तकनीक में सामंजस्य स्थापित कर मरुस्थलीकरण की समस्या का समाधान किया जा सकता है। मरुस्थलीकरण के विकास को रोकने के लिए प्राकृतिक संसाधनों का पारिस्थितिकी प्रबंध के द्वारा ही प्रयोग किया जा सकता है।

थार मरुस्थल—भारत में राजस्थान का थार मरुस्थल महान भारतीय मरुस्थल के नाम से जाना जाता है। यह भारत और पाकिस्तान के 4·46 लाख वर्ग कि०मी० क्षेत्र को अपने में समेटे हुए है। भारत में इसके अन्तर्गत पंजाब, हरियाणा, राजस्थान और गुजरात के क्षेत्र सम्मिलित हैं। देश के संपूर्ण भू-भाग का यह 12 प्रतिशत है। भारतवर्ष में कुल 3.17 लाख वर्ग कि० मी० उष्ण शुष्क क्षेत्र हैं जो निम्न सात राज्यों में फैले हुए हैं। इसका ब्यौरा सारणी-2 में दिया गया है।

सारणी-2—भारतीय उष्ण शुष्क क्षेत्र और उनका प्रतिशत

क्र० सं०	राज्य	शुष्क क्षेत्र (वर्ग कि.मी.)	संपूर्ण शुष्क क्षेत्र का %
1	राजस्थान	1,91,650	62
2	गुजरात	62,180	20
3	पंजाब	14,510	5
4	हरियाणा	12,840	4
5	महाराष्ट्र	1,280	0·4
6	कर्नाटक	8,570	3
7	आंध्रप्रदेश	21,550	7

राजस्थान की मरुभूमि का क्षेत्रफल लगभग 1.96 लाख वर्ग कि० मी० है। जो कि देश की सम्पूर्ण मरुभूमि का 62 प्रतिशत है। पश्चिमी राजस्थान के 12 जिले इस

मरुस्थल के अन्तर्गत आते हैं। पाकिस्तान की सीमा से लगे जैसलमेर, बाडमेर, बीकानेर, जालौर और श्रीगंगानगर राजस्थान के ज़िले हैं। वहीं गुजरात का कच्छ भी मरुस्थल का एक अंग हैं। यहाँ लम्बे-लम्बे समतल रन लम्बी दूरी तक फैले हुए हैं। यहाँ का अधिकतम तापक्रम 45 डिग्री सेल्सियस से 50 डिग्री सेल्सियस तक तथा न्यूनतम तापक्रम जमाव बिन्दु से नीचे पहुँच जाता है। 37.5 से० मी० वार्षिक वर्षा सिंचन शुष्क क्षेत्रों में तथा 75.0 से० मी० से भी कम अर्ध शुष्क क्षेत्रों में होती है। हवा का वेग 16 कि० मी० प्रति घंटे से भी अधिक होता है। आपेक्षिक आर्द्रता (नमी) कम से कम 65 से 75 प्रतिशत और शुष्कता सूचकांक 78 प्रतिशत तक अति उष्ण मरुस्थलीय स्थानों पर अंकित की गई है। साफ़ आकाश और तपता सूरज यहाँ की विशेषता है। राजस्थान के सीमावर्ती मरुस्थलीय शुष्क क्षेत्र रेत और रेत के टीलों द्वारा आच्छादित हैं, जो कुछ मीटर से लेकर 100 मीटर तक ऊँचे हो सकते हैं। यहाँ प्रचण्ड आँधियाँ चलती हैं, जो रेत के टीलों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाकर सड़कों, रेल पटरियों एवं सम्पूर्ण जन-जीवन को अस्त-व्यस्त करते हैं। बीकानेर के चल रेत के टीले पर्यटकों के आकर्षण का विशेष केन्द्र हैं। कुछ वर्षों से जोधपुर, बीकानेर और जैसलमेर अन्तर्राष्ट्रीय पर्यटक केन्द्र के रूप में विकसित हुए हैं।

'राष्ट्रीय वन नीति' के अनुसार कुल भू-भाग में 33 प्रतिशत क्षेत्र पर वन होने चाहिए, परन्तु आज 22.9 प्रतिशत क्षेत्र पर ही वन उपलब्ध हैं। इसकी तुलना में राजस्थान में सन् 1957 में 12.94 प्रतिशत वन थे जो सन् 1977 तक घटकर 10 प्रतिशत हो रह गए हैं और इसमें हरे पेड़ों से आच्छादित वन तो मात्र 3 प्रतिशत ही हैं। जंगलों के कटने से पर्यावरण को होने वाली क्षति अकल्पनीय तो है ही; इसके साथ मौसम बदला है और पिछले चार वर्षों में देश के आठ राज्यों को सूखा और अकाल की विभीषका का सामना करना पड़ा है। कुछ विशेषज्ञों का तो ऐसा अनुमान है कि अगले दस वर्षों में पूरा देश दुर्भिक्ष की चपेट में आ जायेगा और आने वाले 50 वर्षों में राजस्थान के मरुस्थल का विस्तार वर्मा तक पहुँच जायेगा। भारतीय विशेषज्ञों के दल ने अध्ययनों के बाद यह निष्कर्ष निकाला है कि लगभग 70,000-80,000 सालों पहले थार मरुभूमि में खूब वर्षा होती थी। यहाँ कई झीलें और नदियाँ थीं। यहाँ घने जंगल थे. लहराता विशाल समुद्र हिलोरें मारता था, नमक निकालने वाली झीलें सांभर, पचपदरा, आदि आज भी समुद्र की उपस्थिति की सत्यता दर्शाती हैं। सेटेलाइट के जरिए भी यह सिद्ध हो गया है कि यहाँ 'सरस्वती' नामक नदी बहती थी। बड़े-बड़े डायनोसॉर के कंकाल भी उपलब्ध हुए। लेकिन आज इस विशाल रेगिस्तान की हालत यह है कि अनियंत्रित प्रतिरोधों के अभाव में यह बची खुची हरियाली को भी निगलता जा रहा है।

जनसंख्या के दृष्टिकोण से इस मरुस्थलीय इलाकों में उत्पादकता न्यूनतम होने के बावजूद प्रति वर्ग कि० मी० 64 लोगों की आबादी है जिसका मुख्य कारण पशुपालन समृद्ध होना है, चारे की कमी होना वाजिब है और इससे न तो चारागाह विकसित हो पाते हैं, न ही पड़े-पौधे पनप सकते हैं। इसी कारण रेगिस्तान का फैलाव जारी रहता है।

मनुष्य व पशुधन की तादाद के मुताबिक भूमि का अनुपात तेज़ी से बिगड़ रहा है। चारा-गाह व वन भूमि का कृषि में उपयोग बढ़ने से पशुधन अपने चारे के लिए हरी-हरी भूमि का इस्तेमाल करने जा रहे हैं। इससे बंजर व ऊसर भूमि बढ़ने के साथ भू-जल स्तर भी तेज़ी से घट रहा है।

स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से अधिकांश जनसंख्या अशिक्षा के कारण कुपोषण का शिकार है। यहाँ साक्षरता, देश की 30 प्रतिशत साक्षरता की तुलना में 23 प्रतिशत ही है। अफ़ीम व देशी शराब की लत ग्रामीणों को अशक्त व लाचार बनाए हुए है। भू-जल अत्यन्त खारा है। जहाँ एक ओर जानवर विशेषकर गाएँ और बछड़े सान्द्र नाइट्रेट युक्त जल के पीने से मरते हैं वहीं कई लाख लोग इसमें व्याप्त अधिक फ्लोराइडयुक्त जल के पीने से 'फ्लोरोसिस' नामक बीमारी से पीड़ित हैं। दूसरी ओर तालाब, बावड़ी और अन्य स्रोतों से प्राप्त दूषित जल पीने से हैजा, मियादी बुखार, दस्त व पेचिश, पीलिया और बाला रोग (नारु) से पीड़ित होना प्रत्येक वर्ष की कहानी है। खारे पानी के पीने से पेट में पथरी रोग भी सूचित किए जाते रहे हैं।

अकाल के समय खाद्यान्न अत्यधिक मँहगे हो जाते हैं, जिसके कारण यहाँ के निवासी पेड़-पौधों की पत्तियाँ, घास के बीज व अन्य वनस्पतियों के फूल-फल व जड़ों को खाते हैं, जिनसे उनकी क्षुधा शान्त तो हो जाती है परन्तु अत्यधिक सेवन से दस्त, पेचिश व कुपोषण जनित अन्य रोग जैसे खून की कमी, चर्म रोग एवं जलंधर आदि रोगों से ग्रसित हो जाते हैं।

मरुस्थलीय विकास को रोकने में यहाँ के **विश्नोई समुदाय** के लोगों ने अभूतपूर्व भूमिका निभाई है। इन लोगों ने वन्य जीवों और पेड़ों के संरक्षण का व्रत ले रखा है। ये **श्री सुन्दरलाल बहुगुणा** के 'चिपको आदोलन' की भाँति पेड़ों की कटाई विशेषकर मरुभूमि के 'कल्प-वृक्ष' **खेजड़ी** की रक्षा करते हैं। इनके गाँवों के निकट हिरणों, नीलगाय, चौसिंहा, मोर, सांभर, काले हिरण आदि के झुंड देखे जा सकते हैं। इनका प्रमुख पेशा दूध-व्यापार और कृषि है। प्रत्येक वर्ष खेजड़ली मेले का आयोजन कर पशु और पेड़ों की रक्षा करने का वचन दोहराना नहीं भूलते।

राजस्थान में वर्षा 3-4 वर्षों में ही पर्याप्त हो पाती है। 1988-1989 का वर्ष भी अकाल वर्ष रहा। यह यहाँ का दुर्भाग्य है कि हर आठवें वर्ष की भीषणतम वर्षा बाढ़ की स्थिति पैदा कर तबाही मचा देती है। इस वर्ष की भी यही स्थिति त्रिकाल पड़ने के उपरांत नज़र आ रही है। त्रिकाल अर्थात् अन्नकाल, जलकाल एवं तृणकाल ने 1985-1988, में अपना प्रभाव बरकरार रखा। इस समय केन्द्रीय व राजस्थान सरकार ने करोड़ों रुपयों की सहायता चारे एवं भोजन के रूप में तथा पेयजल व्यवस्था द्वितीय श्रेणी के नगर जोधपुर में भी मालगाड़ी द्वारा करानी पड़ी। अकाल स्थिति में चौपाए बड़ी मात्रा में काल के गाल में समा जाते हैं तथा बड़ी संख्या में चौपाओं सहित चरवाहे निकटवर्ती राज्यों में पलायन कर जाते हैं।

मरुस्थलीय पर्यावरण : कानूनी संरक्षण—राजस्थान सरकार द्वारा वन संरक्षण के लिए अधिनियम 1953 लागू किया हुआ है जिसके प्रावधानों के अधीन इन अधिनियमों के उल्लंघन

करने पर कारावास एवं आर्थिक दण्ड के प्रावधान रखे गये हैं परन्तु अवैध रूप से हरे वृक्षों का काटना बढ़ता ही जा रहा है। राजस्थान काश्तकारी अधिनियम 1955 के अध्याय सात में वृक्षों की सुरक्षा हेतु प्रावधान दिए गये हैं। हमारे देश की स्वतंत्रता के बाद से ही भूमि संरक्षण, वन एवं वन्य जीवन की रक्षा, जन स्वास्थ्य आदि को बढावा देने के लिए राष्ट्रीय कार्यक्रम बनाते जा रहे हैं, परन्तु मरुस्थलीकरण-पर्यावरण संबन्धी मुद्दों पर विशेष ध्यान सन् 1972 के स्टाक होम सम्मेलन के बाद से ही दिया गया है। सन् 1972 में राष्ट्रीय पर्यावरण नियोजन और समन्वय समिति का गठन किया गया है। सन् 1981 में वायु प्रदूषण निवारण एवं नियंत्रण अधिनियम 1981 लागू किया गया है। 1985 में केन्द्रीय सरकार द्वारा पर्यावरण वन मंत्रालय अलग से स्थापित किया गया है एवं इस मंत्रालय के अधीन दो विभाग पर्यावरण तथा वन एवं वन्य प्राणी विभाग कार्यरत हैं। अभी हाल ही में 'पर्यावरण (संरक्षण) अधिनियम 1986' भारत सरकार द्वारा लागू किया गया है। इस अधिनियम द्वारा सजा के प्रावधानों में कठोरता लाई गई है। परिणामस्वरूप गीली लकड़ियों से भरे हुए ट्रक, पक्षियों और जानवरों के शिकार, जो आम दिनों की घटनाएँ थीं, उनमें कमी आई है। मरुस्थलीकरण के विकास में कमी लाने में ये कानून निश्चित रूप से कारगर सिद्ध होंगे।

मरुस्थलीकरण पर्यावरण : अनुसंधान व विकास कार्यक्रम—भारत सरकार ने 1959 में जोधपुर में 'केन्द्रीय कक्ष अनुसंधान संस्थान' की स्थापना की है। इस संस्थान में रेगिस्तान की रोकथाम, पशुपालन, खाद्यन्नों की नई जातियाँ व उपजातियाँ और रेगिस्तान में उगाये जाने वाले पौधों के विषय में महत्त्वपूर्ण अनुसंधान किये हैं। अनेक प्रकार के बीज, फल और जानवरों की नई नस्ल का भी विकास किया है। 'लैब टू लैण्ड' कार्यक्रम के अन्तर्गत ये शोधकार्यों के परिणाम संचार माध्यमों के द्वारा आम जनता में पहुँचाये जाते हैं, जिससे मानव समाज द्वारा उत्पन्न की गई रेगिस्तानी विकास को रोका जा सके। इंदिरा गाँधी नहर का निर्माण भी निश्चय ही मरुभूमि में 'हरित क्रांति' ला रेगिस्तानी विकास को रोकने में कारगर सिद्ध होगी।

इस मरुस्थल ने 1965 और 1971 के भारत-पाक युद्ध अपनी आँखों से देखे हैं। इसके साथ नित्यप्रति होने वाले सैनिक युद्धाभ्यास, परमाणुबम का पोकरण में परीक्षण, तेल और प्राकृतिक गैस आयोग एवं ऑयल इंडिया लिमिटेड के बड़े पैमाने पर खोज इसके सीने को चीरते आ रहे हैं। शिकारी और अन्य धन लोलुप लोग जानवरों की खालों और आनन्द के लिए वन्य जीवों का निरन्तर हनन कर रहे हैं। इधर कुछ समय से तस्करों व आतंककारियों की गति-विधि सीमा पार से बढ़ी है और अरबों का शिकार के लिए आना सर्वविदित है, जिस पर भारत सरकार ने रोक लगा दी है। ठेकेदार व बढ़ती जनसंख्या ईंधन के लिए पेड़ों को लगातार काट-काटकर भूमि को नग्न बनाए दे रहे हैं। इमारती पत्थर (छीण), जिप्सम, और लाइमस्टोन से सम्बन्धित चूने व सीमेण्ट के उद्योग और अन्धाधुन्ध खनिजों का खनन यहाँ के मरुस्थलीकरण विकास में निरंतर असन्तुलन ला रहा है। वन्य जीव कम हो रहे हैं व पलायन कर गए हैं। परन्तु अनुसंधानों, जन-जागरण, औद्योगिक और आर्थिक विकास, उचित भूमि प्रबंध, जलवायु के मुताबिक विभिन्न क्षेत्रों में कार्यक्रम, क्षेत्रीय वृक्षारोपण, इंदिरा गाँधी नहर के साथ इस मरुस्थलीकरण के प्रसार में कमी आयेगी इसी आशा के साथ व्यवस्था का समन्वय किया जाना वान्छनीय है। □□

प्रदूषण और खाद्य पदार्थ

□ डॉ० बी० अनुराधा

पर्यावरण और प्रदूषण के संदर्भ में खाद्य पदार्थों की भूमिका बहुमुखी मानी जा सकती है। एक ओर जहाँ खाद्य पदार्थ हर प्रकार के पर्यावरणीय प्रदूषण के शिकार होते हैं तो दूसरी ओर पर्यावरण प्रदूषण को बढ़ावा भी देते हैं। प्रदूषकों को शरीर में पहुँचाने में भी इनका योगदान रहता है। यद्यपि पर्यावरण प्रदूषण के विभिन्न पहलुओं पर चर्चा करते समय खाद्य पदार्थों का उल्लेख अवश्य किया जाता है, फिर भी अन्य की तरह खाद्य प्रदूषण अपने आप में एक मुद्दा बनकर सामने कभी-कभी ही आया है। दैनिक जीवन और मानव अस्तित्व का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पहलू होते हुए भी इस विषय के प्रति जागरूकता कुछ कम ही दिखाई देती है। इसलिए बस्ती ज़िला कांड' (जिसमें प्रदूषित गेहूँ के कारण 150 से भी अधिक मौतें हुईं) जैसे विषाहार के हादसों के बावजूद कोई जन-आंदोलन या संगठित अभियान का आरंभ नहीं हुआ। कुछ घटनाएँ अखबारों की सुर्खियों में अवश्य चढ़ीं, परन्तु जनता की प्रतिक्रिया स्थायी नहीं रहीं। खाद्य प्रदूषण की समस्या "उपभोक्ता संरक्षण" तक सीमित रह गयी। समाचार पत्रों में इसकी छिटपुट चर्चाएँ होती रहीं। परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि समस्या की बिलकुल पहचान ही नहीं है, क्योंकि विभिन्न अनुसंधान संस्थाओं एवं नियंत्रण संगठनों में इस विषय के हर पहलू पर शोध और नियंत्रण की परियोजनाएँ चल रही हैं। फिर खाद्य प्रदूषकों से होने वाली हानियों के बारे में खुल कर चर्चा नहीं होती। सरकार वैज्ञानिक परीक्षणों के दौरान प्राप्त संकेतों के बावजूद पूरे सबूत और आँकड़ों के सहारे अंतिम निष्कर्ष पर पहुँचने तक चेतावनी देने से इसलिए कतराती है कि जनसाधारण अनावश्यक भय से आतंकित न हो। जनहित को देखते हुए "संयम" बरतना उचित ही है। परन्तु जन-साधारण को पूरे अंधकार में रखना उचित नहीं है। अच्छा यही होगा कि वस्तुस्थिति से उसका परिचय कराया जाए। ताकि इन संकेतों के आधार पर भविष्य की आशंकाओं का पूर्वानुमान करके वे विवेक से काम ले सकें।

कुछ वर्गों के अनुसार अन्य प्रदूषकों की तुलना में खाद्य प्रदूषण की समस्या उतनी गंभीर नहीं है। लेकिन स्मरण रहे कि जब आधुनिक कृषि विकास और औद्योगिकीरण की योजनाएँ शुरू हुईं, तब "प्रदूषण" समस्या का अस्तित्व नहीं था और भविष्य में उसकी संभावना पर शायद ही किसी का ध्यान गया है। उस अदूरदर्शिता के परिणाम आज हमारे सामने हैं। कृषि विकास और खाद्य संसाधन उद्योग के निरंतर विकास और बदतर बनते जा रहे पर्यावरण को देखते हुए लगता है कि खाद्य पदार्थों के क्षेत्र में भी स्थिति इससे भिन्न

वैज्ञानिक, जनसम्पर्क एवं प्रचार, केन्द्रीय खाद्य एवं प्रौद्योगिक संस्थान, मैसूर-570013

नहीं हो सकती । अतः रोकथाम के सघन प्रयासों के साथ-साथ जन-साधारण में जागरुकता पैदा करने के लिए उन्हें वस्तुस्थिति से अवगत कराना अनिवार्य है ।

प्रदूषक के रूप में खाद्य-पदार्थ

उत्पादन में वृद्धि और संसाधन उद्योग के विकास के साथ खाद्य-पदार्थ स्वयं प्रदूषक बन कर समस्या से जुड़ गए हैं । भंडारण, परिवहन और वितरण प्रणाली की, कभी-कभी संसाधन प्रक्रिया की त्रुटियों के कारण काफी मात्रा में खाद्य पदार्थ विशेषकर फल, तरकारी, मांस-मछली और डेरी उत्पाद खराब हो कर व्यर्थ हो जाते हैं । स्थूल अनुमानों के अनुसार हमारे देश में उत्पादित फलों का चौथा भाग यूँ ही सड़कर नष्ट हो जाता है । पशुपालन केन्द्र, कुक्कुट पालन केन्द्र, छोटे मोटे डेरी और वधशालाओं से निकलने वाले धोवन, मल-मूत्र, छीछड़े, हड्डियाँ, खून, कतरन जैसे व्यर्थ पदार्थों को भी वैसे ही जहाँ जगह मिले वहीं फेंक दिया जाता है । खाद्य संसाधन के बड़े-बड़े कारखाने लाखों हज़ारों टन ठोस व्यर्थ पदार्थ और व्यर्थ पानी तरल पदार्थ का उत्पादन करते हैं । सिर्फ फल संसाधन उद्योग से हर वर्ष लगभग 1·5 लाख टन से अधिक मात्रा में ठोस व्यर्थ पदार्थ निकलते हैं । अक्सर इन ठोस पदार्थों को नगरपलिका के कूड़े के साथ शहर के बाहर फेंक दिया जाता है और पानी एवं अन्य द्रवों को गंदी नालियों में या नज़दीकी नदी-तालाबों में, खेत-बाग़ों में बहा दिया जाता है । वसा, कार्बोहाइड्रेट, खनिज लवण जैसे पोषक तत्व होने के कारण, ये व्यर्थ पदार्थ शीघ्र सड़ कर हवा में बदबू, परिसर में गंदगी फैलाते हैं, मच्छर, मक्खी, और कई अन्य हानिकारी जीवों की वृद्धि को बढ़ावा देते हैं । धोवन पानी और तरल व्यर्थ पदार्थ तालाब, नदी में पानी को प्रदूषित कर वहाँ पल रही मछली आदि के लिए खतरा बन जाते हैं । इन स्थितियों से सचेत शासन पर्यावरण (सुरक्षा) अधिनियम, फल उत्पाद आदेश जैसे कई कानून और नियम बना कर प्रदूषण रोकने का प्रयास कर रहा है । इन नियमों के अन्तर्गत कारखाने से निकासी के पहले व्यर्थ पदार्थों का उपचार करके उनमें बायोकेमिकल ऑक्सीजन डिमांड (BOD) यानी जीव रसायनी ऑक्सीजन ग्रहण क्षमता कम करना, ठोस पदार्थों के उपचार और निकासी की विशेष व्यवस्था करना आदि शामिल हैं । इन नियमों की अनिवार्यता और उल्लंघन के लिए कड़ी सज़ा के प्रावधान के बावजूद उपचार और निकासी पर होने वाले ऊँचे व्यय और बाहरी दबावों के कारण निरीक्षण एजेंसियों की बढ़ती उदासीनता इनके सही अनुपालन में बाधा डाल रहे हैं । उत्पादों की तरह कारखानों से प्राप्त व्यर्थ पदार्थों में भी काफी भिन्नता होने के कारण उपचार या पुनरुपयोग के लिए उपयुक्त प्रबन्ध करना भी समस्या हो जाती है । अतः व्यय को कम करने के लिए वैकल्पिक विधियाँ ढूंढ़ना आवश्यक हो गया है । अनुसन्धान कार्य के फलस्वरूप व्यर्थ पदार्थों की निकासी या उपचार की कई प्रभावशाली तकनीकें सामने आयीं । इनमें प्रमुख हैं भौतिक, रसायनिक और जीववैज्ञानिक उपचारों के सहारे व्यर्थ पदार्थों का आयतन (परिमाण); सांद्रता और क्रियाशीलता को कम करना, पानी का उपचार कर पुनः उपयोग योग्य बनाना आदि । कारखाने के विन्यास, मशीन-यंत्रों की सज्जा और उनमें छलनी, स्क्रीन ट्रैप जैसे गौण पर, प्रभावशाली पुर्जे अतिरिक्त जोड़ना, आधुनिक वद्यशालाओं की स्थापना आदि

उपाय शामिल हैं। नीरी (NEERI), नागपुर में विकसित सरल और सस्ते उपाय इस दिशा में सहायक हो सकते हैं। श्रेष्ठ किस्म का कच्चा माल, उपयुक्त संसाधन तकनीक और कुशल मशीनों का चुनाव भी व्यर्थ पदार्थ के उत्पादन को कम करने में सहायक होते हैं।

व्यर्थ पदार्थों का सार्थक उपयोग

पर्यावरण प्रदूषण को रोकने का सशक्त और आर्थिक दृष्टि से लाभकर उपाय है— व्यर्थ पदार्थों से अन्य उपयोगी उत्पाद तैयार करना। प्रचुर मात्रा में कार्बनिक और पोषक तत्व होने के कारण किसी अन्य उत्पाद के लिए कच्चे माल के रूप में उनका उपयोग संभव है। देश की कई अनुसन्धान संस्थाएँ इन संभावनाओं को वास्तविकता का रूप देने की कोशिश कर रही हैं। फल, मांस, मछली आधारित व्यर्थ पदार्थों से बयोगैस उत्पादन, पशु-चारा या कुक्कुट चारा बनाना, नींबू वर्गीय फलों से तेल, पेक्टिन, कैल्शियम सिट्रेट का उत्पादन, कई किस्म के फलों से सिरका शक्कर कारखानों के शीरे से एल्कोहॉल, झींगा मछली संसाधन में काइटोजन का निर्माण, आम की गुठली से वसा आदि इसके कुछ उदाहरण हैं। गन्ना रस की तलछटी/चाय कारखानों में मिलने वाली बेकार चाय पत्ती से निकलने वाला रसायन "एन ट्रायाकांटनाल [सीएफटीआरआई प्रविधि] खाद्य उद्योग से प्राप्त व्यर्थ पदार्थों की सार्थकता का एक उज्वल उदाहरण है। कई फ़सलों की पैदावार में अप्रत्याशित वृद्धि करने वाला यह रसायन अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में बहुत ऊँचे भाव बिकता है। जैव-प्रौद्योगिकी भी इस दिशा में नए रास्ते खोल रही है। परन्तु हर कारखाने में व्यर्थ पदार्थों के उपयोग के लिए संयंत्र लगाना प्रचालन और आर्थिक दृष्टि से न व्यावहारिक है, न फ़ायदेमंद। परन्तु अलग से स्वतंत्र इकाइयाँ लगने पर कच्चे माल की समस्या होती है। इस के समाधान के लिए हाल ही में सुझाव दिया गया कि देश में खाद्य उद्योग से मिलने वाले व्यर्थ पदार्थों की सूचना और विनिमय सेवा आरम्भ किया जाए। सब्सिडी, कम ब्याज पर ऋण, करों में रियायत जैसे उपाय व्यर्थ आधारित उद्योगों को बढ़ावा देते हैं।

नुक्कड़ और गलियों में पकी पकायी चीजें, कटे फल, सलाद, शर्बत आदि बेचने वाली चलती फिरती दूकानें, छोटे रेस्टरेट, ढाबे शहरों में लोकप्रिय होते जा रहे है। ये दूकानें अपने माल यानी खानपान की चीजों को ही नहीं परिसर और पर्यावरण को भी गंदगी से दूषित करने में पीछे नहीं रहतीं। शहरों में सर्वत्र फैली हुई इन इकाइयों का मिलाजुला प्रभाव जन-स्वास्थ्य पर कहर ढा सकता है। परन्तु इन इकाइयों की लोकप्रियता और स्वरोज़गार क्षमता को देखते हुए रोक भी नहीं लगाया जा सकता। लेकिन इनसे प्रदूषण कम करने के उपाय तो अवश्य कर सकते हैं। स्वरोजगार अभियान के अन्तर्गत आज कल चावल मिल, दाल मिल, आटा चक्की जैसी कई इकाइयाँ आवास स्थानों पर चलायी जा रही हैं। इन से होने वाले वायु प्रदूषण और ध्वनि प्रदूषण की ओर भी ध्यान देना होगा।

खाद्य पदार्थों का प्रदूषण

विशेष परिस्थिति के कारण या संयोग से खाद्य पदार्थों में बाहरी हानिकारी तत्व का मिल जाना संदूषण (Contamination) या प्रदूषण (Pollution) कहा जाता है।

अक्सर यह संदूषण उत्पादन, भंडारण, संसाधन या खानपान के समय होता है और दूषित खाद्य पदार्थों से इन तत्वों को अलग करना लगभग असंभव है। संदूषण के दुष्प्रभावों को विषाक्तता (Toxicity) कहा जाता है। संदूषण के भी कई स्रोत हैं परन्तु इन सब की जड़ में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पर्यावरण प्रदूषण की भूमिका देखी जा सकती है।

(1) **सूक्ष्मजीवी संदूषण** : हमारा परिवेश कई प्रकार के सूक्ष्मजीवों से भरा पड़ा है। खाद्य-पदार्थों के संपर्क में आने पर कुछ जीव उन पर आश्रय लेते हैं और पोषक तत्व और नमी जैसे अनुकूल परिस्थितियों के कारण शीघ्रता से बढ़कर विषैले तत्व निसरने लगते हैं। कुछ जीवाणु खाद्य पदार्थों के द्वारा शरीर में प्रवेश करने के उपरांत विषैले तत्व निसारते हैं। खाद्य पदार्थों को दूषित करने वाले सूक्ष्मजीवों में **सालमनेला, स्टेफलोकोकस, बेसिलस** आदि प्रमुख हैं। इनकी विषाक्तता के प्रभाव से आदमी को दस्त, अतिसार, मतली, सरदर्द, थकावट आदि शिकायते होती हैं। अक्सर इन विषैले तत्वों का प्रभाव तीव्र, पर कम समय का होता है। **बोटुलिनम** जैसे कुछ जीवाणुओं की विषाक्तता घातक भी हो सकती है। कच्चे फल, सब्जियों पर अगर जीवाणु पहले से ही मौजूद हैं, तो वे डिब्बा-बन्दी के समय ठीक तरह से संसाधित न होंने पर बच निकलते हैं और बढ़कर एक जहरीला तत्व निसार कर डिब्बाबन्द उत्पाद को भी विषैला बना देते हैं। इसे खाने पर चक्कर, सर दर्द, पेट में दर्द और थकावट होने लगती है। पक्षाघात से हृदय या श्वासनली की गति रुक कर मौत होती है। खुले हुए खाद्य पदार्थ टायफायड, पैराटायफायड जैसे रोग पैदा करने वाले रोगाणुओं से दूषित होते हैं। इस दिशा में फफूंद भी पीछे नहीं है। मूंगफली जैसे कई आम उपयोगी खाद्य पदार्थ **एस्परजिलस** फफूंद द्वारा निसारित एफ्ला-टॉक्सिन विष से दूषित हो कर कैन्सर और यकृत सम्बन्धी बीमारियों का कारण बनते हैं।

(2) **कीटनाशक रसायनों से** : कीटनाशक और कवकनाशक रसायन एक ओर खेतों, भंडार एवं परिवहन में खाद्य पदार्थों की रक्षा करते हैं तो दूसरी ओर संदूषण की समस्या को बढ़ा रहे हैं। खाद्य प्रदूषण के संदर्भ में डी डी टी, बी एच सी, मेलेथियान आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अवशिष्ट खाद्य पदार्थों के ऊपर जमकर धीरे-धीरे अन्दर प्रवेश कर उनका अंग बन जाते हैं। छिड़काव के समय जमीन में सोखकर आसपास के जल-स्रोतों को प्रदूषित करते हैं और वहाँ पलने वाली मछली, केकड़े जैसे जल-जीव और फल-सब्जियाँ इस विषाक्तता को हमारी रसोई में पहुँचा देते हैं। 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' के प्रतिवेदन के अनुसार गेहूँ, चावल, दाल, मूंगफली, मछली, मांस, दूध, मक्खन आदि कई खाद्य पदार्थों में इन रसायनों के अवशिष्ट पाये जाते हैं और अधिकतर संदर्भों में उनकी मात्रा अनुमोदित स्तर से कहीं अधिक होती है। औसत भारतीय के भोजन में लगभग 0.27 मि. ग्रा. और उसके ऊतकों में 21.1 से 31 पी. पी. एम. के हिसाब से डीडीटी के अवशिष्ट पाये जाते हैं। दूसरी ओर देश में कीटनाशक रसायनों के प्रयोग में हर वर्ष 8 प्रतिशत की वृद्धि हो रही है। विकासशील देशों में कीटनाशक पदार्थों के कारण हर वर्ष लगभग 4 लाख लोग प्रभावित होते हैं और लगभग 10000 की मृत्यु होती है। इनमें से एक तिहाई घटनाएँ भारत में घटती हैं। हाल ही में उत्तर प्रदेश के बस्ती जिला (रायपुर) में कीटनाशक रसायन से दूषित

गेहूँ के कारण 150 से भी अधिक व्यक्तियों की मृत्यु हुई। कर्नाटक राज्य के चिक्कमगलूर से मिले समाचार के अनुसार वहाँ धान के खेतों से पकड़े गए केकड़े खाने से अनेक मौतें हुईं। कारण छिड़काव से पानी का प्रदूषण। चारे के जरिए गाय, भैंस के शरीर में पहुँच कर दूध के ज़रिए ये हमारे शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। शिशुओं के लिए अति उत्तम माना जाने वाला माँ का दूध भी इस प्रदूषण से बच नहीं पाया है। ये कीटनाशक रसायन गुर्दे, यकृत, मस्तिष्क और नाड़ी तंत्र को प्रभावित करते हैं, दीर्घकालिक और तीव्र प्रभाव से मौत होती है।

इन समस्याओं का समाधान निरापद वैकल्पिक विधियों के विकास में है। इस में कई संस्थानों में हो रहा शोध कार्य आशाएँ जगा रहा है। भारत सरकार के बायोटेक्नोलॉजी विभाग ने नियन्त्रण के लिए जैव-प्रौद्योगिकी विधियाँ विकसित करने के लिए एक पंचवर्षीय शोध परियोजना शुरू की है। सीएफटीआरआई, मैसूर द्वारा विकसित ट्राइ कैल्शियम फॉस्फेट, एक्टिवेटेड क्ले, फ़ेरामोन ट्रैप, भारतीय रसायन प्रौद्योगिकी संस्थान, हैदराबाद का अटापुलगैट बेस्ड क्ले डस्ट ((ABCD) एवं नीम तेल आधारित वेपोसाइड और, राष्ट्रीय रसायन प्रयोगशाला पुणे द्वारा नीम से तैयार किए हुए नीमरिच—1 और नीमरिच—2 निरापद कीटनाशकों के कुछ उदाहरण हैं।

लेकिन पर्याप्त संख्या में ऐसी वैकल्पिक विधियों का विकास और प्रसार होने तक इस समस्या की गंभीरता को बढ़ने से रोकने या कम करने के कुछ उपाय हैं—उनके विवेकपूर्ण प्रयोग की दिशा में प्रयोक्ताओं को शिक्षित करना, खाद्य पदार्थों को सन्दूषणमुक्त (Decontamination) करने की सरल विधियाँ निकालना। जैसे मूँगफली तेल को एफ्लाटाक्सिन से मुक्त करने के लिए सी. एफ. टी. आर. आई. द्वारा विकसित धूप उपचार विधि और फिल्टर पैड।

(3) **धातुई संदूषण** : बढ़ते औद्योगिक प्रदूषण के कारण खाद्य पदार्थों में धातुई संदूषण की समस्या गम्भीर होती जा रही है। केन्द्रीय प्रौद्योगिक खाद्य अनुसंधान संस्थान, मैसूर में सम्पन्न विश्लेषण कार्य से संकेत मिलता है कि अक्सर खाद्य पदार्थ सीसा, अल्युमिनियम, टिन आदि भारी धातुओं से संदूषित होते हैं। आकर्षक रंग लाने के लिए सीसा आधारित रंगों से उपचारित हल्दी, शीतल पेय, सांद्र सीसा आधारित छिड़कावों से उपचारित फल सब्ज़ी जैसे कई खाद्य पदार्थ वाहक बन कर इस तत्व को शरीर में विषाक्तता के स्तर तक पहुँचाते हैं। मोटर वाहनों द्वारा छोड़ी जानेवाली धुँआ और सीसे की नल से आनेवाला पानी भी खाद्य पदार्थों को दूषित कर सकता है। सड़क के पास लगी हुई सब्ज़ियों में सीसा की मात्रा अधिक पायी जाती है। शरीर में तीव्र विषाक्तता पहुँचाने वाला एक अन्य धातु संदूषक है पारा। हाइड्रोक्लोरिक अम्ल जैसे रसायन का उत्पादन करनेवाले कारखानों से जो तरल व्यर्थ पदार्थ निकलता है उसमें रहने वाला पारा का एक घातक कार्बनिक यौगिक "मिथाइल मर्कुरियल" जल-स्रोतों को प्रदूषित कर देता है। वहाँ पलनेवाली मछली अपने साथ इस तत्व को मानव के शरीर में पहुँचा देती है। केन्द्रीय नाड़ी तंत्र को बुरी तरह प्रभावित करनेवाले इस तत्व की विषाक्तता के कारण मस्तिष्क सम्बन्धी विकृतियाँ होती हैं

जैसे अंधापन, बहरापन, कँपकँपी, मिरगी, सरदर्द इत्यादि। जल और वायु के जरिये खाद्य पदार्थों को दूषित करनेवाला एक अन्य धातु है कैड्मियम। मानव शरीर में पहुँचने पर यह गुर्दों में जमने लगता है और सहिष्णुता स्तर से अधिक हो जाने पर यकृत, मूत्र-वाहिकाओं और वृषण को हानि पहुँचती है। लंदन से प्रकाशित एक समाचार के अनुसार डिब्बाबंद शिशु दुग्धाहार के कारण वहाँ हज़ारों नवजात शिशु अल्युमिनियम विषाक्तता के शिकार हो रहे हैं, जो उनके मस्तिष्क और हड्डियों के विकास में बाधा डालती है। डिब्बाबंदी के समय खाद्य पदार्थ की प्रकृति के उपयुक्त किस्म की टीन का प्रयोग न हुआ हो तो टीन और खाद्य पदार्थ में परस्पर प्रतिक्रियाओं के परिणाम में टीन का अंश घुल कर खाद्य-पदार्थों मे मिल जाता है और उसे विषैला बना देता है। खाद्य-पदार्थों में धातु संदूषण की गम्भीरता से सजग सरकार ने कई अनुसंधान संस्थाओं के सहयोग से इस संदूषण पर नियन्त्रण रखने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर अनुसन्धान, विश्लेषण और नियन्त्रण परियोजना आरम्भ की है।

(4) **संसाधन सम्बन्धी अन्य संदूषण** : गुणवत्ता बढ़ाने के लिए सम्पन्न कुछ प्रक्रिया और प्रयुक्त पदार्थ कभी-कभी गुणवत्ता बढ़ाने के साथ कुछ बुरे प्रभाव भी छोड़ते हैं। फलों को पकाने और रंग निखारने के लिए, मांस, मछली आदि का रंग, स्वाद उभरने के लिए लकड़ी के कोयले का धुँआ दिया जाता है। इस धुँए में होनेवाले फिनोल, अम्ल, क्षार आदि तत्व उपचारित पदार्थ को संदूषित कर स्वास्थ्य के लिए खतरा पैदा कर सकते हैं। धुँए का कार्बनिक पॉलीमाइक्लिक हाइड्रोकार्बन कैंसर-जनक है। तेल निसारण के लिए प्रयुक्त कई विलायक अपने आप में सुरक्षित होते हुए भी उपचारित खाद्य पदार्थ के सम्पर्क में आने पर विषैले तत्वों का उत्पादन कर सकते हैं। खाद्य संसाधन के समय अक्सर नाइट्रेटों का प्रयोग होता है जो खाद्य पदार्थों में बहुधा पाये जानेवाले अमीनों के साथ मिलकर कैन्सरजनक नाइट्रोसो अमीन का उत्पादन करते हैं। उत्पादन बढ़ाने के लिए खेतों में नाइट्रोजन आधारित रसायनिक उर्वरकों के कारण भी खाद्य पदार्थों में नाइट्रेट तत्व आ जाता है जो शरीर में पहुँचने के उपरांत कैन्सरजनक तत्वों में परिवर्तित संयोजियों से खाद्य पदार्थों के संदूषण का एक बहुत चर्चित उदाहरण है। शीतल पेयों में अब तक प्रयुक्त हो रहे ब्रोमिनेटेड वेजिटेबल ऑयल पॉलीविनाइल क्लोराइड जैसे पैकेजिंग सामग्री भी गलत इस्तेमाल होने पर खाद्य पदार्थों से मिलकर या अपने आप में क्रियान्वित होकर उनमें हानिकर तत्वों का उत्पादन कर लेतो है। इसी प्रकार टिकाऊ और मज़बूत बनाने के लिए मिलाये गए रेज़िन भी कागज़ से निकल कर खाद्य पदार्थों में निकल आते हैं।

इन तथ्यों से स्पष्ट है कि खाद्य संदूषण की समस्या के समाधान के लिए बहुमुखी और व्यापक प्रयास की आवश्यकता है। संप्रति समस्या उतनी गंभीर और डरावनी नहीं है। परन्तु खाद्य संसाधन के विस्तार की संभावनाओं के अलावा पर्यावरण सम्बन्धी अन्य समस्याएँ इसे अवश्य गम्भीर बना सकती हैं। अतः विवेक इसी में है कि अभी से इसकी ओर आवश्यक ध्यान दें।

□□

दूषित वायुजन्य रोग

□ डॉ० विजय कुमार श्रीवास्तव

हमारे जीवित रहने के लिए हवा बहुत ही आवश्यक है। उतना ही आवश्यक है हवा का शुद्ध और प्रदूषण रहित होना। मनुष्य के लिए हवा के महत्व का अनुमान केवल इस बात से लगाया जा सकता है कि जहाँ एक वयस्क और स्वस्थ मनुष्य के लिए प्रतिदिन औसतन 1 37 किलोग्राम खाद्य पदार्थ और 2:05 किलोग्राम पानी की आवश्कता होती है, वहीं उसकी हवा की दैनिक आवश्यकता लगभग 13.64 किलोग्राम होती है। जीवन की अन्य आवश्यकताओं की तुलना में शरीर को हवा अनचाहे, बिना किसी प्रयास के और लगातार मिलती रहती है। हवा के इसी गुण के कारण वायु प्रदूषण का महत्व काफ़ी बढ़ जाता है। वैज्ञानिकों के अनुसार मनुष्य बिना खाना खाये 5 सप्ताह तक और बिना पानी पिये 5 दिन तक जीवित रह सकता है। परन्तु हवा के बिना 5 मिनट से अधिक ज़िन्दा नहीं रहा जा सकता है। हवा न केवल हमें ज़िन्दा रखती है बल्कि आँखें देखने का काम, कान सुनने का काम और नाक सूँघने का काम कर सकें इसके लिए भी हवा बहुत आवश्यक है। इसीलिए हवा के दूषित होने से हमारी देखने और सूंघने की क्षमता भी प्रभावित होती है।

अन्य सभी प्रकार के प्रदूषण के समान ही वायु प्रदूषण भी अब केवल विकसित और अमीर देशों की समस्या नहीं है, बल्कि भारतवर्ष जैसे विकासशील देश में भी वायु प्रदूषण ने हानिकारक और भयावह रूप ले लिया है। वायु प्रदूषण भी मनुष्य की गतिविधियों की ही देन है। औद्योगिकीकरण, वाहनों की बढ़ती हुई संख्या और घरों में जलाया जाने वाला ईंधन वायु प्रदूषण के लिए प्रमुख रूप से ज़िम्मेदार है। भारत में वायु प्रदूषण की ओर सबसे पहले लोगों का ध्यान 1972 में उस समय आकर्षित हुआ था जब **ताजमहल** से केवल 40 किलोमीटर दूर मथुरा में तेल शोधक कारखाना लगाने का निर्णय लिया गया था।

'विश्व स्वास्थ्य संगठन' के अनुसार वायु प्रदूषण वह स्थिति होती है जब घर के बाहरी वातावरण में बहुत से पदार्थों की सान्द्रता इतनी अधिक हो जाती है कि वह मनुष्य और वातावरण के लिए हानिप्रद हो जाती है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में यह परिभाषा अधूरी है क्योंकि इसमें घर के अन्दर ही ईंधन (लकड़ी, गोबर तथा खेतों से प्राप्त फ़सलों के व्यर्थ भाग) जलाने से उत्पन्न होने वाले प्रदूषणकों को शामिल नहीं किया गया है। विश्व भर में वातावरण में वायु प्रदूषकों की मात्रा बहुत तेज़ी से बढ़ती जा रही है। 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' की एक विशेषज्ञ समिति की एक रिपोर्ट में यह चेतावनी दी गयी है कि "पृथ्वी

वरिष्ठ अनुसंधान अधिकारी, भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसंधान परिषद्, अंसारी नगर, नई दिल्ली—110029

का वातावरण सीमिति है और इसकी स्वयं को स्वच्छ रखने की क्षमता भी सीमित है।" इसलिए प्रदूषकों की बढ़ती हुई मात्रा का असर हमें ही झेलना होगा।

वायु प्रदूषण के स्रोत

भारत में वायु को प्रदूषित करने वाले प्रमुख स्रोत निम्न हैं—

ताप बिजलीघर

भारत के सभी ताप बिजलीघर कोयले पर आधारित हैं। देश में सबसे अधिक वायु प्रदूषण ताप बिजलीघरों से होता है। इनसे निकलने वाले प्रमुख प्रदूषक पदार्थ हैं—इनसे उड़ने वाली राख, और सल्फर डाइऑक्साइड। हालाँकि भारतीय कोयले में गंधक की मात्रा कम होती है परन्तु इनमें राख की मात्रा अधिक होती है। इस राख में आर्सैनिक, कैडमियम, क्रोमियम, पारा, सीसा, मैंगनीज, वैनेडियम, फ्लोरीन और बोरेलियम जैसे अनेक विषैले तत्व होते हैं जो सांस के साथ फेफड़े में पहुँच जाते हैं।

उर्वरक उद्योग

भारतवर्ष में 70 से अधिक उर्वरक कारखाने हैं जो दिन-रात अनेक प्रकार के विषैले पदार्थ हवा में छोड़ते रहते हैं। इन प्रदूषक पदार्थों में फ्लोरीन गैस, सल्फर डाइ-ऑक्साइड, ट्राइऑक्साइड, नाइट्रोजन ऑक्साइड, अमोनिया, अनेक हाइड्रोकार्बन और धूलकण (पार्टिक्युलेट मैटर) प्रमुख हैं।

वस्त्र उद्योग

कपड़ा मिलों में नम वातावरण में काम होता है और उनमें अनेक प्रकार के रसायन प्रयोग में लाये जाते हैं। कपड़ा मिलों से निकलकर हवा को प्रदूषित करने वाले पदार्थों में प्रमुख हैं रुई की धूल, चिमनियों का धुँआ, मिट्टी के तेल की वाष्प, गंधक का अम्ल, नाइट्रोजन ऑक्साइड, क्लोरीन फार्मेल्डीहाइड, और क्लोरीन डाइऑक्साइड। जिन क्षेत्रों में कपड़े की मिलें होती हैं वहाँ पर हवा में दूर-दूर तक कपास के महीन रेशे और कपास की धूल उड़ती रहती है। मिल के कर्मचारियों और उस क्षेत्र के निवासियों के फेफड़ों में ये पदार्थ हवा के साथ पहुँचते रहते हैं।

वाहनों से प्रदूषण

शहरों के निवासियों को वाहनों से होने वाले प्रदूषण की मार सबसे अधिक झेलनी पड़ती हैं और वाहनों की संख्या देश में बेतहाशा बढ़ रही है। एक अनुमान के अनुसार इस वर्ष के अन्त तक देश में प्रतिवर्ष 2 लाख मोटर कारें तैयार होने लगेंगी और 35 लाख दुपहिए स्कूटरों के निर्माण की इजाजत दी जा चुकी है। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के पर्यावरण विभाग के अध्यक्ष **प्रोफेसर जे० एम० दवे** के अनुसार वाहनों से होने वाले प्रदूषण की दृष्टि से दिल्ली की हालत देश में सबसे अधिक शोचनीय है। अकेले दिल्ली में ही प्रतिदिन 5 लाख से अधिक वाहन 400 टन से भी अधिक प्रदूषक तत्व हवा में उगलते हैं। वाहनों से होने वाले प्रदूषकों में कार्बन मोनोऑक्साइड, नाइट्रोजन ऑक्साइड, हाइड्रोकार्बन, एल्हीहाइड, सीसे के ऑक्साइड और सल्फर डाइऑक्साइड प्रमुख हैं।

डीज़ल से चलने वाले वाहनों में धूलकणों और कार्बन अणुओं की मात्रा अधिक होती है जबकि पेट्रोल वाहनों में कार्बन मोनोऑक्साइड, सीसा और नाइट्रोजन ऑक्साइड अधिक होता है।

धूम्रपान

भारतवर्ष में धूम्रपान भी वायु प्रदूषण का प्रमुख स्रोत है और बीड़ी तथा सिगरेट पीने वालों की संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है। सिगरेट और बीड़ी के धुएँ में कार्बन मोनोऑक्साइड, नाइट्रोजन ऑक्साइड, फीनोल, एल्डीहाइड, बेंजोपाइरीन एवं एक्रोलीन जैसे प्रदूषक पदार्थ होते हैं, जो धूम्रपान करने वाले के साथ-साथ आस-पास के लोगों को भी अपनी चपेट में ले लेते हैं।

घरों से होने वाला प्रदूषण

वायु प्रदूषण की बात होने पर सभी का ध्यान चिमनियों से काला धुँआ उगलने वाले कारखानों की ओर ही जाता है। इस सच्चाई की ओर समान्यतः किसी का ध्यान आकर्षित होता ही नहीं है कि भारत में बच्चों, बूढ़ों और महिलाओं को घरों में होने वाले धुँए से सबसे अधिक नुकसान होता है। भारतवर्ष में, जहाँ की अधिकांश आबादी गाँवों में रहती है, ईंधन का प्रमुख स्रोत अभी भी लकड़ी, गोबर और कृषि अपशिष्ट (फ़सलों के बचे हुए डंठल आदि) ही हैं। इनको चूल्हे में जलाने से पैदा होने वाला धुँआ घर भर में फैलता है जो महिलाओं और बच्चों को सबसे अधिक प्रभावित करता है।

शरीर में प्रदूषकों के पहुँचने का मार्ग

विभिन्न प्रकार के प्रदूषक तत्व शरीर में मुख्यतः दो मार्गो से पहुँचते हैं।

(1) शरीर में प्रदूषकों के प्रवेश का सबसे प्रमुख मार्ग साँस के साथ उनका शरीर में प्रवेश। गैसीय प्रदूषकों के साथ-साथ बारीक़ और सूक्ष्म आकार के ठोस प्रदूषक भी साँस के साथ शरीर में पहुँच जाते हैं। प्रदूषकों का अन्तिम पड़ाव रक्त होता है। लेकिन बहुत से प्रदूषक तत्व पहले आहार-नली में पहुँचकर वहाँ से पचे हुए भोजन के पोषक तत्वों के साथ शरीर में पहुँचते हैं। साँस के साथ शरीर में प्रवेश करने वाले कुछ प्रदूषक तत्व तो नाक और गले में ही अटक जाते हैं और वहीं से सीधे रक्त में या आहार-नली से होते हुए रक्त में पहुँचते हैं कुछ प्रदूषक तत्व श्वाँस नली में रुक कर वहाँ से रक्त में पहुँचते हैं तो सबसे हल्के और सूक्ष्म तत्व फेफड़ों में पहुँचकर वहाँ से रक्त में पहुँचते हैं। फेफड़ों में पहुँचने वाले कुछ प्रदूषक लसीका द्वारा रक्त में ले जाए जाते हैं।

(2) बहुत से प्रदूषक सीधे मनुष्य के शरीर में नहीं प्रवेश करते हैं, बल्कि पहले वे अपने सम्पर्क में आने वाले खाद्य पदार्थों और पानी को प्रदूषित करते हैं। इस प्रकार इस संदूषित खाद्य और पानी के साथ वे शरीर में प्रवेश करते हैं।

शरीर पर प्रदूषकों का प्रभाव

विभिन्न आयु के व्यक्तियों पर, पुरुषों और महिलाओं पर तथा बच्चों, बूढ़ों और जवानों पर प्रदूषण का प्रभाव अलग-अलग होता है। प्रदूषकों की मात्रा के अनुसार उनका
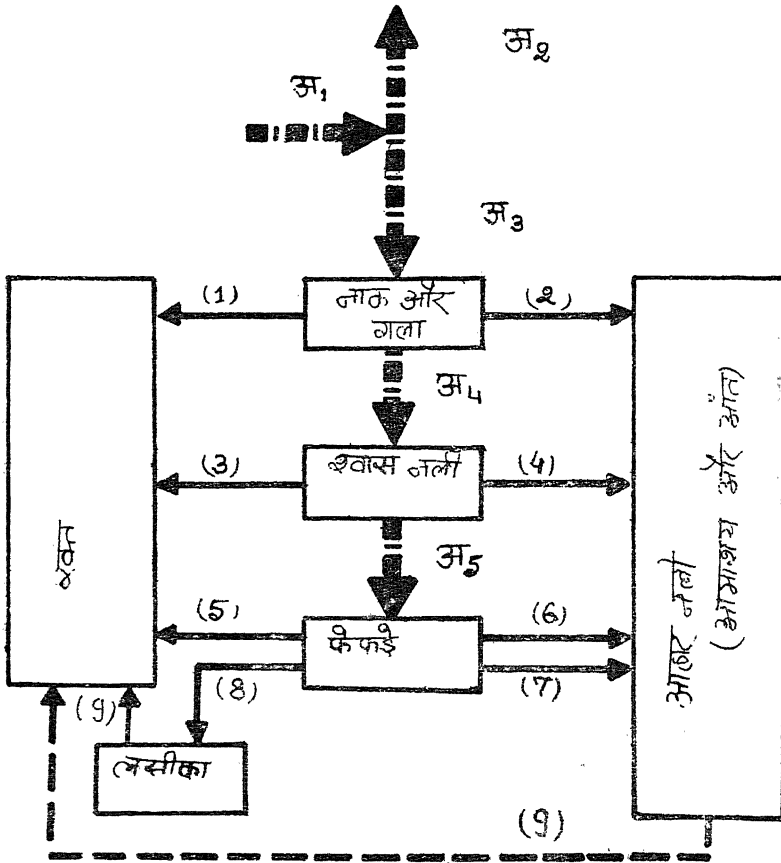
चित्र—सांस लेने से श्वसन मार्ग में पहुंचे धूल कणों के आहार नाल और रक्त तक पहुँचने के मार्ग का आरेख

अ$_1$—	साँस के साथ नाक में पहुँचने वाले धूल कण
अ$_2$—	नाक से निष्कासित वायु के साथ शरीर से बाहर निकले धूल कण
अ$_3$—	नाक और गले तक पहुँचने वाले धूल कण
अ$_4$—	श्वास नली में पहुँचने वाले धूल कण
अ$_5$—	अन्त में फेफड़ों में पहुँचने वाले धूल कण

नाक और गले से धूल कण (1) रक्त और (2) आहार नाल में पहुँचते हैं।

श्वास नली से धूल कण रक्त (3) और आहार-नली (4) में पहुँचते हैं।

फेफड़ों से धूल कण रक्त (5) और आहार-नली (6) में पहुँचते हैं।

फेफड़ों से कुछ धूल कण बहुत धीमी गति से आहार-नली (7) में पहुँचते हैं। कुछ धूलकण धीरे-धीरे लसीका के माध्यम से (8) रक्त में और आहार-नली में पहुँचने वाले सभी धूलकण भी अन्ततः रक्त में (9) पहुँच जाते हैं।

प्रभाव भी कम-ज़्यादा होता है। बूढ़े, बीमार, जर्जर और दुर्बल व्यक्ति पर प्रदूषण का असर अधिक हानिकारक होता है। गंभीर प्रदूषण से इस श्रेणी के बहुत से व्यक्तियों की मृत्यु भी हो जाती है।

मानव स्वास्थ्य पर वायु प्रदूषण का प्रभाव जानने के लिए स्वास्थ्य पर अलग-अलग प्रदूषकों का प्रभाव जानना अधिक आवश्यक है।

मानव स्वास्थ्य पर गैसीय प्रदूषकों का प्रभाव

सल्फर डाइऑक्साइड

यह गैस अत्यधिक घुलनशील होने के कारण साँस के साथ शरीर में चुपचाप प्रवेश करके नाक और श्वांस नली के प्रारम्भ में ही रक्त में घुल जाती है। वायु में इसकी मात्रा दस लाख भाग में 2-5 भाग होने पर (2-5 पी पी एम) ही फेफड़ों पर इसका काफ़ी घातक असर होता है। अनेक लोग इसके प्रभाव से दमा के शिकार हो जाते हैं। वायु में इसकी मात्रा 0.5 पी पी एम से थोड़ी सी अधिक होने पर खाँसी हो जाती है जो जल्दी ठीक नहीं होती है।

ओज़ोन

सूर्य के प्रकाश में हाइड्रोकार्बन वाष्प और नाइट्रिक ऑक्साइड के बीच परस्पर क्रिया होने से ओज़ोन और नाइट्रोजन डाइऑक्साइड गैस उत्पन्न होती है। साथ में अनेक ऑक्सीकारक पदार्थ भी पैदा होते हैं। हाइड्राकार्बन वाष्प मोटर वाहनों में ईंधन जलाने से उत्पन्न होती है।

वायु में ओज़ोन की मात्रा 0·3 पी पी एम (590 माइक्रोग्राम/मीटर^3) होने पर उसमें कुछ मिनट सांस लेने पर ही ओज़ोन का हानिकारक प्रभाव होने लगता है। गले में खुश्की पैदा होना इसका पहला लक्षण है। ओज़ोन की मात्रा बढ़ने पर आँख, नाक और गले में जलन होती है। 0.6 से 0.8 पी पी एम ओज़ोनयुक्त वायु में लगभग एक घण्टे तक सांस लेने पर सिर दर्द और मतली होती है तथा भूख समाप्त हो जाती है। शारीरिक श्रम और व्यायाम करने पर खाँसी आती है और सीने में दर्द होता है। ओज़ोन की मात्रा और अधिक होने पर फेफड़ों में पानी भर जाता है।

कार्बन मोनोऑक्साइड

मानव शरीर पर कार्बन मोनोऑक्साइड का प्रभाव सांस के साथ शरीर में प्रवेश करने और रक्त में हीमोग्लोबिन से जुड़कर शरीर में रुक जाने वाली कार्बन मोनोऑक्साइड की मात्रा पर निर्भर करता है। कार्बन मोनोऑक्साइड हीमोग्लोबिन के साथ जुड़कर शरीर के प्रत्येक हिस्से में पहुँचती है। हीमोग्लोबिन के साथ इसका बन्धन ऑक्सीजन की तुलना में 245 गुना अधिक मज़बूत होता है। कार्बन मोनोऑक्साइड मुख्य रूप से धूम्रपान और मोटर वाहनों के द्वारा पैदा होती है। एक सिगरेट पीने से शरीर में लगभग 8.5 मिलीलीटर कार्बन मोनोऑक्साइड जाती है। सांस के साथ फेफड़ों में पहुँचकर कार्बन मोनोऑक्साइड हीमोग्लोबिन के साथ जुड़कर कार्बाक्सी हीमोग्लोबिन बनाती है। इसके

फलस्वरूप हीमोग्लोबिन के माध्यम से शरीर के विभिन्न हिस्सों को होने वाली ऑक्सीजन की आपूर्ति तो कम हो ही जाती है साथ ही ऑक्सीहीमोग्लोबिन अणुओं के टूटने की प्रक्रिया के प्रभावित हो जाने से जो थोड़ी बहुत ऑक्सीजन पहुँचती भी है वह कोशिकाओं के काम नहीं आ पाती है। ऑक्सीजन के अभाव में पोषक पदार्थों का ऑक्सीकरण न होने से शरीर को आवश्यक मात्रा में ऊर्जा नहीं मिल पाती है। यह स्थिति लम्बे समय तक बनी रहे तो मनुष्य पहले बेहोश और बाद में मर भी सकता है।

कार्बन मोनोऑक्साइड की उपस्थिति में हृदय की मांसपेशियाँ भी प्रभावित होकर कमज़ोर हो जाती हैं जिसके कारण आदमी अधिक श्रम करने के योग्य नहीं रह जाता है। कार्बन मोनोऑक्साइड की अधिकता नाड़ी की गति, सांस की रफ़्तार, रक्त चाप तथा सुनने की क्षमता को भी प्रभावित करती है।

नाइट्रोजन डाइऑक्साइड एवं नाइट्रिक अम्ल

नाइट्रोजन के सात प्रकार के ऑक्साइड होते हैं परन्तु इनमें से केवल 2, नाइट्रोजन डाइऑक्साइड और नाइट्रिक अम्ल, प्रदूषकों की श्रेणी में आते हैं जिनसे मानव स्वास्थ्य को नुकसान पहुँचता है। नाइट्रोजन डाइऑक्साइड का प्रभाव काफ़ी देर से होता है। अधिक देर तक अधिक नाइट्रोजन डाइऑक्साइडयुक्त हवा में काम करने के पश्चात् फेफड़ों में पानी भर जाता है। नाइट्रोजन डाइऑक्साइड हीमोग्लोबिन को निष्क्रिय कर देती है। बड़ों की अपेक्षा बच्चों पर इसका प्रभाव अधिक और सरलता से होता है। वायु में नाइट्रोजन डाइऑक्साइड की मात्रा 15 पी पी एम होने पर नाक में जलन होने लगती है। 25 पी पी एम नाइट्रोजन डाइऑक्साइडयुक्त वायु में थोड़ी देर सांस लेने पर फेफड़ों पर इसका घातक असर होने लगता है।

फ्लोरीन

फ्लोरीन का प्रभाव बड़ों की अपेक्षा बच्चों पर जल्दी होता है। नवजात शिशुओं की हड्डियों में फ्लोराइड योगिक तेज़ी से जमा होते हैं। फ्लोराइड की अधिक मात्रा दाँतों, नाखूनों, बालों, हड्डियों और पेशाब में जमा हो जाती है। हड्डियाँ कमज़ोर हो जाती हैं।

धूलकणों के रूप में पाये जाने वाले प्रदूषकों का स्वास्थ्य पर प्रभाव

उद्योगों, कारखानों आदि से अनेक रसायनिक पदार्थों की धूल निकलती है जो वातावरण में मौजूद रहती है। इनका मानव शरीर पर अलग-अलग तरह से प्रभाव होता है। धूल कणों के रूप में पाये जाने वाले कुछ प्रमुख प्रदूषक निम्न हैं—

ऐस्बेस्टस

सबसे पहले वैज्ञानिकों को 1924 मे यह ज्ञात हुआ था कि ऐस्वेस्टस की धूल मनुष्य के स्वास्थ्य को हानि पहुँचाती है। बाद में अनेक वैज्ञानिक अध्ययनों से ऐस्वेस्टस के हानिकारक प्रभावों के सम्बन्ध में काफ़ी विस्तृत जानकारी प्राप्त हुई। ऐस्बेस्टस के रेशे और कण इतने बारीक होते हैं कि नंगी आँखों से दिखाई नहीं देते हैं। ऐस्बेस्टस

फेफड़े के कैंसर का बहुत बड़ा कारण है। धूम्रपान करने वालों में ऐस्बेस्टस के कारण कैंसर का खतरा और अधिक बढ़ जाता है।

सीसा

शरीर को सबसे अधिक सीसा खाद्य पदार्थों और पानी से प्राप्त होता है। वायु प्रदूषक के रूप में पेट्रोल चालित वाहन सीसे के सबसे बड़े स्रोत हैं। हालाँकि सीसा शरीर के सभी अंगों में पाया जाता है परन्तु शरीर का 90 प्रतिशत सीसा केवल हड्डियों में जमा रहता है। सभी स्रोतों से कुल मिलाकर प्रतिदिन 66 माइक्रोग्राम सीसा शरीर के लिए सुरक्षित है। इससे अधिक मात्रा शरीर के लिए घातक होती है। सीसे की मात्रा अधिक होने पर पेट में ऐंठन होने लगती है। सीसा तन्त्रिका तन्त्र को भी प्रभावित करता है और अल्परक्तता को जन्म देता है। सीसा गुर्दे के रोग, उच्च रक्तचाप, और रक्त वाहिनियों के रोगों को भी जन्म देता है। सीसे की अधिक मात्रा त्वचा के कैंसर को तो जन्म दे ही सकती है साथ ही यह शरीर की आनुवंशिक संरचना में भी परिवर्तन ला सकती है। सीसा यकृत और मनुष्य के मस्तिष्क को भी हानि पहुँचाता है। यह बच्चों में मानसिक मन्दता को जन्म देता है और बड़ों की प्रजनन शक्ति को भी प्रभावित कर सकता है।

कैडमियम

उद्योगों के वातावरण में कैडमियम धूल की उपस्थिति कामगीरों के यकृत और फेफड़ों को नुकसान पहुँचाती है। फेफड़ों में कैडमियम के कारण होने वाला सबसे आम रोग है—वातस्फीति। कैडमियम के कारण गुर्दों को भी क्षति पहुँचती है और उससे रक्त से प्रोटीन का छनना प्रभावित होता है। कैडमियम गुर्दे की पथरी के निर्माण को बढ़ावा देता है। शरीर में कैडमियम की मात्रा अधिक होने पर हड्डियाँ पतली हो जाती हैं और वे आसानी से टूट भी जाती हैं। कैडमियम अल्प रक्तता को भी जन्म दे सकता है, और प्रॉस्टेट ग्रन्थि और फेफड़ों के कैंसर का कारण बन सकता है।

पारा

वातावरण में प्रदूषक के रूप में पारा कोयले और खनिज तेलों को जलाने से उत्पन्न होता है। इस तरीके से प्रतिवर्ष विश्व भर में 3000 टन पारा वातावरण में छोड़ा जाता है। यह पारा सांस के साथ शरीर में प्रवेश करता है और सीधे रक्त में घुलकर शरीर के कोने-कोने में पहुँच जाता है। पारा रक्त से मस्तिष्क में भी पहुँच जाता है। शरीर में पहुँच कर पारा (मरकरी) मरक्युरस आयनों में ऑक्सीकृत हो जाता है। मरक्युरस आयन मरक्युरिक आयन में बदल जाते हैं। पारे के प्रभाव में शरीर में कँपकपाहट होती है और मुँह का भीतरी हिस्सा और मसूड़े फूल जाते हैं। यह गुर्दे में पथरी के निर्माण को भी बढ़ावा देता है। पारे के प्रभाव में रक्त परिवहन से सम्बन्धित अंगों, जनन अंगों, आदि को भी क्षति पहुँचती है। मस्तिष्क को भी पारे से काफ़ी क्षति पहुँचती है। इससे चाल भ्रमित हो जाती है, आँखों का क्षेत्र काफी संकुचित हो जाता है और सुनाई भी कम पड़ता है।

बेरीलियम

संयुक्त राज्य अमेरिका की पर्यावरण सुरक्षा समिति ने बेरीलियम को "हानिकारक वायु प्रदूषकों" की श्रेणी में रखा है। पेट्रोल से चलने वाले वाहन भी बेरीलियम प्रदूषण के स्रोत हैं। बेरीलियम फेफड़ों को नुकसान पहुँचाता है। अधिक बेरीलियम न्यूमोनिया जैसा रोग भी पैदा कर सकता है और फेफड़े का कैंसर भी उत्पन्न कर सकता है। वायु में 0·01 माइक्रोग्राम/मीटर^3 बेरीलियम की मात्रा सुरक्षित मानी जाती है।

आर्सेनिक

आर्सेनिक कोशिका द्रव्य "प्रोटोप्लाज़्म" के लिए काफ़ी विषैला होता है। अधिक दिनों तक आर्सेनिकयुक्त हवा में साँस लेते रहने से भूखा कम हो जाती है, शरीर का वज़न घटने लगता है, कब्ज़ और कभी-कभी अतिसार भी हो जाता है। इससे शरीर के बाहरी हिस्से की तन्त्रिकाएँ तो प्रभावित होती ही है साथ ही आँखों का **कंजक्टीवाइटिस रोग** भी हो जाता है। आर्सेनिक के प्रभाव में त्वचा का रंग गायब होने लगता है और यह त्वचा के कैंसर तक को जन्म दे सकता है। अधिक समय तक आर्सेनिक का प्रभाव होने पर 'लीवर नेक्रोसिस' हो जाता है जो बाद में कैंसर का कारण बन सकता है।

वायु प्रदूषण और चिरकालिक रोग

श्वासनली शोथ और बात स्फीति

श्वसन तन्त्र पर वायु प्रदूषण का प्रभाव 2 प्रकार से होता है। (1) उग्र प्रभाव और (2) चिरकालिक प्रभाव। प्रदूषकों की काफ़ी उच्च मात्रा बहुत कम समय में ही शरीर के रोग प्रतिरोधक शक्ति को समाप्त करके उसे रोग का शिकार बना देती है।

वायु में प्रदूषकों की मात्रा कम परन्तु सुरक्षित सीमा से अधिक होने पर वह धीरे-धीरे फ़ेफड़ों में इकट्ठी होती रहती है और शरीर को धीरे-धीरे, चुपके-चुपके रोग की ओर धकेलती रहती है। इस प्रकार होने वाले रोग का प्रभाव भी देर तक रहता है। श्वास नली शोथ और फुफ्फुसी वातस्फीति वायु प्रदूषण के कारण होने वाले प्रमुख श्वसन रोग हैं। लगातार खाँसी रहना, खांसते समय कफ़ अथवा बलगम आना और साँस जल्दी-जल्दी आना श्वास नली शोथ के संभावित लक्षण होते हैं। इस रोग में जरा सी चढ़ाई चढ़ने या तेज़ चलने पर ही साँस फूलने लगती है। वायु में धूल कणों की अधिक मात्रा और साथ में सल्फर डाइऑक्साइड की उपस्थिति इस रोग को जन्म देती है। धूम्रपान करने वालों को सामान्य व्यक्तियों की तुलना में इस रोग का खतरा 3-4 गुना अधिक होता है। इस बात के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं कि यह रोग गाँववासियों की अपेक्षा शहरी आबादी में अधिक होता है। इस रोग की अधिक गम्भीर अवस्था में, साँस रुकने से, रोगी की मृत्यु भी हो जाती है।

वातस्फीति में फेफड़े के ऊतकों को क्षति पहुँचने के कारण फेफड़े के वायुकोश एक समान नहीं फूलते हैं। वातस्फीति और श्वासनली शोथ में बहुत नज़दीकी सम्बन्ध पाया जाता है। इस रोग को जन्म देने वाले प्रदूषक तत्व वही होते है जो श्वासनली शोथ को

जन्म देते हैं । और यह रोग भी गाँववासियों की तुलना में शहर के प्रदूषित वातावरण में रहने वालों को अधिक होता है ।

दमा

वायु प्रदूषण और दमा रोग में बहुत गहरा सम्बन्ध है । यह विश्वास किया जाता है कि हवा में मौजूद फूलों के पराग कण और कुछ रसायनों की धूल दमे का प्रमुख कारण होती है । अनेक रसायन भी साँस के साथ शरीर में प्रवेश करके दमा रोग उत्पन्न करते हैं । प्रकाश-रसायनिक ऑक्सीकारक पदार्थ भी वयस्क व्यक्तियों में दमा पैदा करते हैं । हाल ही में हुए वैज्ञानिक अनुसंधानों से सल्फर डाइऑक्साइड को भी दमा रोग के लिए जिम्मेदार पाया गया है ।

सिलिकोसिस

देश में 'सिलिकोसिस' रोग की जानकारी सबसे पहले 1947 में उस समय प्राप्त हुई थी जब कर्नाटक में कोलार सोना खदानों में काम करने वाले मजदूरों की जाँच की गयी थी । तब से अनेकानेक खदानों में 'सिलिकोसिस' के सबूत मिल चुके हैं । यह रोग कोयला, संगमरमर, चाँदी, सीसा, जस्ता, मैंगनीज और पत्थर खदानों, लोहा, इस्पात और काँच के बर्तन के उद्योगों के मजदूरों और इन खदानों और उद्योगों के आस-पास रहने वालों को होता है । इन खदानों में पत्थर की कटाई के दौरान उड़ने वाली धूल में मौजूद 50-55 प्रतिशत तक सिलिका इस रोग को जन्म देती है । धूल शरीर में जाने के 6 महीने के भीतर सिलिकोसिस के लक्षण दिखाई देने लगते हैं । यह धूल जैसे-जैसे फेफड़ों में जमा होती जाती है सीने में दर्द बढ़ता जाता है । सीना बलगम से जकड़ जाता है और साँस लेने में कठिनाई होती है । बाद में दमे जैसी हालत हो जाती है । सिलिकोसिस का अभी तक कोई इलाज नहीं खोजा जा सका है । इससे बचने का फिलहाल बस एक ही उपाय है—किसी तरह धूल से बचाव ।

ऐस्बेस्टोसिस

नमी और ऊष्मा दोनों के प्रतिरोध की अधिक क्षमता ही ऐस्बेस्टस का सबसे बड़ा दुर्गुण है और मनुष्य को इसकी कीमत चुकानी पड़ती है । ऐस्बेस्टस के बारीक कण 'ऐस्बेस्टोसिस' नामक रोग को जन्म देते हैं । फेफड़ों में इसके बारीक कण जमा होते रहने से फेफड़ों की लचक समाप्त हो जाती है । इससे फेफड़े अवरुद्ध होने लगते हैं और साँस बहुत तेज हो जाती है । इस अवस्था को "पल्मोनरी फाइब्रोसिस" कहते हैं, जिसका अभी तक कोई उपचार नहीं है । इसका सीधा मतलब है—मौत । ऐस्बेस्टस की धूल आमाशय के एक दुर्लभ किस्म के कैंसर (मीसोथीलियोमा) को जन्म देती है । अनेक बार तो कणों की चपेट में आने के दस वर्ष से भी अधिक समय के बाद कैंसर का पता चल पाता है । ऐस्बेस्टोसिस के लक्षण भी अजीब हैं—सांस लेते समय घरघराहट और नाखून की जड़ें मोटी हो जाना । रंगीन (विशेषकर नीला) ऐस्बेस्टस सफ़ेद की अपेक्षा 10 गुना अधिक खतरनाक है । वैज्ञानिकों के अनुसार नीले ऐस्बेस्टस की धूल में यदि केवल 5 मिनट तक साँस ली जाय तो 20 साल के बाद भी ये कण फेफड़ों में कैंसर पैदा कर सकते हैं ।

फुफ्फुस कार्पासता अथवा बिसिनोसिस (Byssinosis)

यह रोग कपास, जूट आदि से सम्बन्धित उद्योगों जैसे वस्त्रोद्योग में काम करने वाले कर्मचारियों को होता है। कपास, जूट आदि की धूल इस रोग को जन्म देती है, जो साँस के साथ मज़दूरों के फेफड़ों में जाकर जमा होती रहती है। फेफड़ों में धूल जम जाने से साँस लेने में कठिनाई होती है, सीने में दर्द होता है और जकड़न हो जाती है। साथ ही खाँसी भी आती है। शुरू-शुरू में रोग के लक्षण सप्ताहान्त के अवकाश के बाद अथवा बीच में काम से अनुपस्थित रहने के बाद, पुनः काम पर आने के दिन दिखाई देते हैं। इसलिए इसे सोमवार बुखार (Monday Fever) भी कहते हैं। परन्तु जैसे-जैसे रोग की गम्भीरता बढ़ती जाती है वैसे-वैसे रोग के लक्षण दिखाई देने वाले दिनों की संख्या भी बढ़ती जाती है। अन्ततः रोज़ाना रोग का प्रभाव दिखाई देने लगता है। इस समय इस रोग को श्वास नली शोथ से अलग पहचान पाना कठिन होता है।

□□

धूम्रपान और स्वास्थ्य

□ दर्शनानन्द

धूम्रपान स्वास्थ्य के लिए कितना घातक है यह लत पड़ जाने के बाद मालूम पड़ता है। धूम्रपान करने की सामग्री चाहे सिगरेट हो या बीड़ी, सिगार हो या चुरट, गाँजा हो या हुक्का—इन सभी के धुँए अत्यंत विषैले और ख़तरनाक होते हैं। इन सब में तम्बाकू की पत्तियाँ ही भरी रहती हैं। तम्बाकू सेवन और धूम्रपान से कैंसर, हृदय रोग और क्षय जैसे ख़तरनाक रोगों को बढ़ावा मिलता है। धूम्रपान करने वाला व्यक्ति इन घातक रोगों को आमंत्रित कर अपनी आयु को भी घटाता है और धीरे-धीरे वह मृत्यु की कगार पर पहुँच जाता है।

धूम्रपान करने वाला व्यक्ति अपने जीवन को तो ख़तरे में डालता ही है, साथ ही वह अपने बीबी-बच्चों और अगल-बगल के व्यक्तियों के जीवन के साथ भी खेल करता है। वह धूम्रपान करता चला जा रहा है और किसके मुँह पर उसके मुँह का धुँआ जा रहा है या किसे कैसा लग रहा होगा—उसे इन बातों से कोई सरोकार नहीं रहता। उसकी सोच केवल आनन्द लेने में ही रहती है। वह वातावरण को प्रदूषित कर रहा है, इस तथ्य से अनजान-सा रहता है।

अब यह सर्वमान्य है कि धूम्रपान करने वालों के मुँह से निकाला हुआ धुँआ धूम्रपान न करने वालों के लिये, धूम्रपान करने वालों की अपेक्षा, अधिक हानिकारक होता है। धूम्रपान करने वाले के रोगी रहने पर वह अपने रोग-कीटाणु दूसरों तक तथा अपने बाल-बच्चों तक पहुँचा कर उनके स्वास्थ्य को भी खराब कर देता है।

समस्त विटामिनों में विटामिन-'सी' ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण विटामिन है, जिसकी शरीर के रख-रखाव में सबसे ज्यादा आवश्यकता होती है। शरीर को स्वस्थ बनाए रखने में विटामिन-'सी' का विशेष योगदान होता है। धूम्रपान लगातार करते रहने से मनुष्य के शरीर का विटामिन-'सी' निष्क्रिय हो जाता है। धूम्रपान न करने वाले के शरीर में धूम्रपान करने वाले का धुँआ साँस के साथ लेने के कारण विटामिन-'सी' की अधिक कमी हो जाती है। वैज्ञानिकों द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि केवल एक सिगरेट पीने से शरीर का करीब 25 मिलीग्राम विटामिन-'सी' नष्ट हो जाता है।

कनाडा के पौष्टिक सर्वेक्षण विभाग में 400 व्यक्तियों पर विटामिन-'सी' की रोजाना की मात्रा व धूम्रपान की स्थिति का सर्वेक्षण किया गया। इसके फलस्वरूप इस परिणाम पर पहुँचा गया कि सिगरेट पीने वालों के सिरम में, सिगरेट न पीने वालों की अपेक्षा कम विटामिन-'सी' रहता है। जो व्यक्ति एक दिन में 20 सिगरेट पीता है उसके

उपनिदेशक उद्यान, इलाहाबाद मण्डल (अ० प्र०), सी-67, गुरु तेग बहादुर नगर (करेली हाउसिंग स्कीम), इलाहाबाद—211016

सिरम में 25% तक विटामिन-'सी' की कमी हो जाती है। किन्तु प्रतिदिन 20 से ज्यादा सिगरेट पीने वालों के सिरम में 40% तक विटामिन-'सी' कम हो जाती है।

संयुक्त राज्य अमेरिका के धूम्रपान व स्वास्थ्य के निदेशक **डॉ० रोनाल्ड एम० डेविस** के अनुसार 38 वर्ष की एक महिला जिसने कभी सिगरेट पिया ही नहीं था, उसे फेफड़े का ऐसा कैंसर हो गया जैसा कि किसी सिगरेट पीने वाले को हो जाता है। आगे पुन: खोज करने पर मालूम हुआ कि उस महिला के पिता और माता दोनों ही धूम्रपान करते थे। इसलिए उनके मुँह से निकाला गया धुँआ अपनी पुत्री द्वारा सांस के साथ समय-समय पर खींचते रहने से वह कैंसर की मरीज़ हो गई।

डॉ० डेविस ने यह भी खोज किया कि अमेरिका में सिगरेट न पीने वाले व्यक्तियों द्वारा सिगरेट पीने वालों के मुँह से छोड़े गए धुँए को सांस के साथ खींचते रहने से हर साल 3000 से 5000 फेफड़े के कैंसर के ऐसे रोगी होते हैं, जो अपने जीवन से हाथ धो बैठते हैं।

इसी के साथ यह भी मालूम हुआ कि धूम्रपान करने वाले व्यक्तियों के मुँह से निकला हुआ धुँआ धूम्रपान न करने वाले व्यक्तियों द्वारा अपने साँस के साथ खींचने से हृदय रोग और अन्य प्रकार के कैंसर के रोगों से पीड़ित हो कर हुई मृत्यु को सम्मिलित करते हुए मृत्यु की कुल संख्या प्रतिवर्ष 10,000 तक पहुँच जाती है।

डॉ० रोनाल्ड एम० डेविस के अध्ययनों द्वारा यह तथ्य भी प्रकाश में आया कि संयुक्त राज्य अमेरिका के घरों और कार्यस्थलों पर तम्बाकू के धुँए से हर साल धूम्रपान न करने वाले 46,000 व्यक्ति मर जाते हैं। इसमें 3000 फेफड़े के कैंसर से, 11000 अन्य प्रकार के कैंसर से और 32000 हृदय रोग से मरते हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका में स्वयं धूम्रपान करने और एलकोहॉल पीने से मरने वालों की जो संख्या होती है, उसके बाद मृत्यु का कारण सांस के साथ खिचा हुआ सिगरेट का धुँआ होता है। स्वयं सिगरेट पीने से 3,90,000 और मदिरा (एलकोहॉल) पीने से 1,20,000 व्यक्तियों की मृत्यु होती है, ऐसा भी मालूम हुआ है। **डॉ० डेविस** ने यह भी इंगित किया कि धूम्रपान न करने वाले के लिए तम्बाकू के धुँए को अपनी सांस के साथ खींचने के लिए घर और कार्यस्थल—दो ख़तरनाक स्थान होते हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका के स्वास्थ्य सहायता के एक फर्म के अध्यक्ष **डॉ० डेविस वीक्स** का मत है कि धूम्रपान न करने वाले को अपने कार्यालय में सिगरेट का धुँआ अपनी सांस के साथ खींचने का उतना ही डर लगा रहता है, जितना कि घर पर सिगरेट न पीने वाली पत्नी या पति को—सिगरेट पीने वाले पति या पत्नी से रहता है।

इसी सिलसिले में **डॉ० वीक्स** ने यह भी खोज किया कि एक आदर्श कार्यालय, जिसमें हवा के आवागमन के लिए रोशनदान या झरोखे भी बने रहते हैं, में 100000 कार्य करने वालों के बीच धूम्रपान द्वारा छोड़े गए धुँए को सांस के साथ खींचने के कारण फेफड़े के कैन्सर से 250 व्यक्तियों की मृत्यु हो जाती है। किन्तु जिस कार्यालय में झरोखे या रोशनदान नहीं होते, उसमें यह संख्या दूनी हो जाती है।

यह भी एक सर्वमान्य वैज्ञानिक तथ्य है कि 80% फेफड़े का कैंसर धूम्रपान के दुष्प्रभावों द्वारा ही होता है। एक समाचार पत्र 'नॉर्दर्न इण्डिया पत्रिका', इलाहाबाद के 25 जून 1989 के अंक में 'Smokers killing non-smokers'—(स्मोकर्स किलिंग नॉन स्मोकर्स) अर्थात् 'धूम्रपान करने वाले धूम्रपान न करने वालों को मार डाल रहे हैं'—शीर्षक के अंतरगत् एक लेख प्रकाशित है। इससे स्पष्ट होता है कि वास्तव में ये धूम्रपानी स्वयं अपनी और अपने बीबी-बच्चों की जानें तो ले ही रहे हैं साथ ही वे अन्य धूम्रपान न करने वालों के स्वास्थ्य और जीवन के लिए ख़तरा भी बने रहते हैं। वे धीरे-धीरे इन्हें सिगरेट के धुँए का विषपान कराते रहते हैं, जिसे स्लो पॉइजर्निग (Slow Poisoning) की संज्ञा आसानी के साथ दी जा सकती है।

'दैनिक जागरण' समाचार-पत्र के दिनांक 31 मई 1990 के अंक में "शरीर में घुलता सिगरेट का ज़हर" तथा दिनांक 1 जून 1990 के अंक में "धूम्रपान करने वाली महिलाओं को गर्भपात का ख़तरा" शीर्षकों के अंतरगत पुनः लेख प्रकाशित हैं। इनमें उल्लखित है कि एक प्रयोग में फेफड़े के कैंसर के 650 रोगियों पर अध्ययन किया गया। इसमें 95% ऐसे रोगी पाए गए जो एक लम्बे अर्से से धूम्रपान के आदी थे।

पुनः एक खोज में पता लगा कि 10 वर्ष और इससे ऊपर की उम्र वाले करीब 80% पुरुषों और 40% महिलाओं द्वारा किसी न किसी रूप में तम्बाकू का प्रयोग किया जा रहा है। अपने देश में इस समय हर साल करीब 10 लाख व्यक्ति किसी न किसी रूप में तम्बाकू का सेवन कर रहे हैं। इसके अलावा फेफड़े के कैंसर के प्रत्येक 10 रोगियों में 9 रोगियों के रोग का कारण धूम्रपान ही रहता है। देश में इस समय 15 लाख कैंसर के पंजीकृत रोगियों में से लगभग एक तिहाई में रोग का कारण धूम्रपान है।

महिलायें भी धूम्रपान की लत में कम नहीं हैं। धूम्रपान के कुप्रभावों को देखते हुए पश्चिमी देशों में जहाँ एक ओर धूम्रपान करने वालों की संख्या में कमी हो रही है, वहीं दूसरी ओर अपने देश में धूम्रपानियों की संख्या में दिन प्रति दिन वृद्धि होती जा रही है। यह एक चिंता का विषय है। आश्चर्य की बात तो यह है कि पुरुषों की अपेक्षा धूम्रपान करने वाली महिलाओं की संख्या ज्यादा तेज़ी के साथ बढ़ रही है। वैज्ञानिकों का यह भी मत है कि स्त्रियों की शारीरिक रचना इस ढँग की होती है कि पुरुषों की अपेक्षा उन पर धूम्रमान के प्रभाव कहीं अधिक घातक होते हैं।

गर्भावस्था में अधिक धूम्रपान करने वाली महिलाओं का गर्भपात तक हो जाता है। धूम्रपान करने वाली महिलाओं से जन्म लेने वाले बच्चों का भार कम होता है तथा उनकी शारीरिक और मानसिक वृद्धि धीमी पड़ जाती है। इन बच्चों का सिर भी छोटा हो जाता है तथा इनमें बीमारी से लड़ने की क्षमता भी कम हो जाती है। बाद में अधिकांश बच्चे मर भी जाते हैं। प्रायः ऐसी महिलाएँ मरे हुए बच्चों को भी जन्म देती हैं। एक अध्ययन में यह पाया गया कि एक हज़ार धूम्रपान करने वाली महिलाओं द्वारा जन्म दिए गए बच्चों में पचास बच्चे मरे पाए गए। महिलाओं द्वारा गर्भावस्था में धूम्रपान करने से उसका कार्बन मोनोऑक्साइड और निकोटीन गर्भस्थ शिशु तक पहुँच कर क्षति पहुँचाता है।

तम्बाकू में सबसे ज़हरीला पदार्थ निकोटीन होता है। कहते हैं कि एक सिगार में जितना निकोटीन मौजूद होता है, उतना अगर किसी व्यक्ति को इन्जेक्शन के रूप में दे दिया जाय तो उसकी तुरंत मृत्यु हो जाय। निकोटीन के प्रभाव से दिल की धड़कन बढ़ जाती है और मनुष्य उच्च रक्तचाप का रोगी हो जाता है। निकोटीन की उपस्थिति में शरीर का रक्त भी आसानी के साथ जम जाता है। इसके फलस्वरूप दिल के दौरे या हृदयाघात की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं। निकोटीन को फेफड़े से मस्तिष्क तक पहुँचने में केवल सात सेकण्ड का ही समय लगता है।

सिगरेट या तम्बाकू के धुएँ से निकलने वाली गैस—कार्बन मोनोऑक्साइड खून में मौजूद ऑक्सीजन को सोख कर मस्तिष्क की ऑक्सीजन की आपूर्ति घटा देती है। ऐसी स्थिति में मनुष्य की सहनशक्ति कम हो जाती है और साथ ही उसकी सांस भी तेज़ चलने लगती है। कार्बन मोनोऑक्साइड गैस रक्तवाहिनियों की भीतरी सतह पर वसा के जमाव को तीव्र कर देती हैं, जिससे रक्तवाहिनियों का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है और हृदयपात का डर बराबर लगा रहता है।

तम्बाकू में निकोटीन के अलावा एक और हानिकारक पदार्थ होता है—चारकोल या टार। इस पदार्थ में कैंसर पैदा करने वाले ख़तरनाक रसायन मौजूद होते हैं। इनमें बेन्ज़ोपायरीन व नाइट्रोसोमीन खास हैं। तम्बाकू के धुँए में उपलब्ध हाइड्रोजन साइनाइड, फॉरमलडीहाइड, एकोलीन तथा एसिटलडीहाइड नामक गैसें नाक बन्द कर देती हैं, जिससे सांस लेने में कठिनाई उत्पन्न होती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि तम्बाकू और इसका धुँआ कितना जानलेवा है। फिर भी धूम्रपानी महिलाएँ और पुरुष किसी भी समय किसी भी स्थान पर धूम्रपान करने और तम्बाकू का आनन्द लेने में चूकते नहीं हैं। क्या वे सोचते हैं कि इस प्रकार वे कितनों की जानें ले रहे हैं? क्या वे धूम्रपान न करने वालों के साथ न्याय कर रहे हैं? क्या वे अपने देश का नाम उज्ज्वल कर रहे हैं? यदि ऐसा सोचें तो वे अवश्य ही किसी आशाजनक निष्कर्ष पर पहुँच सकेंगे।

आकाशवाणी नजीबाबाद से 22 जून 1990 को प्रसारित कार्यक्रम के अनुसार तम्बाकू भारत का सबसे बड़ा व्यवसाय है। विश्व भर में चीन व अमेरिका के बाद भारत तम्बाकू उत्पादन में तीसरे नम्बर पर है। इसी क्रम में यह भी ज्ञात हुआ कि अपने देश में 7542 करोड़ सिगरेट और 5500 करोड़ बीड़ी का उत्पादन होता है। इससे स्पष्ट है कि इस विष उत्पादन को कितना अधिक बढ़ावा प्राप्त हुआ है।

अतः धूम्रपान के कुप्रभावों से छुटकारा पाने के लिये क्यों न सिगरेट, बीड़ी, सिगार वगैरह के निर्माण पर ही प्रतिबन्ध लगा दिया जाय, बजाय इसके कि यह नारा लगाया जाय कि तम्बाकू और धूम्रपान घातक हैं, जानलेवा हैं आदि। तम्बाकू की खेती की ही क्यों जाय? क्यों न तम्बाकू की खेती पर ही प्रतिबन्ध लगा कर इसे जड़ से साफ़ कर दिया जाय? तम्बाकू के बजाय साग-सब्ज़ी और अन्य नक़दी फ़सलें लेकर अच्छी आमदनी ली जा सकती है। परन्तु इतना बड़ा कदम उठाने के लिए समाज के साथ-साथ

व्यक्तिगत सूझ-बूझ और प्रशासन के पूर्ण सहयोग की आवश्कता होगी। किसी चीज या कार्य पर प्रतिबन्ध तो प्रशासन ही लगा सकता है। फिर भी व्यक्तिगत और सामाजिक मनोवृत्ति में परिवर्तन लाना आवश्यक है।

जो स्थान धूम्रपान के लिए निषिद्ध हैं, वहाँ धूम्रपान क्यों जारी है? अगर जनता में या व्यक्ति विशेष में इतनी समझ नहीं है तो प्रशासन सख्त रवैय्या क्य' नहीं अपनाता? केवल प्रतिबन्ध लगाना ही पर्याप्त नहीं है। इस पर अमल हो रहा है या नहीं—इसकी देख-भाल भी नितांत आवश्यक है।

सिगरेट के पैकेट पर लिखा रहता है—"स्वास्थ्य के लिये हानिकारक।" यह लिखने से क्या लाभ है, जबकि बराबर सिगरेट सब पीते ही चले जा रहे हैं। जब स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है तो सिगरेट बनाने की इजाज़त जानबूझ कर क्यों दी जा रही है? यह सोचने की बात है।

विश्व भर में 31 मई 1990 को 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' के तत्वावधान में "तृतीय विश्व तम्बाकू विहीन दिवस" (Th rd World No Tobacco Day) मनाया गया। इस सम्बन्ध में केन्द्रीय स्वास्थ्य शिक्षा ब्यूरो, स्वास्थ्य एवं परिवार मंत्रालय, नई दिल्ली द्वारा समाचार-पत्रों में एक विज्ञापन इस प्रकार प्रकाशित हुआ—

"Are You Concerned About Your Health? Tobacco Injures Health Slowly But Surely. Cigarette, Beedi, Cigar, Tobacco In Pan Or Tobacco In Any Other Form Could Cause Cancer, Chronic Bronchitis, Heart Disease High Biood Pressure or Paralysis. About Ten Lakh Persons Die Every Year In Our Country Due To Tobacco Related Diseases. Think Before You Smoke or Take Tobacco."

अर्थात् "क्या अपने स्वास्थ्य के विषय में चिंतित हैं? तम्बाकू धीरे-धीरे परन्तु निश्चित रूप से स्वास्थ्य को खराब करता है। सिगरेट, बीड़ी, सिगार, पान में तम्बाकू या किसी अन्य रूप में तम्बाकू का सेवन कैंसर, क्रॉनिक ब्रॉकाइटिस, हृदय रोग, उच्च रक्तचाप या पक्षाघात जैसे रोगों को जन्म देता है। प्रतिवर्ष लगभग 10 लाख व्यक्ति अपने देश में तम्बाकू से संबंधित रोगों से मरते हैं। तम्बाकू सेवन या धूम्रपान के पूर्व आप विचार करें।"

'वर्ल्ड हेल्थ' (सितम्बर-अक्टूबर 1990) में इंगित एक सूचना के अनुसार इसी 'तृतीय विश्व तम्बाकू विहीन दिवस' के अवसर पर विश्व भर में वार्ता का विषय "बिना तम्बाकू के बचपन और युवा" रखा गया। यह विषय इसीलिए रखा गया क्योंकि धूम्रपान की आदत बचपन से ही पड़ती है, जो माँ-बाप या बड़ों या करीबी रिश्तेदारों के धूम्रपान करने से माहौल बनने के कारण होता है। इस प्रकार बच्चा पैदा होते ही बल्कि गर्भ में रहने के बीच ही तम्बाकू और धूम्रपान का शिकार बन जाता है, विशेषकर जब गर्भावस्था में माता धूम्रपान करती है।

इसी क्रम में यह इंगित करना भी उचित प्रतीत होता है कि विश्व स्वास्थ्य एसे-

म्बली के 45वें अधिवेशन में तम्बाकू सम्बंधी सभी प्रकार के विज्ञापनों पर रोक लगाने का प्रस्ताव पारित किया गया। यह प्रस्ताव 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' के इस नवीन आकलन के सिलसिले में पारित किया गया कि "जब तक वर्तमान धूम्रपान की दर में कमी नहीं आएगी, तम्बाकू से सम्बंधित तीन करोड़ मौतें प्रतिवर्ष होती रहेंगी। वर्ष 2020 तक यह संख्या दस करोड़ तक पहुँच जाएगी और इस प्रकार प्रतिवर्ष 10 करोड़ मौतें होती रहेंगी।"

'सन्डे मेल' 23 सितम्बर 1990 में प्रकाशित एक समाचार के अनुसार इसी सिलसिले में पिछले कुछ महीनों में योरोपीय देशों की संसदों में धूम्रपान के सार्वजनिक विज्ञापनों पर खास तौर से रेडियो व टी० वी० पर रोक लगाने के प्रस्ताव पारित हुए जिससे सिगरेट की बिक्री और प्रयोग में कमी आए। इस सम्बंध में प्रतिबंध लगाने की पहल शुरू हो गई है। इनमें ग्रीस, बेल्जियम, फ्रांस, इटली एवं पुर्तगाल सहित बारह देशों ने कड़ाई के साथ विज्ञापनों को सेंसर करने की कार्यवाही शुरू कर दी है। ग्रीस में सिगरेट का विज्ञापन टी० वी० के अलावा पत्र-पत्रिकाओं में भी प्रतिबंधित है। इटली और पुर्तगाल जैसे देशों में सिगरेट का विज्ञापन किसी रूप में भी वर्जित है। बेल्जियम में टी० वी० और पत्र-पत्रिकाओं में सिगरेट का विज्ञापन वर्जित है, खास तौर से उन पत्रिकाओं में प्रतिबंधित है जो युवा वर्गों में प्रचलित हैं।

फ्रांस ने तो वास्तव में इस दिशा में बड़ा ही कठोर और प्रयोगात्मक कदम उठाया है। यहाँ तम्बाकू, धूम्रपान सम्बंधी किसी भी प्रकार का विज्ञापन टी० वी० और रेडियो में तो प्रतिबंधित है ही, साथ ही सिनेमाघरों में भी किसी भी सिगरेट का विज्ञापन सर्वथा वर्जित है। यही नहीं, सिनेमाघरों में उन दृश्यों को दिखाना वर्जित है जिनमें अभिनेता धूम्रपान कर रहा हो।

एक ताज़े रिपोर्ट के अनुसार विश्व भर के 50 देशों ने सिगरेट के विज्ञापन पर प्रतिबंध लगा दिया है। इनमें से 21 देशों ने तम्बाकू सम्बंधी सभी प्रकार के विज्ञापनों को सर्वथा वर्जित कर दिया है।

पुनः 12 जून 1990 के समाचार-पत्रों में पर्यावरण एवं वन मंत्रालय, भारत सरकार की ओर से "Stop Pollution—Save Your Environment" अर्थात् "प्रदूषण रोको—पर्यावरण बचाओ" शीर्षक का एक विज्ञापन प्रकाशित हुआ। इसमें इंगित किया गया कि पर्यावरण प्रदूषण होने से अच्छे स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है, वायु और जल प्रदूषण से विभिन्न प्रकार की बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं तथा ध्वनि प्रदूषण से कान बहरे हो जाते हैं। यह भी इंगित किया गया है कि सरकार ने प्रदूषण पर नियंत्रण रखने के लिए और दोषी को दंडित करने के लिए बहुत से कानून बनाए हैं। जल प्रदूषण सुरक्षा एवं नियंत्रण अधिनियम 1974, वायु प्रदूषण सुरक्षा एवं नियंत्रण अधिनियम 1981 तथा पर्यावरण सुरक्षा अधिनियम 1986 आदि इनमें प्रमुख हैं।

उपर्युक्त विज्ञापन में यह भी दर्शाया गया है कि जिन कारखानों के मालिकों और उद्योगपतियों द्वारा प्रदूषण बचाने के नियमों का पालन नहीं किया जाएगा उन्हें जुर्माने और कारावास तक के दण्ड दिए जा सकते हैं। पुनः यह भी इंगित है कि इस दिशा में अकेले

शासन द्वारा कोई भी कार्रवाई करना पर्याप्त न होगा तथा इसके लिए आपको और हमको भी लगना होगा। इससे संबंधित शिकायत सुनने के लिए लखनऊ इलाहाबाद, वाराणसी, कानपुर, गोरखपुर, आगरा, बरेली, रायबरेली, हल्द्वानी, गाजियाबाद, देहरादून और नोयडा जैसे स्थानों पर रिपोर्टिंग केन्द्र भी बना दिए गए हैं।

अब पुनः वही प्रश्न उठता है कि क्या नियम बना देने से प्रदूषण समाप्त हो जायेगा ? कानूनी मामलों में भी सरकार जनता के सहयोग पर निर्भर रहना चाहती है जबकि ऐसे मामलों में प्रशासन का दायित्व हो जाता है कि स्वयं सम्बन्धित अधिकारियों द्वारा निरीक्षण कराए और दोषी को दण्डित करे, बजाय इसके कि किसी रिपोर्ट या शिकायत की प्रतीक्षा की जाय। अन्यथा इस प्रकार के कानून केवल कानून ही बने रह जाएँगे। और वे कार्यान्वित नहीं हो पाएँगे, जैसे सिनेमाघरों में धूम्रपान करने वाले धूम्रपान करते रहते हैं।

वैज्ञानिकों के प्रयोगों द्वारा यह मालूम हुआ है कि प्रतिदिन 2 ग्राम विटामिन-'सी' प्रयोग करने से धूम्रपानियों के शरीर में इसकी मात्रा लगभग स्थिर हो जाती है। इसके अलावा यह भी ज्ञात है कि रोज़ाना 40 मिलीग्राम विटाम्नि-'सी' ग्रहण करने से कार्बन मोनो-ऑक्साइड के विषैले प्रभाव से बचा जा सकता है।

विटामिन-'सी' प्राकृतिक रूप से भी लिया जा सकता है। इसके लिए आँवले का फल सर्वोत्तम स्रोत है। प्रति 100 ग्राम आँवले के गूदे में 600 से 750 मिलीग्राम तक विटामिन-'सी' पाया जाता है। आंवले के प्रति 100 मिलीलीटर ताजे रस में 921 मिलीग्राम विटामिन-'सी' उपलब्ध होता है। सुखाए हुए आँवले भी सभान रूप से पौष्टिक और उपयोगी होते हैं। प्रतिग्राम आँवले के चूर्ण में 10 से 17 मिलीग्राम तक विटामिन-'सी' उपलब्ध रहता है। विटामिन-'सी' के अलावा आँवले में अनेक ओषधीय गुण भी होते हैं, तथा इसके फल का सेवन अत्यंत स्वास्थ्यवर्धक होता है। इसे मुरब्बा, अचार व चटनी के रूप में तथा ताज़ा भी प्रयोग कर सकते हैं।

प्राकृतिक विटामिन-'सी' की अधिक मात्रा प्राप्त करने के लिए अधिक से अधिक आँवले के वृक्ष व बाग़ लगाना बड़ा उपयोगी होगा। विटामिन-'सी' प्रदान करने के अतिरिक्त आँवले के वृक्ष प्राण-वायु ऑक्सीजन निर्माण करके प्रदूषित वातावरण समाप्त करने और पर्यावरण को स्वच्छ बनाने में भी सहायक होंगे। आँवले का वृक्ष कम उपजाऊ और उसरीली जमीन में भी लगा सकते हैं। इसमें सूखा सहन करने की शक्ति भी होती है। 9.5 पीएच मान तक वाली मिट्टी में आँवले का वृक्ष आसानी के साथ चल जाता है।

विटामिन-'सी' प्रदान करने के लिए अमरूद भी एक उत्तम पौष्टिक फल है, जिसे ताज़ा खाया जा सकता है। प्रति 100 ग्राम अमरूद के गूदे में 299 मिलीग्राम विटामिन-'सी' पाया जाता है। अमरूद का वृक्ष बहुत ही सहिष्णु होता है। यह कम उपजाऊ मिट्टी, सूखा, लू, पाला व बाढ़ग्रस्त क्षेत्रों में भी भलीभाँति फूलते-फलते हैं। गंगा-जमुना जैसी बड़ी-बड़ी नदियों की तलहटियों में अमरूद का बाग़ लगा कर फल प्राप्त करने के अलावा पर्यावरण

में व्यापक सुधार लाया जा सकता है। इसी के साथ अन्य नदियों की तलहटियों का भी सदुपयोग किया जा सकता है।

इसके अलावा अन्य खाली और उपजाऊ जगहों में नींबू और संतरे के बाग़ भी लगाये जा सकते हैं। इनके रस बड़े स्फूर्तिदायक होते हैं, इनमें भी विटामिन-'सी' की प्रचुर मात्रा होती है।

जहाँ तक धूम्रपान समाप्त करने का प्रश्न है, महसूस होता है कि प्रशासन के दायित्वों के साथ-साथ प्रत्येक दशा में हर धूम्रपानी का भी विशेष दायित्व हो जाता है कि वह धूम्रपान बंद करे और घर पर, स्कूल में, अस्पताल में या किसी भी अन्य सार्वजनिक स्थान पर धूम्रपान न होने दे। इसके लिए उसे अपनी मनोवृत्ति में परिवर्तन लाना होगा। वह न तो स्वयं सिगरेट-बीड़ी पिये और न ही किसी को पीने के लिए पेश करे, चाहे कोई भी मौका हो। इस प्रकार अगर मनोवृत्ति में परिवर्तन लाया जा सका और धूम्रपान करने वाले ने गम्भीरतापूर्वक विचार किया तथा यह समझ लिया कि वास्तव में धूम्रपान बड़ा हानिकारक है और वह अपने धूम्रपान से कितनों की जानें ले रहा है, तो कोई कारण नहीं है कि धूम्रपान छोड़ा न जा सके। अन्यथा इतनी उच्च शिक्षा समाप्त करना या विद्या ग्रहण करना और अपने जीवन के अनुभव इस दिशा में व्यर्थ ही सिद्ध होंगे। ऐसे उदाहरण भी मौजूद हैं कि कुछ बड़े धूम्रपानी जिन्हें 'चेन स्मोकर्स' (**Chain smokers**) कह सकते हैं, ने तबियत खराब होने और डॉक्टरों की सलाह पर धूम्रपान करना आकस्मात ही बिल्कुल बंद कर दिया। अतः बीमार पड़ने और डॉक्टर की सलाह की प्रतीक्षा क्यों करें? क्यों न अभी तुरन्त ही धूम्रपान बंद कर दें?

अब ऐसा लगता है कि सरकार भी धूम्रपान के घातक प्रभावों की ओर चैतन्य हो रही है। दिनांक 14 जून 1990 को उत्तर प्रदेश प्रादेशिक समाचार में आकाशवाणी से यह समाचार प्रसारित हुआ कि पूर्वोत्तर रेलवे की रेलगाड़ियाँ और कार्यालय अब धूम्रपानरहित रहा करेंगे। उसी दिनांक को राष्ट्रीय कार्यक्रम के अन्तरगत रेडियो और दूरदर्शन के समाचारों में तथा पुनः 15 जून 1990 के समाचारपत्रों में यह प्रकाशित हुआ कि कैबिनेट सेक्रेटेरिएट द्वारा सभी राजकीय विभागों को निर्देश दिए गए हैं कि इस माह (जून 1990) से सार्वजनिक स्थानों पर धूम्रपान बिल्कुल बंद कर दिया जाय। इसके अलावा राजकीय भवनों और परिसरों से, जहाँ धूम्रपान प्रतिबन्धित है, सभी सिगरेट की दुकानें हटा दी जायें। आगे बताया गया कि यह प्रतिबंध उन जगहों के लिये लागू है जहाँ लोग बहुत अधिक संख्या में काफी देर तक इकट्ठा रहते हैं, जिससे धूम्रपान न करने वालों को कष्ट न होने पाए।

इस समाचारों में यह भी इंगित है कि यह प्रतिबन्ध पहले कुछ चुने हुए स्थानों— जैसे अस्पतालों, स्वास्थ्य केन्द्रों व संस्थानों, स्कूलों, सभागृहों, घरेलू उड़ानों, रेलगाड़ी के वातानुकूलित डिब्बों और वातानुकूलित बसों में लगाएँ जा रहे हैं। यह भी निर्देश दिए गए हैं कि कार्यालयों और संस्थानों में जगह-जगह पर हिन्दी और अंग्रेज़ी में 'नो स्मोकिंग' (**No Smoking**) अर्थात् 'धूम्रपान वर्जित है' तथा 'स्मोकिंग स्ट्रिक्टली प्रोहिबिटेड इन

दिस बिल्डिंग एण्ड कम्पाउंड' (Smoking Strictly Prohibited in This Building And Compound) अर्थात् 'इस भवन और परिसर में धूम्रपान करना सख़्त मना है'— जैसे 'स्लोगन' लिखकर दीवालों पर टाँग दिये जायें। इनके अतिरिक्त कार्यालयों से 'ऐश ट्रे' भी हटा लिये जाएँ—ये भी प्रसारित और प्रकाशित किए गए।

दिल्ली से निकलने वाले समाचार-पत्र 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के दिनांक 26 जून 1990 के अंक में प्रकाशित सामग्री के अनुसार रेलवे द्वारा बहुत से आवश्यक नियम बनाए गए। इसमें एक नियम धूम्रपान के सम्बन्ध में भी बनाया गया। इस नियम के अंतरगत रेल के किसी भी डिब्बे में अगर किसी यात्री द्वारा आपत्ति की जाती है, तो कोई उस डिब्बे में धूम्रपान नहीं करेगा। साथ ही यह भी प्रकाशित हुआ कि रेलवे को किसी भी ट्रेन में या ट्रेन के किसी भाग में भी धूम्रपान पर रोक लगाने के लिये अधिकृत किया गया है। इस नियम का पालन न करने वाले दोषी के ऊपर 100 रुपये तक का जुर्माना किये जाने का भी प्रावधान है।

धूम्रपान बन्द करने और कम करने में सरकार का यह बड़ा ही ठोस क़दम है। परन्तु विचार करने की बात तो यह है कि रेलगाड़ी के वातानुकूलित डिब्बों और वातानुकूलित बसों के अतिरिक्त रेल के साधारण डिब्बों और बसों में यात्रा करने वाले यात्रियों के कष्टों का क्या उपाय है? क्या धूम्रपानियों के मुँह से निकले विषैले धुँए इन यात्रियों के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक नहीं हैं? वास्तव में पहले इन्हीं यात्रियों के लिए व्यवस्था करनी चाहिए थी, क्योंकि यात्रियों की अधिकांश संख्या इसी श्रेणी में आती है। वातानुकूलित गाड़ियों और डिब्बों में तो वैसे भी यात्री धूम्रपान करना बचाते हैं। जहाँ तक यात्री के आपत्ति करने का प्रश्न है, यह भी सोचने की बात है कि धूम्रपान न करने वाला यात्री किस-किस को मना करेगा धूम्रपान करने से? इस प्रकार तो वह अपनी पूरी यात्रा भर धूम्रपानियों को मना ही करता रह जाएगा। साथ ही वह झगड़े अलग मोल लेता रहेगा और अगर रात्रि का समय है तो उसे रात भर जगते ही रहना पड़ेगा। पूरी गाड़ी में भी अगर धूम्रपान पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय तो भी उसमें धूम्रपान होने पर दोषी यात्रियों को देखने और रोकने वाला कौन है? क्या रेलवे कर्मचारी इसके लिए गाड़ी के डिब्बों में तैनात रहेंगे? या वे उम्मीद करेंगे कि कोई यात्री पूरे सबूत के साथ उन्हें रिपोर्ट करे? व्यवहारिक रूप से यात्रियों के लिए यह कहाँ तक सम्भव है?

सिगरेट की दूकानें केवल कुछ ही स्थानों से क्यों हटाई जाएँ? क्यों न सिगरेट, बीड़ी और तम्बाकू की दूकानें देश के कौने-कौने से तुरंत हटा दी जाएँ? क्यों न इनके कारखाने और धन्धे ही बिल्कुल बंद कर दिए जाएँ? तम्बाकू की खेती पर क्यों नहीं प्रतिबन्ध लगाया जा रहा है? इस विष का व्यवसाय क्यों किया जा रहा है?

फिर भी सरकार द्वारा की जा रही उपर्युक्त कार्रवाइयाँ अत्यंत सराहनीय हैं।

आइए हम सब संकल्प करें कि न तो स्वयं धूम्रपान या तम्बाकू सेवन करेंगे और न ही इसके लिये किसी को आमंत्रित करेंगे और न ही अपने मुँह के धुँए और विषैली गंध को किसी दूसरे तक पहुँचाएँगे। देखिये आगे क्या होता है।

□□

जैव प्रौद्योगिकी : पर्यावरण को बचाने का जादुई चिराग़

□ मनोज कुमार पटैरिया

वियतनाम से लड़ते हुए अमेरिकी फौजों ने हवाई जहाज से वियतनाम पर "आरेंज टी" नामक रसायन छिड़का था। बताया जाता है कि वियतनाम को भूखों मारने के लिए इस खरपतवारनाशी का छिड़काव किया गया था ताकि वहाँ की फ़सलें नष्ट हो जाएँ और वियतनाम अपने घुटने टेक दे।

इस रसायन के दुष्परिणाम वियतनामी जनता को आज भी भुगतने पड़ रहे हैं। इसके प्रभाव से उनकी संतानों के आनुवंशिक गुणों में विकृति आ गई है। वियतनाम की माटी में मिले हुए इस रसायन के प्रदूषण से बचने के लिए वैज्ञानिकों ने जैव प्रौद्योगिकी द्वारा विकसित किए गए नन्हें जीवाणुओं का प्रयोग किया है। ये जीवाणु आरेंज टी को हज़म करके सरल और ग़ैर हानिकारक पदार्थों में बदल देते हैं। जैव तकनीकी द्वारा पर्यावरण को बचाने का यह प्रयोग वाकई बहुत ही दिलचस्प है।

वो कहते हैं ना कि हर समस्या का कोई न कोई समाधान ज़रूर होता है। 1950-60 के दशकों में जब दुनिया के ग़रीब देश भूखों मर रहे थे, तब 'हरित क्रांति' ने बढ़ती आबादी का पेट भरा। इसी तरह आज जब पर्यावरण संकट, दुनिया पर विनाश बन कर मंडरा रहा है, तब जैव प्रौद्योगिकी का जादुई चिराग़ इंसान के हाथ लग गया है। यूँ तो जैव प्रौद्योगिकी आज सर्वव्यापी हो गई है—कृषि, उद्योग, चिकित्सा, रक्षा, कानून, खनन, खाद्य और प्रजनन, कोई भी क्षेत्र इसके प्रताप से अछूते नहीं हैं। पर्यावरण के क्षेत्र में भी जैव प्रौद्योगिकी नयामत बन कर आई है। ऐसी अनेक जैव तकनीकें ज्ञात हैं, जिन्हें अपनाकर बिगड़े पर्यावरण को सुधारा जा सकता है, उसे सुरक्षित रखा जा सकता है और समृद्ध बनाया जा सकता है।

जैव प्रौद्योगिकी क्या है ?

जैव प्रौद्योगिकी बिल्कुल नया विज्ञान है। इसका विकास हाल ही में हुआ है। लेकिन इसके करिश्में इतने आश्चर्यजनक और उपयोगी हैं, कि प्रयोगशालाओं में पनपते इस विज्ञान ने दुनिया भर में धूम मचा रखी है। इसके पहले जो विज्ञान और प्रौद्योगिकी खोजी गई थी, उसका प्रयोग केवल भौतिक जगत् को नियंत्रित करने में होता था। उससे नई मशीनें बनाई जा सकती थीं और तरह-तरह के आविष्कारों द्वारा मानव जीवन को अधिक सुखद बनाया जा सकता था।

प्रकाशन व सूचना निदेशालय, सी० एस० आई० आर०, हिलसाइड रोड, नई दिल्ली—110012

जैव प्रौद्योगिकी ने ये सारी सीमाएँ तोड़ दी हैं। इसके प्रयोग से नए जन्तु बनाए जा सकते हैं। नए पौधे तैयार किए जा सकते हैं। वर्तमान जीवों की प्रकृति, आचार-व्यवहार और गुणों में परिवर्तन किया जा सकता है। यही नहीं, नन्हें जीवाणुओं की मदद से, वे पदार्थ बड़ी मात्रा में कम समय में प्राप्त किए जा सकते हैं, जिन्हें मशीनी विधियों द्वारा तैयार नहीं किया जा सकता था। अतः जैव प्रौद्योगिकी एक प्रकार से जीवन में परिवर्तन करने तथा नया जीवन गढ़ने की तकनीक है। पर्यावरण के क्षेत्र में इसकी अतीव संभावनाएँ हैं।

नए जीवाणुओं की करामात

हमारे पर्यावरण को स्वच्छ रखने में नन्हें जीवाणुओं का बहुत योगदान है। प्रकृति में चारों ओर पड़े कूड़े-कचरे को ये जीवाणु सरल यौगिकों में तोड़ देते हैं जिससे कचरा समाप्त हो जाता है और मिट्टी उपजाऊ हो जाती है। लेकिन अनेक पदार्थ ऐसे होते हैं, जिनका विघटन ये जीवाणु नहीं कर पाते हैं।

अमेरिका में बसे भारतीय वैज्ञानिक **डॉ० आनन्द एम० चक्रवर्ती** ने ऐसे जीवाणु विकसित कर लिए हैं, जो ऐसे पदार्थों का विघटन कर सकते हैं, जिनका विघटन अभी तक संभव नहीं था। उन्होंने प्रदूषण फैलाने वाले विभिन्न कार्बनिक रसायनों को पचाने वाले जीवाणुओं (सुपर बग) का निर्माण करके उन्हें पेटेण्ट कराया है।

वियतनाम में फ़सल को चौपट करने के लिए अमेरिका ने युद्ध में 'आरेंज टी' नामक खरपतवारनाशी गिराया था, जिससे वहाँ अत्यधिक प्रदूषण फैल गया और फ़सल के साथ-साथ लोग भी प्रभावित होने लगे थे। डॉ० चक्रवर्ती ने इस 'आरेंज टी' को खाने वाले जीवाणुओं का भी विकास किया है, जिनकी मदद से 'आरेंज टी' प्रदूषण खत्म किया जा सकता है। उन्होंने गंधक खाने वाले जीवाणु को भी काफ़ी चुस्त बना दिया है। यह जीवाणु कचरे में से गंधक चट कर जाता है और वातावरण को प्रदूषण मुक्त बनाता है। यह कारखानों की छीजन में से पेट्रो उत्पादयुक्त गंधक को साफ़ कर सकता है, जिससे पश्चिम में अम्लीय वर्षा की समस्या तक हल हो सकती है।

डॉ० चक्रवर्ती का लोकप्रिय आविष्कार है—पेट्रोलभक्षी जीवाणु। यह **स्यूडोमोनास** नामक जीवाणु के आनुवंशिक गुणों में हेरफेर करके तैयार किया गया है। समुद्र में तेल टैंकरों में से पेट्रोल के रिसाव से समुद्री सतह पर तेल प्रदूषण फैल जाता है, जिससे समुद्री जीवों को हानि होती है। और समुद्री मछलियों के माध्यम से यह प्रदूषण मानव के लिए भी हानिकारक होता है।

विकसित **स्यूडोमोनास** नामक जीवाणु पेट्रोल को पीकर हाइड्रोकार्बन को अहानिकारक प्रोटीनयुक्त भोजन में बदल देता है, जिसे समुद्री जीव आसानी से खा-पचा सकते हैं। इस प्रकार समुद्री सतह पर फैले तेल का भी सफ़ाया हो जाता है। नए जीवाणु विकसित करने तथा जीवाणुओं के गुणों को एक से दूसरे में पहुँचाने में पुनर्योजी डी एन ए तकनीक का प्रयोग किया गया।

जितने चाहो उतने पौधे

पर्यावरण को समृद्ध और हराभरा बनाने में पौधों व वृक्षों की बड़ी भूमिका है। भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान में तीन सप्ताह के भीतर पपीते के 20,000 पौधे तैयार किए गए हैं। इतनी जल्दी इतने ज्यादा पौधे तैयार करने में ऊतक संवर्धन नामक जैव तकनीक का सहारा लिया गया। भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र में अनन्नास, राष्ट्रीय रासायनिक प्रयोगशाला में अदरक और हल्दी, तथा गन्ना अनुसंधान संस्थान में सागौन, गन्ना और इलायची को इसी विधि से उगाने में सफलता मिली है। खाद्य तेल की राष्ट्रीय माँग को पूरा करने के लिए आयलपाम के वृक्षों को बड़ी संख्या में उगाने के लिए लाखों पौधे इसी चमत्कारी तकनीक से पैदा किए जा रहे हैं। इस विधि से तम्बाकू, चावल, गाजर, आलू और बाँस की एक कोशिका से पूरा पौधा तैयार किया जा सकता है।

इस विधि में पोषक घोल में उस पौधे की कुछ कोशिकाएँ लेते हैं, जिनका संवर्धन करना होता है। पोषक घोल में रखने पर कोशिकाएँ विभाजित होकर ऊतक समूह बनाती हैं, जिनको 'कैलस' कहते हैं। कैलस को पुनः पोषक घोल में रखने पर उससे कलिकाएँ फूटती हैं। इन कालिकाओं को अलग-अलग परखनलियों में पोषक घोल में पनपने देने पर असंख्य पौधे तैयार हो जाते हैं, जिन्हें 'ग्रीनहाउस' या पौधशालाओं में रोप दिया जाता है।

प्रोटोप्लास्ट तकनीक, ऊतक संवर्धन से भी ज्यादा तीव्र है। इससे चंदन (**सेंटेलम एल्बम**) और अनन्तमूल (**टीलोफ़ोरा इंडिका**) के पूरे पौधे तैयार किए गए हैं। इस विधि में पादप कोशिका की दीवार को घोल कर प्रोटोप्लास्ट बाहर निकाल लिया जाता है, जो अत्यधिक तेजी से पोषक घोल में बढ़ता है। सजावटी पौधों को उगाने के लिए सूक्ष्म वर्धन तकनीक खोजी गई है। इस प्रकार इन जैव तकनीकों की मदद से उजड़ते वनों को फिर से लगाने, तथा सिमटती हरियाली को वापस लाने में मदद मिल रही है।

इस तरह प्रदूषण नहीं होता

जैव प्रौद्योगिकी की मदद से फ़सलों की रोगमुक्त किस्में विकसित की गई हैं। इन रोगमुक्त क़िस्मों को उगाने पर इनमें रोग नहीं लगते हैं। स्वाभाविक है, जब फ़सलों में रोग और नाशककीट नहीं लगेंगे, तब रोगों को दूर करने के लिए दवाएँ भी नहीं छिड़कनी पड़ेंगी।

अब यह स्पष्ट हो चुका है कि कीटनाशी दवाओं के छिड़काव से फ़सलों व फलों पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। ये रसायन पौधों और फलों से होते हुए मनुष्यों के शरीर में पहुँच कर उसे नुकसान पहुँचाते हैं। इसलिए रोगरोधी किस्मों के विकास द्वारा, कीटनाशी-जन्य मृदा प्रदूषण को कम करने में सहायता मिलेगी। इसी प्रकार कीटों और नाशक जीवों को खाने वाले बड़े कीटों को आनुवंशिक रूप से विकसित किया जा रहा है। ये अपेक्षाकृत बड़े कीड़े, फ़सलों और पौधों को नष्ट करने -ाले छोटे कीटों का सफ़ाया तो कर देते हैं, पर फ़सल को नहीं खाते। इस तरह बगैर कीटनाशी दवाओं के प्रयोग से ही रोग और कीड़े खत्म हो जाते हैं, पर फ़सल को नुकसान नहीं होता।

अच्छी पैदावार लेने के लिए खेतों में रासायनिक खाद डालना, आम बात है। लेकिन इससे भी प्रदूषण होता है। अब ऐसे जैव उर्वरक खोजे गए हैं, जिन्हें उपयोग में लाने पर प्रदूषण भी नहीं होता और जो रासायनिक खाद से ज्यादा कारगर हैं। जैव उर्वरक के रूप में **राइजोबियम** जीवाणुओं का प्रयोग किया जाता है। ये जीवाणु हवा से नाइट्रोजन खींचकर उसे मिट्टी के भीतर ले जाते हैं। इसी प्रकार नील-हरित शैवाल को भी जैविक उर्वरक के रूप में उपयोग किया जा रहा है। यह शैवाल नाइट्रोजन-स्थिरीकरण के लिए सूर्य की ऊर्जा का इस्तेमाल करती है।

वन्य प्राणी मिटने नहीं पाएँगे

पर्यावरण का एक पहलू वन्य प्राणी संरक्षण भी है। वनों में बढ़ते मानवीय हस्तक्षेप और घटते वन्य प्राणियों से खाद्य शृंखला और खाद्य जाल में गड़बड़ होने से समूचा पर्यावरण डगमगाया है। जैव तकनीक से इस दिशा में बहुत कुछ आशाएँ हैं।

कृत्रिम निषेचन, भ्रूण स्थानांतरण, भ्रूण प्रतिरोपण, बाह्य निषेचन तथा भ्रूण जैव प्रौद्योगिकी की मदद से शेर, हाथी और चीते जैसे प्राणियों को परखनली तकनीक द्वारा पैदा किया जा सकता है। लुप्त हो रही वन्य प्राणि जातियों के संवर्धन के लिए अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कार्यक्रम तैयार किया गया है। इसलिए वन्य जन्तुओं को तरल नाइट्रोजन की ठण्डक में इकट्ठा करके भविष्य के लिए सुरक्षित किया जा रहा है।

इस संबंध में परेशानी यह है कि नर जनन कोशिकाएँ जहाँ सुदृढ़ और लंबे समय तक जीवित व सक्रिय रहती हैं, वहीं मादा कोशिकाएँ जल्दी नष्ट हो जाती हैं। इनकी सक्रियता बनाए रखने के लिए प्रयोग जारी हैं। ऐसे उपकरण भी तैयार किए गए हैं, जिनसे जनन कोशिकाओं की सक्रियता को मापा जा सकता है।

लॉस एंजिल्स चिड़ियाघर और सिनसिनारी वाइल्ड लाइफ फेडरेशन के संयुक्त कार्य से एक दुर्लभ अफ्रीकी जाति के हिरण "बोंगो" का जन्म हुआ है। यहाँ के प्रजनन शरीर-क्रिया विज्ञानी **डा० बेसी ड्रेसर** ने बोंगो के माता-पिता से 7 भ्रूण लेकर उन्हें परखनली में रखा। इनमें से 4 का प्रत्यारोपण हिरण के गर्भ में अलग-अलग किया गया और एक का पुनः बोंगो के गर्भ में किया गया। शेष 2 भ्रूण नष्ट हो गए। डॉ० ड्रेसर कहते हैं, "इस तकनीक द्वारा हमारा प्रयास धरती पर लुप्त हो रहे वन्य प्राणियों की रक्षा से पर्यावरण को संतुलित बनाए रखना है।"

हवा में हरियाली

नलिकाओं में पौधे उगाने की 'ट्यूबोपोनिक्स' तकनीक के बाद अब इज़राइल में पौधों को हवा में उगाने की 'एयरोपोनिक्स' तकनीक का विकास किया गया है। इस विधि में पौधों को ऐसे बंद डिब्बों में उगाया जाता है, जिनमें उनकी जड़ें अनावृत्त रहती हैं। इन जड़ों को मिट्टी से नहीं बल्कि कम्प्यूटर द्वारा नियंत्रित फुहारण प्रणाली से भोजन प्राप्त होता है। जड़ों पर पोषक पदार्थों की फुहार कुहासे के रूप में छोड़ी जाती है। इस विधि में पौधे की क़लम, अंकुर और बीज का भी प्रयोग हो सकता है। इस तकनीक से

नींबू, जैतून और सजावटी पौधों को उगाया गया है। इसमें पानी, खाद और ऊर्जा की खपत कम होती है। मिट्टी में उगाए जाने वाले पौधों की अपेक्षा इस विधि से पौधों में 34–200% तक बढ़वार होती है। प्रणाली में लगा कंप्यूटर प्रत्येक डिब्बे में पौधों के ताप और नमी को मापता है और आवश्यकतानुसार पौधे के अनुरूप ताप व नमी में परिवर्तन भी करता है। बढ़ती अबादी के दबाव के कारण होने वाली भूमि की कमी की समस्या को कुछ हद तक इस तकनीक से हल किया जा सकता है।

इसी तरह 'हाइड्रोपोनिक्स' नामक जैव तकनीक से बिना मिट्टी के पौधे उगाए जा सकते हैं। ब्रिटेन में विकसित इस तकनीक को भारत के अनुसार ढाला गया है। इसमें भूमि को एकसार करके उनमें नालियाँ बनाई जाती हैं। नालियों की सतह पर प्लास्टिक का अस्तर लगाया जाता है। इसमें पानी भर दिया जाता है। पानी में निश्चित मात्रा में पोषक पदार्थ मिलाए जाते हैं। इसमें ऊपर की ओर पौधे लगाकर नालियों के किनारे टाट लगा दी जाती हैं। पौधों की जड़ें टाट को फाड़कर नाली में पहुँच जाती है और पोषक पदार्थ सोख कर पौधे को भेजती हैं। इस प्रकार पौधों का विकास होता रहता है। इसमें पानी दोबारा नहीं देना पड़ता है। ब्रिटिश पद्धति में प्लास्टिक के चैनलों में पौधे उगाए जाते हैं। चित्रकूट में इस तकनीक से नेपियर घास की पैदावार 250–300 टन प्रति हेक्टेयर हुई।

इमारतों के अन्दर प्रदूषण से बचें

ड्राइंग रूम में सजे स्वस्थ, सुन्दर पौधे आँखों को शीतल तो करते ही हैं, साथ ही वे हमें आन्तरिक प्रदूषण से भी बचाते हैं। 'नासा' के वैज्ञानिकों ने पता लगाया है कि बहुत सी रुग्ण इमारतों में काम करने या निवास करने वाले लोगों में एलर्जी के लक्षण प्रगट होना आमबात है। आँख में खुजली, त्वचा पर लाल दाने या चकत्ते, सुस्ती, साँस लेने में परेशानी, सिर भारी होना या सिर दर्द होना आदि की शिकायतें इमारत के आंतरिक प्रदूषण से होती हैं।

अब नई जैव तकनीकों के जरिये बौने पौधे 'बोंसाई' बनाकर कमरों के भीतर रखे जा सकते हैं। इस विधि में बड़े-पेड़ों के पौधों की बढ़वार को नियंत्रित करके बौने पौधे तैयार किये जाते हैं, जिन्हें कमरों में सजाया जा सकता है।

वैज्ञानिकों के अनुसार सर्वसुलभ शेंवती, फर्न, मनीप्लांट, बेंत, बाँस, गूलर आदि के पौधों तथा चम्पा, बोगेनविलिया आदि की बोंसाइ को घर के भीतर लगाकर इस प्रकार के प्रदूषण से बचा जा सकता है। संश्लिष्ट भवन निर्माण सामग्री भी धीरे-धीरे कार्बनिक पदार्थ छोड़ती रहती है, जिनसे इमारतों के अन्दर प्रदूषण फैलता है।

इमारतों के अन्दर प्रदूषण फैलाने वाले पदार्थ हैं—फॉर्मेल्डिहाइड, बेंज़ीन, डाइ-क्लोरो एथिलिन आदि। वैज्ञानिकों ने पाया है कि कमरों में लगी बोंसाई, इन पदार्थों को सोख लेती है। दरअसल इस ओर अधिक ध्यान देने की जरूरत है, क्योंकि बाहरी प्रदूषण से बचने के लिए तो लोग फिर भी कोशिश करते हैं, पर इस अंदरुनी प्रदूषण पर ध्यान नहीं देते।

चमत्कारों में छिपी आशंकाएँ

एक ओर जैव तकनीकों से जहाँ पर्यावरण को अनेक लाभ हो रहे हैं, वहीं दूसरी ओर इनके दुष्परिणामों को भी नज़रंदाज़ नहीं किया जा सकता है। शत्रु राष्ट्रों को नुकसान पहुँचाने में तथा बीमारियाँ फैलाने और प्राकृतिक पर्यावरणीय असंतुलन पैदा करने में भी तथाकथित जैव तकनीकों के दुरुपयोग की आशंकाओं से इंकार नहीं किया जा सकता है।

जैव प्रौद्योगिकी द्वारा ऐसे जीवाणु बनाये जा सकते हैं, जिन पर दवाओं या प्रति-जैविकों (एंटिबायोटिकों) का प्रभाव नहीं पड़ता। यदि ऐसे जीवाणु सृजित कर लिये गये, और किसी प्रकार वे परखनली और प्रयोगशाला से बाहर आ गये, तो पृथ्वी का पर्यावरण डगमगा सकता है। इसी प्रकार विष उत्पन्न करने वाले ऐसे जीवाणु बनाये जा सकते हैं, जिनमें स्वयं विभाजन की क्षमता हो। इन जीवाणुओं को खुला छोड़ देने पर वे पर्यावरण में ज़हर घोल सकते हैं।

कृत्रिम जैव तकनीकों से ऐसे जन्तु बनाने सम्भव हैं, जिनका आज तक कोई अस्तित्व नहीं है। यदि बनते-बनते कहीं कोई ऐसा जन्तु बन गया, जिसने पृथ्वी की कोई विशेष जाति ही नष्ट कर डाली, तो जीवन का संतुलन बिगड़ जाएगा। जन्तु और वनस्पति कोशिकाओं के संयोजन से नए-नए प्रकार के जीवन का निर्माण किया जा रहा है। ऐसे जीव वातावरण में किस प्रकार व्यवहार करेंगे !

विभिन्न प्रयोगशालाओं में पौधों में ऐसे 'जीन' प्रतिरोपित किये जा रहे हैं, जिससे वे हवा से सीधे नाइट्रोजन ले सकेंगे। इससे उर्वरक की समस्या तो हल हो जाएगी, लेकिन हो सकता है, कि नाइट्रोजन के साथ वे किसी ऐसे तत्व को भी धरती से समाप्त कर दें जो पृथ्वी पर जीवन के लिए ज़रूरी है। केवल नाइट्रोजन के कम हो जाने से ही मानव अस्तित्व ख़तरे में पड़ सकता है और पर्यावरण बिगड़ सकता है।

जैव तकनीकों के दुरुपयोग या दुर्घटनावश अनियंत्रण की आशंका से दुनिया भर के लोग चिन्तित हैं। अमेरिका में राष्ट्रीय स्वास्थ्य संस्थान ने पुनर्योजी डी एन ए प्रयोग-शालाओं के लिए सुरक्षा मानक जारी किये हैं। उधर ब्रिटेन में 'जेनेटिक मैनीपुलेशन रेगुलेशन कानून' बनाया गया है। अमेरिका में मानव और पर्यावरण के हितों के लिए 'जीन' क्लोनिंग, विषय पर सुनवाई के लिए कांग्रेस बैठ चुकी है।

पर्यावरण संरक्षण और अन्य कार्यों में जैव प्रौद्योगिकी के महत्व की अनन्त संभावनाएँ हैं। लेकिन इसके ख़तरे भी हैं। इसलिए हमारे ऋषियों-मुनियों की प्राचीन परम्परा के अनुसार संयमपूर्वक जैव तकनीक का संतुलित उपयोग करना निःसंदेह उपयोगी रहेगा।

□□

विलुप्त होते जीव एवं वनस्पति जातियाँ

□ सतोश कुमार शर्मा

भारत में वन एवं वन्य प्राणियों की विपुलता तथा विविधता की कोई कमी नहीं है। इस देश में विभिन्न जलवायु क्षेत्रों में फैले 16 प्रमुख किस्मों के वन तथा उनमें 15000 किस्मों की पुष्पधारी वनस्पतियाँ पायी जाती हैं। इसके अतिरिक्त अनेकानेक प्रकार के पुष्पविहीन पौधे भी इस देश की धरती पर उगते हैं। भारत में पाये जाने वाली वनस्पतियों में से 134 जेनेरा (वंश) की 7000 प्रजातियाँ, जो कुल वनस्पतियों की लगभग 61.5% हैं, ऐन्डेमिक (Endemic Species) रूप से उगती हैं। इन प्रजातियों में से अकेले हिमालय तथा खासी पहाड़ियों से ही 3000 किस्में ज्ञात हैं। दक्षिणी भारत में कोई 2000 ऐन्डेमिक प्रजातियाँ ज्ञात हैं। **नेपेन्थीज् खासियाना** जैसे ऐन्डेमिक कीटाहारी पौधे मेघालय के सदाबहार वनों में पाये जाते हैं। **साइकस बडोमी**, जो कि एक नग्नबीजी पौधा है, तमिलनाडु प्रदेश में तिरूनलवेली पहाड़ियों में ऐन्डेमिक रूप से उगता है। **पाइपर बारबेरी, आयलेन्थस कुर्जाई, बेन्टिन्किया कोन्डेपाना** आदि किस्में आन्ध्रप्रदेश के कडप्पा जिले में ऐन्डेमिक रूप से उगती हैं। सच तो यह है देश के किसी न किसी हिस्से में कोई न कोई ऐन्डेमिक वनस्पति अवश्य पायी जाती है।

हमारा देश वन्य प्राणि सम्पदा की दृष्टि से भी एक धनी देश है। यहाँ 350 किस्मों के स्तनधारी प्राणि, 2100 किस्मों के पक्षी, 233 किस्मों के साँप, 3 प्रकार के मगर, 31 प्रकार के कछुये, 181 किस्मों के उभयचारी, 30000 किस्मों के कीट-पतंगे, जिनमें 1400 किस्मों की तितलियाँ शामिल हैं, पायी जाती हैं। इस देश में अनेक प्रकार के ऐन्डेमिक प्राणि भी पाये जाते हैं जो किसी अन्य देश की धरती पर नहीं मिलते। **अन्डमान जंगली शूकर, निकोबार जंगली शूकर, निकोबार कबूतर, नार्कोन्डम हार्नबिल,** आदि अण्डमान द्वीप समूह के ऐन्डेमिक प्राणि हैं। **थामिन** (Cervus e-eldi) नामक हरिण मणीपुर राज्य में लोगटक झील के पास स्थित किबूल लामजो अभयारण्य में सीमित है। इसी तरह बारासिंगा की आद्र क्षेत्रों में पाई जाने वाली प्रजाति उत्तर प्रदेश के तराई क्षेत्र असम तथा सुन्दर वन में तथा शुष्क क्षेत्र में रहने वाली प्रजाति मध्यप्रदेश में सीमित है।

गुणवत्ता एवं मात्रात्मक रूप से भारत में वनस्पति तथा वन्य प्राणि विविधता चिरकाल से चली आ रही है जिसकी पुष्टि जीवाश्म विज्ञान, फाइटोजीयोग्राफी एवं जू-जीयोग्राफी के अध्ययन से होती है, आज धीरे-धीरे अपना मूल स्वरूप खोती जा रही है। जीवाश्मों के अध्ययन से यहाँ तक स्पष्ट हो चुका है कि प्राचीन काल में शिवालिक की

आरबोरीकल्चरिष्ट, विश्व वानिकी वृक्ष उद्यान, झालाना डूंगरी, जयपुर—4 (राजस्थान)

पहाड़ियों में चार सींग वाले **सिवाथीरियम, जिराफ़, छोटे** तथा बड़े आकार के **घोड़े, बाइसन, ऊँट, जंगली, सूअर, चिंपाजी, औरंग ऊटान, बबून,** आदि प्राणि या इन प्राणियों सदृश्य जीव जंगलों में विद्यमान थे। कालान्तर में प्राकृतिक विलुप्तिकरण का शिकार होकर ये प्राणि तथा इनके आवास की अनेक वनस्पतियाँ नष्ट हो गयीं। आज इनके सिर्फ़ जीवाश्म ही यदा-कदा मिलते हैं।

प्राकृतिक विलुप्तिकरण एक सामान्य घटना है जो स्वतः प्रकृति में घटित होती रहती है। इसे रोक पाना मनुष्य के वश में नहीं है। प्राकृतिक विलुप्तिकरण के कारण ही **डायनोसोर, आर्कियोप्टेरिक्स**, जैसे प्राणियों तथा **राईनिया** जैसे पौधों को नष्ट होना पड़ा है। वस्तुतः इनके विलुप्तिकरण से ही अधिक विकसित जीवों का प्रादुर्भाव संभव हुआ। सरीसृपों ने विकास करते हुये **आर्कियोप्टेरिक्स** जैसे **"सरीसृप पक्षी"** को जन्म दिया जिसने अंततः जैव विकास को आगे बढ़ाते हुये स्वयं को **"वास्तविक पक्षियों"** से प्रतिस्थापित करवा लिया।

स्वतः विलुप्तिकरण एक धीमी प्रक्रिया है जिसे कम समय में महसूस कर पाना कठिन कार्य है। इसके विपरीत भौतिक सभ्यता की दौड़ में मानवजन्य विलुप्तिकरण अधिक ख़तरनाक साबित होता जा रहा है। जो मनुष्य की अज्ञानता या स्वार्थपरता की वजह से अस्तित्व में आता है। ऐसा विलुप्तिकरण कई बार बड़ी तेज़ी से होता है तथा उसे कम समय में ही महसूस किया जा सकता है। मनुष्यजन्य विलुप्तिकरण के नाज़ुक पारिस्थितिकी-तन्त्र विघटित होते हैं। **डोडो** नामक पक्षी का विलुप्तिकरण एक ऐसी ही घटना है।

राजा-महाराजाओं के समय तक वन क्षेत्र तथा उनमें निवास करने वाले प्राणि सुरक्षित थे, क्योंकि वन क्षेत्र राजा-महाराजाओं द्वारा निजी शिकारगाहों के रूप में प्रबंधित किये जाते थे। इन शिकारगाहों में जन साधारण द्वारा प्रवेश एवं आखेट निषेध था। उस युग में शिकार के परम्परागत तरीके व उपकरण थे जिनसे प्राणियों का शिकार आसान नहीं था। सामंती युग में कानून का पालन प्रभावी था तथा दंड का स्वरूप कठोर था। जनसंख्या तथा पशु संख्या कम थी। प्रदूषण रहित छोटे कुटीर उद्योग थे। वनों तक तथा वनों के अन्दर आवागमन के साधन सहज नहीं थे। सामाजिक जीवन आध्यात्मिक प्रधान था तथा निरामिष भोजन का चलन था। सांस्कृतिक व धार्मिक कारणों से वन तथा वन्य जीवों के प्रति स्वतः सम्मान तथा दया भाव मुखरित था। इन कतिपय कारणों से प्राचीन भारत की वन तथा वन्य प्राणी सम्पदा विलुप्त होने से बची रही।

भारत में वनस्पति तथा वन्य प्राणि विलुप्तिकरण अंग्रेजों के आगमन के साथ ही गति पकड़ने लगा। वनों का उद्योगों हेतु अविवेकपूर्ण दोहन प्रारम्भ हुआ। वनों में वन मार्ग बनने लगे तथा 'रेस्ट हाउसों' का निर्माण होने लगा। 'रेस्ट हाउसों' में अधिकारियों के ठहरने के दिनों में विशेष आखेट अभियान तथा सामिष भोजन की "पार्टियाँ" आरम्भ होने लगीं। 12 नवम्बर 1938 को **वॉयसरॉय लिन लिथिकों** के घना पक्षी विहार, भरतपुर पधारने पर 39 बन्दूकों द्वारा मात्र एक दिन में ही 4273 सुन्दर पक्षियों का

क्रूर वध इसी आखेट संस्कृति की देन थी। संचार के बेहतर उपकरण, तेज़ गति के वाहन तथा अधिक परिष्कृत हथियारों ने आखेट को बहुत आसान तथा जोखिम रहित बना दिया। प्रख्यात आखेटक के रूप में स्थापित होने तथा रेकार्ड बनाने के नाम पर वन्य प्राणियों की निरुद्धेश्य तथा बड़े पैमाने पर हत्यायें की गईं। यूरोपीय लोगों के 'ड्राइंग रूमों' हेतु 'ट्राफियाँ' जुटाने के लिये असंख्य वन्य प्राणी मारे गये जिनमें बिल्ली वर्ग सर्वाधिक तबाह हुआ। बाघ, सिंह, हिम तेंदुआ, तेंदुआ तथा चीता इन पाँचों बड़े बिडालों को बड़े पैमाने पर मारा गया। कहा जाता है इस सदी के प्रारम्भ में देश में बाघों की संख्या लगभग 40,000 थी जो घटते-घटते 1972 में 1827 तक जा पहुँची। सिंह भी सिमटता हुआ गुजरात राज्य के गिर जंगलों में ही शेष रह गया। दुनिया का सर्वाधिक तेज़ धावक **चीता** जो 366 मीटर तक 110 कि० मी० प्रति घंटा की रफ़्तार से दौड़ सकता है, देश से पूरी तरह विलुप्त कर दिया गया। अन्तिम बार तीन नर चीते 1948 में मध्यप्रदेश के बस्तर ज़िले में मारे गये थे। तब से भारत के जंगलों में पुन: चीता नहीं देखा गया है।

भारत की धरती पर मानव विलुप्तिकरण की गाज अकेले चीते पर ही गिरी हो ऐसी बात भी नहीं। तीन अन्य अभागे प्राणी—गुलाबी सिर की बतख, जर्डनी करसर, तथा पहाड़ी बटेर को भी विलुप्तिकरण की तरफ धकेल दिया गया। यहाँ यह बताना उचित होगा कि हाल ही में लगभग 85 साल बाद आन्ध्रप्रदेश के कडप्पा ज़िले में जर्डनी करसर को पुन: खोज लिया गया है।

देश में वन्य प्राणियों के विनाश का सिलसिला रुका नहीं है। कई वन्य प्राणी विलुप्तिकरण के खतरे से घिर चुके हैं। 350 प्रजाति के स्तनधारियों में से 81 प्रजातियाँ विलुप्तिकरण के संकट का सामना कर रही हैं। कई तरह के पक्षी जैसे—**नार्कोन्डम हार्नबिल, गोडावन, साइबेरियन सफ़ेद सारस, निकोबार कबूतर, निकोबार मैगापोडा, मोबल फीज़ेन्ट सफ़ेद पेट वाला समुद्री बाज़, सफ़ेद पंख वाली वुड डक** आदि अनेक पक्षी संकटापन्न हो चुके हैं। साँपों में अजगर तथा अण्डे खाने वाले साँप की स्थिति नाज़ुक हो चली है। सर्प पर आधारित चमड़ा उद्योग से सर्प विनाश को काफी गति मिली है। 1967 से 1968 तक 358413 किलोग्राम सर्प चमड़ा विदेशों को भेजा गया जिससे 107,651, 889 रुपये की आय हुई। अज्ञानतावश विषैलेपन के भय से अनगिन विषहीन सर्प भी प्रतिवर्ष देश में मार दिये जाते हैं जबकि हमारे अन्य उत्पादन का 20-25% भाग बर्बाद करने वाले चूहों को नष्ट कर साँपों ने हमेशा हमारी मदद की है। साँपों की तरह ही कई तरह की छिपकलियाँ, मगर, कछुये आदि भी संकटग्रस्त हैं। कछुओं में सर्वाधिक बुरा हाल **ऑलिव रिडले टर्टल** नामक समुद्री कछुये का है। उड़ीसा प्रान्त की "इकाहुला बीच" इस प्रजाति के कछुओं का एक बड़ा प्राकृतिक प्रजनन स्थल है, जहाँ बड़ी संख्या में कछुओं को प्रतिवर्ष मारा जाता है। इस प्रजाति को विलुप्त होने से बचाने के लिये सरकार ने इसके व्यापार पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इस सकारात्मक कदम का परिणाम शीघ्र सामने आया। जहाँ 1982 में यहाँ 170000 कछुये अण्डे देने पहुँचे थे वहीं मात्र तीन साल बाद 1985 में 300000 कछुये अण्डे देने पहुँचे।

बड़े प्राणि ही विलुप्तिकरण की तरफ जा रहे हों यह भी पूर्ण सत्य नहीं है। विनाश इस कदर तक जारी है कि मेंढक, केकड़े, तितली, गुब्रेले तक भी संकट से घिर चले हैं। मेढकों की टाँगों से विदेशी मुद्रा कमाने के चस्के से **राना टिग्रिना, राना क्रासा, राना हेक्साडैक्टाइला** जैसे मेढक दबाव में आ रहे हैं। 1970 से 1980 के बीच भारत से 1317486 से 376441 किलोग्राम मेढक टाँगें निर्यात होने का अनुमान है। एक अनुमान के अनुसार 1984 में भारत में "टाँग व्यापार" हेतु 200 मिलियन मेढकों का वध किया गया।

देश में वन्य प्राणी विलुप्तिकरण का ज़हर तुच्छ समझे जाने वाले नन्हें-नन्हें वन्य प्राणियों को भी लील रहा है। यह इसी से साबित हो जाता है कि एमेन्थेसिडी कुल की 14, डेनाइडी कुल की 7 तथा लाइसिनिडी कुल की 130 किस्मों की तितलियाँ संकट से घिर गई हैं। यही नहीं, 13 किस्मों के गुब्रेले भी संकटग्रस्त हो चुके हैं।

वन्य जीवों के विलुप्तिकरण के कई कारण हैं। वन विनाश से आवास विनाश, आवास विविधता में कमी, विदेशी प्रजातियों के पौधों को वनों में उगाने की प्रवृति, मोनोकल्चर प्रकार के वनों का विकास, जनसंख्या तथा पशु संख्या का वनों पर बढ़ता बोझ, अवैध शिकार, सूखा, बाढ़, आग, प्रदूषण, भ्रष्टाचार, राजनैतिक दखलन्दाज़ी, जन चेतना की कमी, कीटनाशकों का उपयोग, सुरक्षा स्टाफ की अपर्याप्त संख्या तथा कम सुविधायें, वन्य जीवों सम्बन्धी व्यवहारिक अनुसंधान की कमी, निचले स्तर के कर्मचारियों को उचित प्रशिक्षण की कमी, शिथिलतापूर्वक कानून लागू करने की प्रवृति, भौतिक सभ्यता की शुरुआत, धार्मिक भावना की कमी, मांसाहार भोजन की बढ़ती प्रवृति आदि अनेक कारणों से वन्य प्राणियों का निर्बाध विनाश होता जा रहा है।

इस देश की धरती से केवल वन्य प्राणी ही विलुप्त हुये हों या विलुप्तिकरण की तरफ बढ़े हों, यह बात यहीं समाप्त नहीं होती, अपितु अनेक वनस्पतियों के साथ भी यही सलूक हो रहा है। हमारे वनों से पौधों की 869 किस्में संकटग्रस्त हो चुकी हैं। सच तो यह है कि देश 2000 किस्मों के पुष्पीपौधों के अस्तित्व को किसी न किसी रूप में ख़तरा है। **नेपेन्थीज़, ड्रोसेरा, कुछ फर्न**, अनेक किस्मों के **ऑर्किड, गूगल, नीटम, चन्दन, लाल चन्दन** आदि **आई० यू० सी० एन०** (**International Union for Conservation of Nature and Natural Resources**) की **'रेड डेटा बुक'** में शामिल हो चुके हैं। कुछ पौधे तो लगभग संपूर्ण विलुप्तिकरण की स्थिति में जा चुके हैं। कर्नाटक प्रान्त के उत्तरी कनारा ज़िले में गरसोप्पा जल प्रपात की तराई में किसी ज़माने में बहुतायत से उगने वाली **हूबोर्डिया हेप्टेन्युरोन** नामक घास आज वहाँ विलुप्त हो चुकी है। **डेन्ड्रोबियम पैसीफ्लोरम** नामक ऑर्किड का एक ही पौधा 1970 में बहुत खोज बीन के बाद मिल सका है। राजस्थान में अरावली पर्वत श्रृंखला पर किसी ज़माने में **गूगल** बहुत मात्रा में पाया जाता था, लेकिन आज यह पौधा ख़तरनाक ढँग से विलुप्तिकरण की तरफ बढ़ रहा है। इसी तरह माउन्ट आबू पर उगने वाला **जंगली गुलाब** भी अन्तिम साँसें ले रहा है।

वनस्पति विलुप्तिकरण संसार के हर कोने में जारी है। मारीशस से **कालबेरिया**

मेजर नामक पौधा **डोडो** पक्षी के कारण लगभग विलुप्तिकरण की स्थिति में पहुँच चुका है । कई पौधे तो भूमण्डल पर मात्र अकेले बचे हैं। न्यूज़ीलैण्ड में **टैकोमेन्थस स्पीशियोसा**, दक्षिण अफ्रीका में **ग्लेडियोलस ऑरियस**, मारक्यूसस द्वीप में **लेवेनोशिया कोकियोडीज़**, आस्ट्रेलिया में **यूकेलिप्टस करनाबियाई**, संयुक्त राज्य अमेरिका में **पूनस ग्रेवेसाई** अकेले खड़े संपूर्ण विलुप्तिकरण की घड़ी का इन्तजार कर रहे हैं। ऐसे पौधों की एक बड़ी सूची है जिनकी भूमण्डल पर कुल जीवित संख्या 100 से भी कम शेष बची है ।

वनस्पति विलुप्तिकरण के भी कई कारण हैं। अविवेकपूर्ण वन विनाश, बढ़ती जन-संख्या व पशु संख्या, भौतिकवादी सभ्यता का विकास, बढ़ता औद्योगिकरण, आदिवासी तथा वनवासियों की बढ़ती संख्या, बेकारी, जन चेतना की कमी, प्रदूषण, सूखा, बाढ़, आग, अनियंत्रित चराई, झूम खेती, ढलान वाले क्षेत्रों में खेती करना, नदी घाटी परियो-जनायें, गैर वानिकी कार्यों में वन क्षेत्रों का धड़ल्ले से उपयोग, भूक्षरण, भूस्खलन, आवा-गमन के बढ़ते साधन, वन उपज के दोहन की ठेका प्रथा, वनों को राजस्व का साधन बनाना, अपर्याप्त वन सुरक्षाकर्मी तथा कम सुविधायें, राजनैतिक दखलन्दाज़ी, कानूनी ढिलाई, खनन कार्य आदि-आदि अनेकानेक ऐसे कारण हैं, जिससे वन विनाश को बढ़ावा मिला है ।

वन्य प्राणी-विनाश रोकने हेतु पर्याप्त संख्या में चिड़ियाघर, अभयारण्य, राष्ट्रीय उद्यान, संरक्षित क्षेत्र, बायोस्फीयर रिज़र्व, बायोपार्क, सफारीपार्क आदि की स्थापना करना उचित रहेगा तथा इनको वैज्ञानिक ढँग से सुप्रबंधित करना होगा । वन क्षेत्रों के अलावा कृषि क्षेत्र तथा आबादी क्षेत्र में रह रहे वन्य प्राणियों को बचाने के ठोस उपाय करने होंगे । वन्य प्राणियों के बचाव हेतु उन सब कारणों का अध्ययन करना होगा जिनसे वन्य प्राणी विनाश हो रहा है तथा उन कारणों पर नियंत्रण पाना होगा ।

वनों में मात्रात्मक तथा गुणात्मक उच्चता बनाये रखने हेतु उन सब कारणों को दूर करना होगा जिन्हें वन विनाश हेतु पूर्व में ज़िम्मेदार बताया गया है । साधारण वनों को आरक्षित वन घोषित कर उन्हें कानूनन और सुरक्षा देना उचित रहेगा । सामाजिक वानकी, कृषि वानकी तथा चारागाह विकास को आन्दोलन का रूप देकर अधिक व्यापक बनाना होगा ताकि नये मानव-निर्मित वनों का विकास हो तथा परम्परागत वनों पर दबाव कम हो सके । स्मरण रहे परम्परागत वनों में ही वन्य जीव सुरिक्षित तथा संवर्धित हो सकते हैं ।

वन उपजों के नये व सस्ते विकल्प खोजना वन सुरक्षा की तरफ एक अच्छी पहल होगी । लकड़ी के स्थान पर ईंधन के नये स्रोत रखना ज़रूरी है ।

ऑर्किड जैसे नाजुक पौधों को विलुप्तिकरण से बचाने हेतु **'ऑर्किड उद्यानों'** की स्थापना ज़रूरी है तथा वन क्षेत्रों से इनकी तस्करी को रोकने हेतु **'ऑर्किड कृषि'** को बढ़ावा देना उचित रहेगा ।

वनस्पति तथा वन्य प्राणी विलुप्तिकरण रोकने हेतु जन चेतना जगाना ज़रूरी है । इस कार्य में स्वयंसेवी संस्थाओं से लेकर **बम्बई नेचुरल हिस्ट्री सोसायटी** जैसी वैज्ञानिक

संस्थाओं का सहयोग आपेक्षित है। प्रचार माध्यमों पर इस पहलू को समाज में स्थापित करना ज़रूरी है कि वनस्पति एवं वन्य प्राणियों की उपस्थिति हमारी भावी पीढ़ियों के अस्तित्व के लिए बहुत ज़रूरी है। जनसंख्या नियंत्रण के ठोस प्रयत्न तथा अमेरिका की तरह **'एन्डेन्जर्ड स्पीशीज़ एक्ट'** बनाकर लागू करने एवं पहले से ही बने कानूनों में आवश्यक सुधार कर कठोरता से लागू कर हम वनस्पति तथा वन्य प्राणी विलुप्तिकरण को रोक सकते हैं। अस्तित्व की लड़ाई लड़ रही वनस्पतियों को **'वानस्पतिक उद्यानों'** एवं **'वृक्ष उद्यानों'** में सुरक्षित एवं संवर्धित करना ज़रूरी है। हाल ही में राजस्थान में जयपुर तथा उत्तर प्रदेश में रायबरेली में वृक्ष उद्यानों ((**Arboretums**) की स्थापना इस तरफ एक अच्छा क़दम है।

□□

लुप्तप्राय जीवों को बचाने में संरक्षित क्षेत्रों की भूमिका

☐ राम लखन सिंह

लुप्तप्राय जीवों का आशय है पेड़-पौधों एवं पशु-पक्षियों की वे प्रजातियाँ जो उचित संरक्षण के अभाव में धरती से विलुप्त (एक्सटिन्क्ट) हो जाने की स्थिति में पहुँच गयी हैं। एक अनुमान के अनुसार वर्ष 2000 तक संपूर्ण जीव प्रजातियों (पेड़-पौधे भी जीव ही हैं) की लगभग 15 से 20 प्रतिशत प्रजातियों के विलुप्त हो जाने की संभावना है। इनमें से अनेक ऐसी प्रजातियाँ भी होंगी जिन्हें अभी तक पहचाना भी नहीं जा सका है। इसलिए भविष्य में इनसे संभावित लाभों की जानकारी होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इस पर्यावरणीय संकट को हल करने के लिए विश्व के सभी राष्ट्र अपने भौगलिक क्षेत्रफल के एक भाग को "संरक्षित क्षेत्र" घोषित करके वहाँ प्राकृतिक रूप से पाई जाने वाली जैविक विविधता को सुरक्षा प्रदान करने की नीति अपना रहे हैं। इस उद्देश्य से स्थापित किए गये संरक्षित क्षेत्रों को हम 'वन्यजीव विहार' (वाइल्ड लाइफ सैंक्च्यूरी), 'राष्ट्रीय उद्यान' (नेशनल पार्क), और 'भूमंडल रिज़र्व' (बायोस्फीयर रिज़र्व) के नाम से जानते हैं। इन संरक्षित क्षेत्रों के अतिरिक्त निश्चित जानकारी वाली कुछ लुप्तप्राय प्रजातियों को दूर-दराज के क्षेत्र से लाकर नगरों में स्थापित किए गये 'प्राणि उद्यानों' (बोटेनिक गार्डेन्स) में बसाकर उचित देखभाल करते हुए उनकी वंशवृद्धि करने के प्रयास भी किए जा रहे हैं।

लुप्तप्राय जीवों को बचाने में संरक्षित क्षेत्रों की भूमिका को समझने के लिए जीव प्रजातियों के उत्क्रमण एवं उनके विकास की प्राकृतिक गति को समझना होगा। अनुमानतः लगभग चार अरब वर्ष पहले धरती पर एककोशीय जीवों के रूप में जीवन का शुभारंभ हुआ था। तब से आज तक निरन्तर नये गुणधर्मों वाली जीवप्रजातियों का उत्क्रमण होता रहा है। जो जीवप्रजातियाँ अपने पर्यावरण की जलवायु, तापक्रम, धरातल, खनिज तत्वों की उपलब्धता एवं आस-पास के दूसरे जीव-जन्तुओं की क्रिया-प्रतिक्रिया के अनुरूप स्वयं को नहीं ढाल सकीं उनकी प्रजाति विलुप्त हो गयी और जो ढाल सकीं वह नये गुणों के साथ विकसित होती गयीं। वर्तमान में धरती पर एक करोड़ जीव प्रजातियों के होने का अनुमान है। अभी तक इनमें से लगभग चौदह लाख प्रजातियों को ही पहचाना जा सका है। तालिका—1 से स्पष्ट होगा कि जीव प्रजातियों में स्तनपायी जीवों, पक्षियों एवं दीर्घ वृक्ष प्रजातियों की संख्या संपूर्ण जीव प्रजातियों की तुलना में बहुत कम है। इसलिए हाथी, बाघ, गैंडा, चीता, कस्तूरी मृग, घड़ियाल, बंगाल फ्लोरीकन, साइबेरियन क्रेन,

---

निदेशक, प्रोजेक्ट टाइगर, पर्यावरण एवं वन मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली

चन्दन, सागौन जैसी अधिक परिचित जीव प्रजातियों को बचाने के प्रारंभिक प्रयास रेगिस्तान में एक बूंद के समान है। इसीलिए अब प्रत्येक राष्ट्र में जलवायु एवं धरातल के प्रतिनिधि क्षेत्रों को योजनाबद्ध ढँग से चुनकर संरक्षित क्षेत्र स्थापित करने और वहाँ उपलब्ध संपूर्ण पारि-तंत्र (इकोसिस्टम) को मानवजाति के क्रियाकलापों के दुष्प्रभावों से बचाने का प्रयास किया जा रहा है।

तालिका—1

धरती पर वर्ष 1988 तक पहचानी गयी जीव प्रजातियों की सूची

क्रम संख्या, समुदाय का नाम	प्रजातियों की संख्या
1. विषाणु (वाइरस)	1000
2. जीवाणु (बैक्टीरिया)	4780
3. कवक (फन्जाई)	46983
4. शैवाल (अल्गी)	26900
5. लघु पादप (लोअर प्लान्ट्स)	28428
6. दीर्घ पादप (हायर प्लान्ट्स)	220000
7. प्रोटोज़ोआ	30800
8. अपृष्ठवंशी (इनवर्टीब्रेट)	
(1) लघु अपृष्ठवंशी	106300
(2) कीट-पतंगे	751000
(3) संधिपाद (आर्थोपोड)	123161
(4) अन्य अपृष्ठवंशी	9300
पृष्ठवंशी (वर्टीब्रेट)	
(1) लघु पृष्ठवंशी	1273
(2) मत्स्य	19056
(3) जलस्थल चर एवं सरीसृप (एम्फीबियन एवं रेप्टाइल)	10484
(4) पक्षी	9040
(5) स्तनपायी	4000
योग	1392485

जीव प्रजातियों के विलुप्त होने एवं नये गुणों वाली किस्मों के विकसित होने का प्राकृतिक क्रम अभी भी चल रहा है। किन्तु मानव जाति की गतिविधियों के निरन्तर बढ़ते जा रहे प्रभाव के कारण लुप्तप्राय प्रजातियों की संख्या पहले की तुलना में बहुत अधिक बढ़ गयी है। उदाहरणार्थ सत्रहवीं शताब्दी में जहाँ पाँच वर्षों में एक स्तनपायी जीव प्रजाति के विलुप्त होने की गति थी वहीं बीसवीं सदी में दो वर्षों में एक प्रजाति

विलुप्त हो रही है। यह स्थिति इस कारण चिन्ताजनक है कि स्तनपायी की प्रजातियाँ धरती पर संपूर्ण जीव प्रजातियों की कुल संख्या का मात्र एक प्रतिशत ही है और एक स्तनपायी जीव प्रजाति के विलुप्त होने का अर्थ है वनस्पति एवं कीट-पतंगों की ज्ञात-अज्ञात अनेक प्रजातियों का विलुप्त होना। आई० यू० सी० एन० (इण्टरनेशनल यूनियन फॉर कान्ज़रवेशन ऑव नेचर एण्ड नेचुरल रिसोर्सेज़) द्वारा तैयार रिपोर्ट के अनुसार वर्ष 2050 तक लगभग साठ हज़ार ज्ञात पादप प्रजातियों के विलुप्त हो जाने का अनुमान है। इन अनुमानों के अनुसार उत्क्रमण काल के प्रारंभिक वर्षों की तुलना में जीव प्रजातियों के विलुप्त होने की वर्तमान दर लगभग पच्चीस हज़ार गुना अधिक है।

संरक्षित क्षेत्रों की स्थापना का उद्देश्य जीवप्रजातियों को मानव जाति की गतिविधियों के दुष्प्रभाव से बचाते हुए असमय विलुप्त नहीं होने देकर प्राकृतिक रूप से विकसित होने का अवसर प्रदान करना है। सभी राष्ट्रों ने अपनी भौगोलिक सीमाओं में उपलब्ध जैविक विविधता, अर्थात् जीव प्रजातियों के विविध रूपों को मानव-जनित कारणों से विलुप्त नहीं होने देने के उद्देश्य से संरक्षित क्षेत्रों की स्थापना की है। भारतवर्ष में स्थापित किये वन्यजीव विहार (वाइल्ड लाइफ सैंक्च्यूरी)· राष्ट्रीय उद्यान (नेशनल पार्क) एवं भूमण्डल रिज़र्व (बायोस्फीयर रिज़र्व) इसी श्रेणी के संरक्षित क्षेत्र हैं। वर्ष 1989 के अन्त तक हमारे राष्ट्र में 399 वन्यजीव विहार, 69 राष्ट्रीय उद्यान एवं 7 भूमण्डल रिज़र्व स्थापित किये जा चुके हैं। इन संरक्षित क्षेत्रों के अन्तर्गत देश के सम्पूर्ण भौगोलिक क्षेत्रफल का लगभग चार प्रतिशत भू-भाग आबंटित किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त 45 प्राणि उद्यान एवं वनस्पति उद्यान भी इस दिशा में भूमिका निभा रहे हैं।

संरक्षित क्षेत्रों की उपरोक्त इकाइयों की भूमिकाओं में अन्तर समझने के लिए तीन शब्दों का अर्थ स्पष्ट होना आवश्यक है। ये शब्द हैं वन्य जीव (वाइल्ड लाइफ), प्राकृतवास (हैवीटैट) एवं पारि-तंत्र (इकोसिस्टम)।

"वन्यजीव" के अन्तर्गत प्राकृतिक रूप से उगने-पलने वाली सभी वनस्पति एवं जन्तु प्रजातियाँ आती हैं। जन्तु प्रजातियों का आशय है सभी कीट-पतंगे, रेंगने वाले जीव एवं पशु पक्षी। अधिकांश लोग "वन्य जीव" एवं "वन्य जन्तु" का एक ही अर्थ समझते हैं जो एक गम्भीर भूल है। यह दोनों अलग-अलग शब्द हैं। वन्यजीवों में पेड़-पौधे भी सम्मिलित हैं जबकि 'वन्य जन्तुओं' में केवल पशु-पक्षी, कीट-पतंगे आदि आते हैं।

'प्राकृतवास' का आशय वन्य जीवों के प्राकृतिक निवास स्थल से है। इसमें भूमि, जल, वायुमण्डल एवं पेड़-पौधे आते हैं। 'पारि-तंत्र' का आशय है किसी भू-भाग में पायी जाने वाली जीव प्रजातियों के समूह एवं उनके प्राकृतवास के मेल से बने पर्यावरण का वह खण्ड जिसकी सीमाओं में उन जीवों की समस्त गतिविधियाँ संचालित होती रहती हैं। किसी पारि-तन्त्र में उपलब्ध जीव प्रजातियाँ एक ही जल-चक्र (वाटर साइकिल), ऊर्जा-चक्र, एवं पोषक-चक्र (न्यूट्रिएण्ट साइकिल) की अभिन्न अंग होती हैं। पारि-तंत्र की सीमा में क्षेत्रीय मानव बस्तियाँ भी आती हैं।

उपरोक्त शब्दों का आशय समझ लेने के उपरान्त विभिन्न प्रकार के संरक्षित क्षेत्रों

की भूमिका को सरलता से समझा जा सकता है। "वन्यजीव विहार" की स्थापना वन्य जीवों की दुर्लभ प्रजातियों को संरक्षण देने के उद्देश्य से की जाती है। इसकी सीमाओं में वन्य जीवों को क्षति पहुँचाना दण्डनीय अपराध माना जाता है। किन्तु वन्य जीव विहार में पालतू पशुओं का चरान एवं वृक्षों का सीमित कटान करने की छूट राज्य सरकार दे सकती है।

राष्ट्रीय उद्यान की स्थापना वन्य जीवों की प्रजातियों एवं उनके प्राकृतवास को कानूनी संरक्षण देने के उद्देश्य से की जाती है। अर्थात् राष्ट्रीय उद्यान घोषित किये गये क्षेत्र की सीमाओं में वन्य जीवों के साथ-साथ वहाँ की भूमि एवं जलस्रोतों को भी किसी प्रकार की क्षति पहुँचाना दण्डनीय अपराध माना जाता है। राष्ट्रीय उद्यान की सीमाओं में पालतू पशुओं के प्रवेश पर पूर्ण रोक होती है। राज्य सरकार अथवा केन्द्र सरकार को भी यह अधिकार नहीं है कि वह राष्ट्रीय उद्यान की सीमा में चरान की छूट दे सकें। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय उद्यान में बसे हुए समस्त मनुष्यों को बाहर स्थानान्तरित करने का नियम है। यहाँ गिरी-पड़ी लकड़ी बीनने, पत्तियाँ तोड़ने, घास काटने अथवा सूखे-उखड़े पेड़ों को हटाने पर भी पूर्ण प्रतिबन्ध रहता है। क्योंकि यह सभी किसी न किसी वन्य जीव का प्राकृत वास होते हैं। स्पष्टतः राष्ट्रीय उद्यान ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ प्रकृति को उसके मूल रूप में देखा और समझा जा सकता है। राष्ट्रीय उद्यान की सीमा में बाहर से लाकर किसी वन्य जीव को बसाना भी अवैध कार्य माना जाता है।

"भूमंडल रिज़र्व" की स्थापना दुर्लभ पारि-तंत्रों को संरक्षण देने के उद्देश्य से की जाती है। इसकी सीमाओं को रेखांकन इन प्रकार किया जाता है कि वहाँ उपलब्ध जीव प्रजातियों का सम्पूर्ण पोषक-चक्र संरक्षित हो सके। यहाँ बसे हुए आदिवासियों को पारि-तंत्र का अभिन्न अंग मानते हुए उनको अपने मूल रूप में बनाये रखने की नीति अपनायी जाती है। इसका उद्देश्य वन्य जीवों के साथ-साथ, कृषि, बागवानी एव पशु-पालन में प्रयुक्त वनस्पतियों एवं पशु-पक्षियों की क्षेत्रीय प्रजातियों को भी संरक्षण देना होता है। क्योंकि आधुनिक कृषि प्रणाली एवं पशु-पालन में अधिक उपज देने वाली संकर प्रजातियों का प्रचलन इस तेज़ी से हो रहा है कि अनाज, फल, पशु-पक्षियों एवं सब्ज़ियों की क्षेत्रीय प्रजातियों की किस्मों के भी विलुप्त होने का संकट उत्पन्न हो गया है। परिणामस्वरूप गेहूँ, धान, आलू, आम, मक्का, गाय, बैल, भैंस आदि प्रजातियों की देशी किस्मों का स्थान संकर नस्ल की किस्में लेती जा रही हैं। यह देशी किस्में, उत्पादन की दृष्टि से कम उपयोगी अवश्य प्रतीत होती हैं किन्तु इनमें क्षेत्रीय जलवायु के अनुरूप सूखा, अतिवृष्टि एवं बीमारियों जैसी प्राकृतिक आपदाओं का सामना करने कीं अद्भुत क्षमता होती है। इनके आनुवंशिक गुणों की विशिष्टता को देखते हुए इनकी नस्लों को विलुप्त होने से बचाने की दृष्टि से भूमंडल रिज़र्व का विशेष महत्त्व है।

प्राणि उद्यानों की स्थापना मूल रूप से तो नागरिकों को, देश-विदेश के कौतुक-पूर्ण पशु-पक्षियों की जानकारी उपलब्ध कराकर मनोरंजन करने की दृष्टि से की जाती है। किन्तु अनेक ऐसी लुप्तप्राय प्रजातियों को अब प्राणि उद्यानों में ही संरक्षण देना सम्भव है

जिनकी नस्लें वन क्षेत्रों में विलुप्त हो चुकी हैं या इतनी कम रह गयी हैं कि उनकी वंश-वृद्धि प्राकृतिक दशा में संदिग्ध प्रतीत हो रही है। उदाहरणार्थ भारतीय चीता एवं मणिपुरी हिरण की प्रजातियाँ। प्राणि उद्यानों के मानव निर्मित वातावरण में लुप्तप्राय वन्य जीवों को पालकर उनकी आवश्यकताओं की जानकारी प्राप्त करने का महत्व भी कम नहीं है।

वनस्पति उद्यान लुप्तप्राय पादप प्रजातियों की दृष्टि से वही भूमिका निभाते हैं जो पशु-पक्षियों के संदर्भ में प्राणि उद्यान।

संरक्षित क्षेत्रों की स्थापना करने के लिए स्थान का चयन करना अत्यन्त सूझ-बूझ का कार्य है, क्योंकि जीव-जन्तुओं की प्रजातियों को स्थायी संरक्षण उनके मूल प्राकृतवास में ही दिया जा सकता है। यह प्राकृतवास बर्फीले क्षेत्रों से लेकर, सागरतट और रेगिस्तान तक फैले हैं। नमभूमि (वेट लैण्ड) एवं जलमग्न क्षेत्र भी अनेक जीव-जन्तुओं के प्राकृतवास हैं। इसलिए सम्पूर्ण राष्ट्र का पारितांत्रिक (इकोलाजिकल) दृष्टि से सर्वेक्षण करके भिन्न-भिन्न जीव समुदायों के प्राकृतवास को दृष्टि में रखकर संरक्षित क्षेत्रों का चयन किया जाता है। भारतीय भू-भाग को इस दृष्टि से दस जीव-भौगोलिक (बायो-जियोग्रैफिक) खण्डों में बाँटा गया है—परा हिमालयी (ट्रान्स हिमालयन), हिमालयी, मरुस्थलीय, अर्धमरुस्थलीय, पश्चिमी घाट, मध्य प्रायद्वीप (डेकन पेनिन्सुला), गंगा घाटी के मैदान, उत्तर-पूर्वी क्षेत्र, द्वीप समूह एवं सागर तटीय खंड। इन प्रमुख जीव-भौगोलिक खण्डों में जीव-समुदायों के कुल पच्चीस उपखण्ड उपलब्ध हैं। इन्हीं पच्चीस जीव-समुदायों को आधार बनाकर भारतीय संरक्षित क्षेत्रों का चयन किया गया है। इस दूरगामी नीति के पीछे निहित दृष्टिकोण यह है कि निरन्तर बढ़ती हुई जनसंख्या, शहरीकरण, उद्योगीकरण, प्रदूषण, संकर नस्लों का प्रयोग, रासायनिक खादों एवं कीटनाशक दवाओं का अधिकाधिक क्षेत्रों में विस्तार देखते हुए निकट भविष्य में वे सभी वन्य जीव लुप्तप्राय जीवों की श्रेणी में आ जायेंगे जो आज नहीं हैं। अतः समस्त वन्य जीव प्रजातियों को संरक्षित क्षेत्रों के कवच की आवश्यकता एक समान है। क्योंकि जो प्रजातियाँ आज लुप्तप्राय हैं वे कल नहीं थीं और जो आज नहीं हैं वह कल हो जायेंगी।

भारतीय भू-भाग में प्राकृतिक रूप से पायी जाने वाली जीव प्रजातियों को स्थायी संरक्षण देने की दृष्टि से यह भी देखना आवश्यक है कि प्रत्येक प्रजाति की विविध नस्लों की संख्या क्या है। इस तथ्य को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि किसी प्रजाति के अन्तर्गत वे जीव आते हैं जो परस्पर सहयोग से अपने समान गुणों वाली जननक्षम (फर्टाइल) सन्तान उत्पन्न कर सकें। उदाहरणार्थ घोड़ा एवं गधा के सम्पर्क से सन्तान तो उत्पन्न हो सकती है लेकिन वह जननक्षम नहीं होगी। प्रजातियों में आनुवंशिक गुणों का प्रवाह "जीन्स" के माध्यम से होता है। एक प्रजाति के सदस्यों के अधिकांश जीन्स समान होते हैं किन्तु सूक्ष्म अन्तर वाले जीन्स भी पाये जाते हैं। इसी अन्तर के आधार पर एक ही प्रजाति को उपप्रजातियों एवं किस्मों में बाँटा जाता है। उदाहरणार्थ आम की विभिन्न देशी किस्मों में स्वाद एवं गन्ध की भिन्नता के आधार पर आम प्रजाति

मैन्जीफेरा इन्डिका की अनेक किस्मों को पहचाना जा सकता है। प्रजातियों में उपलब्ध इस 'जेनेटिक' विविधता का नये गुणों वाली संकर नस्लों की खोज में वैज्ञानिक बहुत अधिक उपयोग करते हैं। उदाहरणार्थ जीवाणुओं एवं विषाणुओं से होने वाली बीमारियों के प्रति एक ही प्रजाति की कुछ नस्लों में रोधकक्षमता अधिक होती है और कुछ में कम। इस गुण का लाभ उठाकर वैज्ञानिक ऐसी किस्मों की खोज करने लगे हैं जो बीमारियों के हमले को झेलकर कीटनाशक रसायनों के प्रयोग को सीमित करेंगे। अतः लुप्तप्राय जीव प्रजातियों के संरक्षण की योजना कार्यान्वित करते समय प्रत्येक जाति की क्षेत्रीय किस्मों की विविधता को भी ध्यान में रखना होगा। अर्थात् प्रजाति विविधता (स्पीशीज़ डाइवर्सिटी) के साथ- "जेनेटिक विविधता" को भी संरक्षित करना होगा। ऐसा नहीं करने से हम एक ही प्रजाति में विद्यमान गुणों की विशिष्टताओं को नष्ट कर सकते हैं। उदाहरणार्थ गर्भ निरोधक गोलियों के निर्माण में प्रयुक्त होने वाले रसायनिक तत्व 'डायोस्जेनिन' के प्रमुख स्रोत **'डायोस्कोरिया डेल्ट्वाडिया'** नामक पौधा, जो हिमालय की तराई में बहुतायत से मिलता था, को इसी अज्ञानता के कारण क्षति पहुँची है। इस प्रजाति के बड़ी गाँठ वाले पौधे की नस्ल की तुलना में छोटी गांठ वाली नस्ल से मात्र पन्द्रह प्रतिशत 'डायोस्जेनिन रसायन का उत्पादन होता है। किन्तु अज्ञानतावश बड़ी गाँठ वाली नस्ल को नष्ट कर देने के कारण निरन्तर क्षति उठानी पड़ रही है।

उपरोक्त पृष्ठभूमि में, लुप्तप्राय जीव प्रजातियों को संरक्षण देने की दृष्टि से स्थापित, संरक्षित क्षेत्रों की भूमिका में निम्न तथ्य महत्वपूर्ण हैं :

1. प्रत्येक राष्ट्र को अपने भौगोलिक क्षेत्रफल में उपलब्ध जैविक विविधता अर्थात् जीव प्रजातियों की विविधता को संरक्षित करने का दायित्व निभाना है।

2. जैविक विविधता के अन्तर्गत जेनेटिक विविधता, प्रजाति विविधता एवं पारितंत्र विविधता को स्थान देना होगा।

3. बढ़ती हुई जनसंख्या, प्रदूषण एवं मानव जाति के क्रिया-कलापों के प्रभाव से जो वन्य जीव वर्तमान में लुप्तप्राय नहीं है वे निकट भविष्य में लुप्तप्राय हो जायेंगे इसलिए संरक्षित क्षेत्रों के घेरे में सम्पूर्ण जैविक विविधता को लेकर ही लुप्तप्राय प्रजातियों को सुरक्षित रखा जा सकता है।

4 संरक्षित क्षेत्रों की श्रेणी में वन्य जीव विहार, राष्ट्रीय उद्यान, भूमंडल रिज़र्व, प्राणि उद्यान एवं वनस्पति उद्यान आते हैं। प्रत्येक क्षेत्र की अपनी विशिष्ट भूमिका है।

5. संरक्षित क्षेत्रों के अन्तर्गत राष्ट्र के प्रत्येक जीव-भौगोलिक खण्ड में कम से कम एक भूमंडल रिज़र्व और जीव समुदायों के आधार पर नियोजित उपखण्ड में कम से कम एक राष्ट्रीय उद्यान स्तर का और दो क्षेत्र वन्य जीव विहार स्तर के संरक्षित क्षेत्र स्थापित करना आवश्यक है। प्राणि उद्यानों एवं वनस्पति उद्यानों को मनोरंजन एवं शिक्षा के साथ-साथ प्राकृतिक रूप से विलुप्त हो चुकी अथवा विलुप्त होने की स्थिति में पहुँच चुकी जीव प्रजातियों की वंशवृद्धि के लिए उपयुक्त बनाया जाना चाहिए।

6. संरक्षित क्षेत्रों की स्थापना एवं प्रबन्ध एक जटिल एवं खर्चीला कार्य है। इसलिए आवश्यक संसाधन एवं तकनीकी प्रशिक्षण जुटाने को राष्ट्र की भावी प्रगति के लिए अनिवार्य व्यय माना जाना चाहिए। क्योंकि विभिन्न बीमारियों की दवा, अधिक उत्पादन देने वाली फ़सलों की खोज तथा पर्यावरणीय समस्याओं का निदान उपलब्ध कराने वाले जीवों का अध्ययन इन्हीं क्षेत्रों में संभव है। □□

कृषि और बदलता पर्यावरण

□ डॉ० जगदीप सक्सेना

कृषि और पर्यावरण के बीच गहरा रिश्ता है। यही कारण है कि तेज़ी से बदलते पर्यावरण ने कृषि को गम्भीर रूप से प्रभावित किया है। दूसरी ओर खेती के आधुनिक तौर-तरीके पर्यावरण पर करारी चोट कर रहे हैं। इस प्रकार मानव ने कृषि और पर्यावरण के बीच लाग-डाट जैसी स्थिति पैदा कर दी है। पर मानव के भरण-पोषण के लिए ज़रूरी है कि कृषि और पर्यावरण के बीच सामंजस्य बना रहे।

कृषि और पर्यावरण के बिगड़ते सम्बन्ध अंतर्राष्ट्रीय चिन्ता का विषय है। पिछले साल (सन् 1989) संयुक्त राष्ट्र के खाद्य और कृषि संगठन ने दुनिया भर में मनाये जाने वाले 'विश्व खाद्य दिवस' (16 अक्टूबर) का मुख्य विषय "खाद्य और पर्यावरण" चुना था। इस अवसर पर खाद्य और कृषि संगठन के महानिदेशक **डॉ० एडवर्ड सौमा** ने इस समस्या को रेखांकित करते हुए कहा था, "......हम एक ऐसी समस्या का सामना कर रहे हैं, जो सीमाओं में नहीं बँधी है और जो तुरन्त समाधान माँगती है। इससे निपटने के लिए राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हल खोजने होंगे। हमें ज़्यादा अन्न भी पैदा करना है और मिट्टी की उपजाऊ शक्ति को नष्ट होने से बचाना भी है। हमें ज्यादा पशु भी पालने हैं, पर अन्धाधुंध चराई के कारण चरागाहों को बंजर भी नहीं होने देना है। हमें ज़्यादा मछलियाँ भी प्राप्त करनी हैं और जीवनदायी जल-स्रोतों को बरबादी से भी बचाना है। तभी हम गरीबी और कुपोषण को कम करके, उनकी कोख में पलने वाली हिंसा को निरस्त कर पायेंगे।"

यह तय बात है कि ज़्यादा से ज़्यादा अन्न उपजाने की कोशिश ही धरती समेत पूरे पर्यावरण को बिगाड़ रही है। खेती के आधुनिक तौर-तरीके न केवल भूमि को बंजर कर रहे हैं, बल्कि प्रदूषण जैसी गम्भीर समस्या को भी बढ़ावा दे रहे हैं। जल-प्रदूषण की समस्या में कीटनाशकों और रासायनिक उर्वरकों का भारी हाथ है। और अगर एक बार हमारे जल-स्रोतों को प्रदूषण का गम्भीर रोग लग गया तो सिंचाई के लिए साफ़ पानी मिलना दुश्वार हो जाएगा। फिर कैसे होगी आधुनिक खेती? इस सवाल का वैज्ञानिकों के पास कोई जवाब नहीं है। इसलिए ज़रूरी यह है कि ऐसा पेचीदा सवाल पैदा ही न हो। इसके लिए हमें सोच-समझ कर योजना बनानी होगी। खेती पर धीरे-धीरे चढ़ रहे आधुनिकता के आवरण को हटाना होगा। समाधान से पहले ज़रूरी है कि समस्या को समझा जाय।

सहायक सम्पादक (हिन्दी), भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, कृषि अनुसंधान भवन, पूसा, नई दिल्ली—110012

बंजर होती भूमि

खेती से जुड़ी समस्याओं में भूमि की समस्या सबसे गम्भीर है। भूमि बढ़ने वाली नहीं, पर अन्न की माँग लगातार बढ़ती जा रही है। अन्न की बढ़ती माँग को पूरा करने के लिए कई उपाय किये जा रहे हैं। जैसे—खेतों के अलग-बगल बची सीमान्त भूमि पर भी फ़सलें उगाना, ज़्यादा से ज़्यादा भूमि को सींचने का प्रबन्ध करना, वनों का सफ़ाया करना, ऐसे फ़सल-चक्र तैयार करना जिनसे साल भर खेत में फ़सल खड़ी रहे। ये सारी कोशिशें ऊपरी तौर पर ठीक लगती हैं, पर इनके नतीजे गम्भीर और ख़तरनाक हैं।

इन्हीं प्रयासों के चलते हमारी 17 करोड़ 40 लाख हेक्टेयर कृषि योग्य भूमि किसी न किसी रोग से ग्रस्त है, जबकि कृषि योग्य भूमि का कुल क्षेत्रफल केवल 26 करोड़ 50 लाख हेक्टेयर ही है। इस कारण प्रत्येक नागरिक के हिस्से में कृषि योग्य भूमि का क्षेत्रफल कम होता जा रहा है। सन् 1950 में भारत के हर नागरिक के हिस्से में 0·33 हेक्टेयर कृषि योग्य भूमि थी, जो सन् 1980 में घटकर 0·20 हेक्टेयर रह गई। अनुमान है कि सन् 2000 में प्रत्येक व्यक्ति के हिस्से में केवल केवल 0·11 हेक्टेयर भूमि होगी। इसके पीछे धरती के धीरे-धीरे बंजर होने के साथ ही, बढ़ती आबादी का हाथ भी है।

धरती के बंजर होने के मुख्य रूप से तीन कारण हैं—भू-क्षरण, लवणीयता और जलभराव। खाद्य और कृषि संगठन द्वारा जारी एक दस्तावेज़ के अनुसार भारत की आधी से ज़्यादा कृषि योग्य भूमि पर इन्हीं कारणों से बंजर होने का ख़तरा मँडरा रहा है।

नष्ट होती उपजाऊ पर्त

भू-क्षरण की समस्या वनों के सफ़ाये से उपजी है। वनों का सफ़ाया या तो बढ़ती आबादी को बसाने के लिए किया जाता है या फिर खेती के लिए। मानव की ज़रूरतें पूरी करने के लिए भी वनों की कटाई की जाती है। उपग्रह द्वारा भेजे गए चित्रों से पता लगा है कि हमारे यहाँ हर साल लगभग 1 लाख हेक्टेयर वनों का सफ़ाया हो रहा है। पशुओं की बढ़ती तादाद और उनकी बेरोकटोक चराई भी धरती को वनस्पतिविहीन करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है [अनुमान है कि सन् 2000 तक धरती पर मानव की आबादी और पशुओं की तादाद बराबर बराबर होंगी]। मृदा पर वनस्पतियों की जड़ों की पकड़ न होने से उसकी ऊपरी उपजाऊ पर्त (टॉप सॉयल) बरसात के पानी या तेज़ हवाओं द्वारा बड़ी आसानी से बह जाती है। मृदा वैज्ञानिकों का कहना है कि अगर धरती की ऊपरी मृदा की 20 सेंटीमीटर पर्त बह जाए तो भूमि में कुछ भी उगा पाना असंभव है। अनुमान लगाया गया है कि हमारे देश में हर साल 533 करोड़ 30 लाख टन मृदा भू-क्षरण का शिकार हो जाती है यानी प्रति हेक्टेयर भूमि से 16.4 टन मृदा बह जाती है। मिट्टी का 29 प्रतिशत भाग बहकर सागरों में चला जाता है, जबकि 10 प्रतिशत भाग नदियों-नहरों आदि की तलहटी में जमा हो जाता है। नदियों की तलहटी में जमी यही गाद बाढ़ का कारण बनती है, जो खेती को भी बर्बाद करती है।

भू-क्षरण की समस्या लैटेराइट मृदाओं में ज़्यादा है, जिनका क्षेत्रफल लगभग 60

करोड़ हेक्टेयर है। देश के लगभग 7 करोड़ 30 लाख हेक्टेयर क्षेत्रफल पर फैली काली मृदाएँ बरसात कम झेलती हैं, लेकिन उनमें भू-क्षरण जल्दी होता है। ये दोनों ही मृदाएँ भू-क्षरण के कारण हर साल लगभग 54 टन पोषक तत्वों से हाथ धो बैठती हैं।

जलभराव और लवणीयता

हमारे देश में जलभराव और लवणीयता का रोग भूमि के प्रमुख रोगों में से एक है। जलभराव की समस्या से 60 लाख हेक्टेयर भूमि प्रभावित है। ये दोनों ही समस्याएँ सिंचाई की सुविधाओं की देन हैं। यही कारण है कि नहरों द्वारा सिंचाई के कमान क्षेत्रों में जलभराव की समस्या सबसे ज्यादा है। वर्तमान में सिंचाई के तमाम क्षेत्रों का क्षेत्रफल लगभग 3 करोड़ हेक्टेयर है। साथ ही हर साल लगभग 5 लाख हेक्टेयर भूमि को सिंचाई के अन्तर्गत लाने की व्यवस्था की जा रही है। सिंचाई की योजनाओं के साथ सबसे बड़ी कमी यह है कि इनके साथ जल-निकासी की उचित व्यवस्था नहीं की जाती। ऐसी दशा में जलभराव की समस्या पैदा होना स्वाभाविक है। सिंचाई के स्रोत से खेतों तक की दूरी तय करने में भी पानी का नुकसान होता है। यह भी जलभराव पैदा करता है। इस प्रकार हर साल जितनी भूमि को सींचने की व्यवस्था की जाती है, लगभग उतनी ही भूमि बंजर भी हो जाती है। यानी सिंचाई की व्यवस्था करने में जो कुछ खर्च होता है, वह व्यर्थ चला जाता है।

लवणीयता की समस्या जलभराव के कारण पैदा होती है। जलभराव से ग्रस्त भूमि में गर्मियों में पानी तेज़ी से भाप बनकर उड़ता है और उसके लवण मिट्टी में ही रह जाते हैं। धीरे-धीरे ये लवण मिट्टी की सतह पर पपड़ी के रूप में जम जाते हैं। भूमि में घास का एक तिनका भी नहीं पनप पाता। धरती बंजर हो जाती है।

फैलते रेगिस्तान

भूमि के ज़र्रे-ज़र्रे से फ़सल उगाने की कोशिश का नतीजा हैं फैलते रेगिस्तान। साल भर में भूमि को कभी खाली न छोड़ना भी भूमि को रेगिस्तान में बदल देता है। यहाँ रेगिस्तान का मतलब रेत से लबालब भरी भूमि नहीं है, बल्कि धरती का हमेशा के लिए बंजर हो जाना है। एक अनुमान के अनुसार भारत समेत दुनिया के 100 से अधिक देशों में नये मरुस्थल पनप रहे हैं और पुराने मरुस्थल अपना आकार बढ़ाते जा रहे हैं।

संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के अनुसार दुनिया के सूखे और अध-सूखे क्षेत्रों की 80 प्रतिशत उपजाऊ भूमि पर मरुस्थलीकरण का खतरा भँडरा रहा है। यह भी अनुमान लगाया गया है कि अगर मरुस्थलीकरण पर कोई प्रभावी रोक नहीं लगायी गयी तो अगली सदी तक दुनिया के रेगिस्तानों का क्षेत्रफल वर्तमान से तिगना हो जाएगा। दुनिया भर में हर साल लगभग दो करोड़ उपजाऊ धरती खेती के आधुनिक तौर तरीकों के चलते रेगिस्तान में तब्दील हो जाती है। इस प्रकार सदी के अंत तक वर्तमान कृषि योग्य भूमि का एक तिहाई हिस्सा रेगिस्तान की शक्ल ले लेगा। इससे कितना नुकसान होगा, अंदाज़ा लगाया जा सकता है।

हमारे देश में न केवल पहले से मौजूद रेगिस्तानों का फैलाव हो रहा है, बल्कि छोटे-छोटे टुकड़ों की शक्ल में रेगिस्तान जगह-जगह पनप रहे है। ऐसा केवल सूखे क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं है। उत्तर प्रदेश के चमोली, उत्तर-काशी जैसे पहाड़ी ज़िलों में गंगा-यमुना के मैदान में और पंजाब में भी रेगिस्तान पनप रहे हैं।

कीटनाशक दवाओं का कहर

फ़सलों को कीड़ों से बचाकर भरपूर उपज लेने के लिए कीटनाशक दवाओं का इस्तेमाल आम हो गया है। पिछले कुछ सालों से हमारे देश में इनका इस्तेमाल तेज़ी से बढ़ा है। कीटनाशक दवाओं की लोकप्रियता का अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि अब दूरदर्शन पर घरेलू वस्तुओं की तरह इन दवाओं का विज्ञापन भी होने लगा है। पर क्या ये दवाएँ अपने उद्देश्य में पूरी तरह से सफ़ल हैं ? क्या इनसे इतना लाभ है कि इनके ज़हर का ख़तरा उठाया जाय ? इन सवालों का जवाब जानने के लिए इस मामले को थोड़ा ग़हराई से समझना होगा।

कीटनाशक दवाओं का इस्तेमाल सन् 1946 में डी डी टी की खोज से शुरू हुआ। उस समय ऐसा लगा कि अब खेतों में कीड़ों की समस्या हमेशा के लिए खत्म हो जाएगी। पर हुआ इसका उल्टा। जैसे-जैसे नए कीटनाशक बाज़ार में आते गए, वैसे-वैसे कीड़ों का प्रकोप भी ज़ोर पकड़ता गया। जो कीड़े पहले खास नुकसान नहीं पहुँचाते थे, वे भी कीड़ों की फौज़ में पहली कतार में आ गए। धीरे-धीरे लगभग 450 किस्म के कीड़ों ने अपने में कीटनाशकों के प्रति रोधकक्षमता विकसित कर ली।

कुछ कृषि विशेषज्ञों का मानना है कि कीड़ों की समस्या अब पहले से ज़्यादा बढ़ गई है। करोड़ों टन कीटनाशकों के उपयोग के बावबूद फ़सलों की संभावित उपज का 48 प्रतिशत हिस्सा कीड़े चट कर रहे हैं। एक अध्ययन के अनुसार 1942 से 1974 के बीच कीटनाशक दवाओं का इस्तेमाल लगभग दस गुना बढ़ा, जबकि कीड़ों द्वारा फ़सलों को होने वाले नुकसान का प्रतिशत सात से बढ़कर चौदह हो गया।

कीटनाशकों के इस्तेमाल के आर्थिक पक्ष पर भी कुछ अध्ययन हुए हैं। अमेरिका की कॉर्नेल यूनिवर्सिटी के वैज्ञानिक डेविड पिमेन्टल ने बताया है कि अगर कीटनाशक दवा पर एक डॉलर खर्च किया जाय तो बढ़ी हुई पैदावार से चार डॉलर का लाभ होता है। लेकिन कीटनाशकों के इस्तेमाल से पर्यावरण और समाज को नुकसान होता है, उसे किसी मुद्रा में आँकना असम्भव है। कीटनाशकों के इस्तेमाल से मानव और घरेलू पशुओं के स्वास्थ्य को गंभीर नुकसान पहुँचता है। प्राकृतिक सम्पदा नष्ट होने से पर्यावरण को अपूरणीय क्षति उठानी पड़ती है।

खाद्य और कृषि संगठन का अनुमान है कि दुनिया में हर साल दस हज़ार लोगों की ज़ान कीटनाशी रसायनों के ज़हर के कारण जाती है। हमारे यहाँ हालत और भी गंभीर है क्योंकि अनपढ़ और ग़रीब किसानों को न तो कीटनाशी रसायनों के ज़हरीलेपन की ज़्यादा जानकारी है और न ही वे सुरक्षा के सभी क़दमों को उठाने में समर्थ हैं। इसी साल अप्रैल में बस्ती (उत्तर प्रदेश) में कीटनाशक दवाओं की बदौलत ही 150 बारातियों

की जान चली गई। वहाँ कीटनाशकों से सुरक्षित गेहूँ के आटे की पूड़ियाँ परोसी गईं थीं। गाँव वालों की अज्ञानता के कारण गेहूँ को बिना धुलाये ही पिसवा दिया गया था।

हमारे यहाँ डी डी टी का इस्तेमाल बहुत ज्यादा है। यही वजह है कि कुछ स्थानों पर पशुओं के दूध, माताओं के दूध और मनुष्य के रक्त में डी डी टी पाया गया है। स्तनपान कराने वाली महिलाओं के दूध में डी डी टी का पाया जाना न केवल उनके स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है, बल्कि नवजात शिशुओं के लिए भी ख़तरनाक होता है। बच्चे कई प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोगों के शिकार हो जाते हैं।

हैदराबाद के नीलोफर अस्पताल से सम्बद्ध आनुवंशिकी और बाल स्वास्थ्य संस्थान के वैज्ञानिकों ने अंगूर के बाग़ में ही रह रहे परिवारों पर अध्ययन किया है। अंगूर के बाग़ में नियमित रूप से कीटनाशक दवाओं का छिड़काव होता था। देखा गया कि वहाँ की महिलाओं में गर्भपात की दर अधिक थी। नवजात शिशुओं के गुणसूत्र (क्रोमोसोम) भी क्षतिग्रस्त पाये गये। बच्चों समेत वहाँ के पुरुषों और महिलाओं के रक्त में कीटनाशक दवाएँ पाई गईं। इससे जानलेवा कैंसर के अलावा दमा, हृदय रोग, अंधापन और पागलपन जैसे रोग पैदा होने की संभावना भी थी।

कीटनाशक दवाएँ केवल मनुष्य और पशुओं के स्वास्थ्य को ही नुकसान नहीं पहुँचाती, बल्कि लाभकारी कीड़ों और फ़सलों का भी सफ़ाया कर देती हैं। कुछ साल पहले मुज़फ्फरपुर क्षेत्र में लीची और आम के फूलों पर कीटनाशकों के छिड़काव के कारण 80 प्रतिशत मधुमक्खियाँ मर गईं, जबकि मधुमक्खियाँ परागण द्वारा फ़सलों की उपज बढ़ाने का काम करती हैं। गन्ने की फ़सल पर छिड़की गई कीटनाशक दवा, मटर, टमाटर और पपीते की फ़सल को भी चौपट कर देती है। कुछ समय पहले पंजाब में खरपतवार-नाशक रसायन 'आरलन —75' के छिड़काव के कारण गेहूँ की फ़सल झुलस गई। अगर ध्यान दिया जाय तो ऐसे एक दो नहीं दर्जनों उदाहरण मिल जाएँगे।

सामंजस्य की ओर

वैज्ञानिकों का मानना है कि खेती और पर्यावरण के बीच सामंजस्य बैठाना कठिन ज़रूर है, पर असम्भव नहीं। उदाहरण के तौर पर सिंचाई योजनाओं की ही बात लें। अगर सिंचाई योजनाओं के साथ जल-निकासी की व्यवस्था करना अनिवार्य कर दिया जाय तो भूमि की आधी से अधिक समस्या हल हो जाएगी। साथ ही कुछ ऐसी नई खोजों की ज़रूरत भी है जो मिट्टी में पानी को अधिक समय संजोये रख सकें। सन् 1987 में पुणे स्थित राष्ट्रीय रासायनिक प्रयोगशाला के वैज्ञानिकों ने एक ऐसा ही क्रांतिकारी उत्पाद तैयार किया था। इसे "जलशक्ति" का नाम दिया गया था। जलशक्ति एक कार्बनिक पॉलीमर है, जो अपने भार की तुलना में 100 से 1000 गुना ज़्यादा पानी संजोये रख सकता है। इस प्रकार की खोजों को तेज़ी से लोकप्रिय बनाने की ज़रूरत है।

फ़सलों को कीड़ों से बचाने के लिए हाल ही में एक चमत्कारी तकनीक भी सामने आई है। इसमें किसानों को ऐसा लगता है कि बिना कीटनाशक रसायनों के कीड़ों पर काबू पाना असंभव है। दरअसल ऐसा नहीं है। प्राकृतिक या वनस्पतियों से प्राप्त होने वाले कीटनाशक भी खासे कारगर पाये गये हैं। रासायनिक कीटनाशकों की खोज से बहुत पहले से हमारे देश में कीड़ों को मारने के लिए नीम का इस्तेमाल होता आया है। सबाडिला नामक पौधे के कीटनाशक गुण सोलहवीं शताब्दी से ही ज्ञात हैं। सन् 1828 से पायरेथ्रम से कीटनाशक तैयार किए जा रहे हैं। सन् 1848 से पहले से ही जायफल पर लगने वाले कीड़ों को मारने के लिए रोटीनोन का उपयोग किया जाता था। तम्बाकू के कीटनाशक गुण भी सन् 1860 से ही ज्ञात हैं। इन वनस्पति उत्पादों को फिर से विकसित करने, उपयोग करने और लोकप्रिय बनाने की ज़रूरत है।

हाल ही में विकसित जैविक नियंत्रण प्रणाली भी घातक रसायनों से छुटकारा दिलाने में मददगार साबित हो रही है। इसके अन्तर्गत हानिकारक कीड़ों को मारने के लिए उन्हीं के दुश्मन कीड़ों को खेत में छोड़ दिया जाता है। अभी तक भारत में यह प्रणाली प्रायोगिक अवस्था में ही है। इसे जल्दी से जल्दी व्यावहारिक स्तर पर लाना होगा।

फ़सलों को टीके लगाये जाते हैं। रूस के वैज्ञानिकों ने आलू, टमाटर, चुकन्दर और कई अन्य फ़सलों को कीड़ों से बचाने के लिए प्रभावकारी टीके तैयार किये हैं। इनकी कार्यप्रणाली हमारे शरीर में लगाये जाने वाले टीकों जैसी ही है। एक लीटर पानी में टीके की चन्द बूँदें फ़सलों को कीड़ों से बचाये रखती हैं।

सब कुछ कुदरत के भरोसे

कुछ पर्यावरण वैज्ञानिकों की राय में खेती ओर फ़सलों की देखभाल का जिम्मा कुदरत पर छोड़ना सबसे कारगर होगा। इसे प्राकृतिक खेत का नाम दिया गया है। इसके अन्तर्गत रसायनों के इस्तेमाल की सख़्त मनाही है। हल भी नहीं चलाया जाता। बुआई के बाद लगभग सब कुछ कुदरत के भरोसे छोड़ दिया जाता है। फ़सलों को केवल पशुओं से बचाने का बन्दोबस्त किया जाता है।

प्राकृतिक खेती के विचार की देन का श्रेय जापानी वैज्ञानिक **मसानोबु फुकुओका** को है। उन्होंने इस विचार को केवल विचार तक ही सीमित नहीं रखा, बल्कि इसे खेतों में आज़माया और सफ़ल बनाया। प्राकृतिक खेती के प्रचार-प्रसार के लिए उन्होंने अपने अनुभव 'द वन स्ट्रा रेवोल्यूशन' नामक पुस्तक में प्रस्तुत किये। इसी पुस्तक को पढ़कर हमारे देश में कुछ लोगों में इसे आज़मा कर देखने की प्रेरणा जगी। भोपाल से 40 किलोमीटर दूर, होशंगाबाद से तीन किलोमीटर दूर नर्मदा के तट पर एक गाँव है रसूलिया। वहाँ इस प्रणाली को आज़माया गया और कारगर पाया गया। इस प्रणाली को वैज्ञानिक स्तर पर परखने और विश्लेषण करने की ज़रूरत है।

कृषि और बदलते पर्यावरण के सम्बन्धों का उपर्युक्त विश्लेषण केवल एक बानगी भर है। दोनों के बीच बहुत सूक्ष्म और व्यापक सम्बन्ध हैं। इसलिए कृषि और पर्यावरण को अलग-अलग खानों में रखकर सोचने से बनेगी। कृषि वैज्ञानिकों और पर्यावरण वैज्ञानिकों के बीच आपसी तालमेल बहुत ज़रूरी है। तभी यह सम्बन्ध सुधरेगा। □□

पर्यावरणीय समस्याएँ और कीटनाशी रसायन

□ डॉ० हेमचन्द्र जोशी

कीटनाशी रसायनों के प्रयोग से संबंधित पर्यावरणीय समस्याओं के संदर्भ में सर्व प्रथम भोपाल गैस दुर्घटना की यादें ताज़ी हो जाती हैं। दो दिसम्बर 1984 की वह काली रात जिसमें भोपाल में एक कीटनाशी रसायन फ़ैक्टरी से मिथाइल आयसोसायनाइड गैस के रिसाव से सैकड़ों लोग सुबह आँख भी नहीं खोल पाये थे तथा हज़ारों लोग अगले कई दिनों तक अस्पतालों में दम तोड़ते रहे। यही नहीं, हज़ारों लोग अभी भी उस काली रात के दुष्परिणाम की यातनाएँ भोग रहे हैं। यूनियन कार्बाइड का यह प्रतिष्ठान कार्बामेट श्रेणी के रसायन बना कर देश के लाखों किसानों की सेवा कर रहा था। इनमें सेविन (कार्बारिल) नाम का मुख्य रसायन साग-सब्ज़ी की खेती में विशेष योगदान दे रहा था। अधिकतर कृषक मुख्य सब्ज़ियों जैसे भिंडी, बैंगन, करेला इत्यादि की कीट-पतंगों से रक्षा के लिए प्रयोग कर रहे थे। वास्तव में यदि साग-सब्ज़ी से भरी पूरी बाज़ार का श्रेय इसी रसायन को दिया जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। इस दुर्घटना के बाद कम्पनी की साख को तो धक्का लगना ही था मगर देश भर में फैले कृषकों को भी इसके दूरगामी परिणामों का अहसास अवश्य हुआ होगा। एक ऐसा रसायन जिस पर कि कृषकों का बहुत विश्वास था तथा देश में ही निर्मित होने के कारण सरलता से उपलब्ध था, एकाएक गायब हो गया। किन्तु 3000 व्यक्तियों के प्राणों की तुलना कितने ही उपयोगी से उपयोगी रसायन के साथ नहीं हो सकती। एक प्राण की भी रक्षा कई उपयोगी रसायनों से अधिक महत्त्व-पूर्ण है। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि रसायनों के उत्पादन, परीक्षण एवं उपयोग के साथ-साथ लोगों को भी किसी प्रकार की हानि न हो? अधिक अन्न या साग-सब्ज़ी का उत्पादन भी तो प्राणों की रक्षा के लिए ही किया जाता है।

सेविन ही नहीं, कई अन्य ऐसे रसायन हैं जिन्होंने कृषि की विभिन्न फ़सलों की अनेक प्रकार के कीटों तथा बीमारियों से रक्षा करके अन्न उत्पादन में अमूल्य योगदान किया है। कृषि ही एक ऐसा क्षेत्र है जो देश के लगभग 84 करोड़ लोगों के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। देश के प्राकृतिक संसाधनों के यथोचित उपयोग के लिए विदेशी मुद्रा के भंडार को सुरक्षित रखना भी जरूरी है। इसलिए कीटनाशी रसायनों की खरीद के लिये आयात पर निर्भरता को कम करना आवश्यक है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए कीटनाशियों का देश में ही निर्माण करना देश की सर्वोच्च प्राथमिकता है। लेकिन भोपाल दुर्घटना ने हमारी कृषि संबंधी नीतियों की व्यावहारिकता पर बहुत बड़ा प्रश्नचिह्न

केन्द्रीय मत्स्य अनुसंधान संस्थान, बैरकपुर (पश्चिमी बंगाल)

लगा दिया है। इस असमंजस की स्थिति से उबरने के लिए देश में कीटनाशी रसायनों के उपयोग पर व्यापक चिंतन एवं विचार-विमर्श की आवश्यकता है। इस संदर्भ में चार मुख्य पहलुओं पर ध्यान देना होगा। ये पहलू हैं—(1) कृषि एवं स्वास्थ्य संरक्षण, (2) पर्यावरण संरक्षण, (3) शिक्षा एवं प्रसार तथा (4) कानूनी उपाय।

कृषि एवं स्वास्थ्य संरक्षण

बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए भोजन एवं स्वास्थ्य सुविधाएँ जुटाना केवल भारत के लिए ही नहीं समूचे विश्व के लिए एक विकट समस्या है। अधिक पैदावार वाली किस्मों, उर्वरकों व सिंचाई की सुविधाएँ जुटाने के बाद भी फ़सलों का एक बहुत बड़ा भाग (30-40%) केवल कीट-पतंगों व बीमारियों द्वारा नष्ट हो जाता है। अनाज के इसी अंश की रक्षा के लिए कीटनाशी रसायनों का प्रयोग होता है। हालांकि आजकल पौधों के संरक्षण के लिए समन्वित नियंत्रण की वकालत की जाती रही है पर वस्तुस्थिति यही है कि बिना रसायनों के हानिकारक कीटों से फ़सल की यथोचित रक्षा नहीं हो पाती। अंततोगत्वा कीटनाशी ही एकमात्र विकल्प रह जाते हैं। विशेषत: भारत में अभी अन्य विधियाँ इतनी कारगर नहीं हुई हैं, जिनके प्रयोग से कीटनाशियों के प्रयोग को रोका जा सके या अत्यधिक कम किया जा सके।

जन-स्वास्थ्य की दृष्टि से भी भारत में स्थिति अधिक भिन्न नहीं है। समय-समय **डेन्गु, इंसेफलाइटिस, मलेरिया** इत्यादि बीमारियों का देश के किसी न किसी भाग में प्रकोप बना रहता है। रसायनिक कीटनाशी इन बीमारियों के प्रकोप से बचने के निर्विवाद उपाय हैं अर्थात् बढ़ती जनसंख्या के दबाव से ग्रस्त हमारी कृषि व जनस्वास्थ्य सेवाओं में कीटनाशियों का प्रयोग नितांत आवश्यक है। अत: कीटनाशियों से संबंधित किसी प्रश्न पर विचार करने से पहले यह स्वीकारना अत्यंत आवश्यक है कि आने वाले दस वर्षों में कीटनाशियों के प्रयोग में कोई कटौती नहीं की जा सकती। इसके विपरीत कीटनाशियों के प्रयोग में वृद्धि होने की अधिक संभावना है। सातवीं योजना में कीटनाशियों के उत्पादन को लगभग दुगुना करने का प्रावधान था। लेकिन पिछले पाँच वर्षों के आँकड़े दर्शाते हैं कि कीटनाशियों का उत्पादन लगभग 55000 मीट्रिक टन के आस-पास थमा हुआ है (सारणी–1)।

सारणी—1. भारत में कीटनाशियों का वार्षिक उत्पादन

वर्ष	कुल उत्पादन मीट्रिक टन में
1982-83	57,926
1983-84	58,798
1984-85	58,416
1985-86	54,919
1986-87	56,186

पर्यावरण संरक्षण

कीटनाशी उत्पादन से सम्बन्धित पर्यावरणीय दुर्घटनाओं में भोपाल गैस काण्ड से बढ़कर कोई उदाहरण नहीं। लेकिन इससे पहले भी कीटनाशियों के उत्पादन, निर्गमन, व इनके प्रयोग से पर्यावरण सम्बन्धी दुर्घटनाएँ होती रही हैं। भारत में ठक्कर आयोग (1967) व उसके बाद भी अन्य स्रोतों द्वारा कीटनाशी सम्बन्धी घटनाओं की चर्चा समय-समय पर होती रही है। भारत में ही नहीं विश्व के लगभग सभी क्षेत्रों में इस प्रकार की दुर्घटनाएँ होती रही हैं। वास्तविकता तो यह है कि कीटनाशी रसायनों के दूरगामी पर्यावरणीय दुष्प्रभावों का आभास छठे दशक के प्रारम्भ से ही हो गया था तथा वर्ष 1962 में **रैशेल कार्सन** की पुस्तक 'साइलैंट स्प्रिंग' ने तो हलचल ही मचा दी। जहाँ कार्सन ने कीटनाशियों के दुष्प्रभाव से वनों से पक्षियों के कोलाहल के शान्त हो जाने की बात कही वहीं भोपाल दुर्घटना ने कीटनाशियों के उत्पादन की प्रक्रिया में थोड़ी सी असावधानी व उपेक्षा के दुष्परिणामों की विभीषिका का एहसास कराया। इस दुर्घटना के लिए कोई भी उत्तरदायी हो पर मानव जाति के उत्पीड़न के इस क्रूरतम प्रसंग ने यह मानने के लिए बाध्य कर दिया है कि कीटनाशी केवल रसायन ही नहीं बल्कि विनाशकारी विषैले पदार्थ हैं। अतः इनके प्रयोग व उत्पादन में राजनैतिक, प्रशासनिक, तकनीकी व आर्थिक अनियमितताओं के लिए मापदण्डों का होना नितांत आवश्यक है।

कीटनाशियों की पर्यावरण सम्बन्धी घटनाएँ उत्पादन के समय ही नहीं कीटनाशियों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में भी हो सकती हैं। उनके प्रयोग के समय भी हो सकती हैं तथा उनके अवशेष सम्बन्धी समस्याएँ हमारे यहाँ अधिक हैं। ऐसा क्यों है जबकि भारत में कीटनाशियों की खपत भी केवल 350 ग्राम प्रति हेक्टेयर आँकी गई है और इसका भी अधिकतर भाग कपास की फ़सल में प्रयुक्त होता है? खाद्य फ़सलों में तो यह मात्रा केवल 120 ग्राम प्रति हेक्टेयर है। विश्व के अन्य देशों में यह मात्रा 1400 से 10000 ग्राम प्रति हेक्टेयर है जो कि हमारे देश से कहीं अधिक है। देश के पूर्वी व उत्तर पूर्वी भागों में तो कीटनाशियों का प्रयोग बहुत ही कम है। पर आँकड़े बतलाते हैं कि भारत में मानव वसा में सर्वाधिक डी डी टी के अवशेष हैं। इन आँकड़ों की विश्वसनीयता कितनी है, इसकी खोजबीन करना बहुत आवश्यक है।

भारत में डी डी टी के अवशेषों का सर्वप्रथम उल्लेख डेल के शोध-पत्र में मिलता है जिसमें मानव वसा तन्तु में डी डी टी की मात्रा 27 पी पी एम (प्रति दस लाख भाग) दर्शायी गयी थी। उसके बाद 1974 में **राम चन्द्रन** के अनुसार यह मात्रा 20 पी पी एम निकली। 1978 में राष्ट्रीय व्यावसायिक स्वास्थ्य संस्थान, अहमदाबाद की एक रिपोर्ट में यह मात्रा 11 व 4 पी पी एम दर्शायी गई है। इसी तरह अन्य रिपोर्टों में दिल्ली के दूध के नमूनों में, हैदराबाद के अण्डों के नमूनों में भी डी डी टी के अवांछित स्तर तक अवशेष पाये गये हैं। अधिकतर अध्ययनों में पाया गया कि पशुओं के चारों में सीधे डी डी टी मिलाये जाने के कारण डी डी टी के अवशेष सीधे पशुओं में स्थानान्तरित हो गये।

इन उदाहरणों से कीटनाशी अवशेष सम्बन्धी प्रदूषण के दो पक्ष स्पष्ट होते हैं— एक तो यह कि इन अध्ययनों से कीटनाशी अवशेषों की तस्वीर ठीक से नहीं उभरती क्योंकि तीन रिपोर्टों में तीन तरह की बातें कहीं गई हैं। इनमें से राष्ट्रीय व्यावसायिक स्वास्थ्य संस्थान की रिपोर्ट अधिक विश्वसनीय लगती है, जिसमें 300 नमूनों को अध्ययन का आधार बनाया गया है जबकि अन्य दो रिपोर्टों में केवल 22 व 88 नमूने ही अध्ययन के आधार हैं। इससे एक बात और भी स्पष्ट होती है कि यदि अध्ययन का आधार और भी व्यापक बनाया जाय तो मानव वसा तन्तुओं में डी डी टी अवशेष की मात्रा निश्चय ही 4 पी पी एम से कम होगी।

इन अध्ययनों का दूसरा पक्ष यह है कि खाद्य पदार्थों या मानव वसा में कीटनाशी अवशेषों की मात्रा देश में कीटनाशी रसायनों के प्रयोग से कम बल्कि उनके ग़लत प्रयोग से ज़्यादा जुड़ी है। चारे में कीटनाशी मिला देना, फ़सल उठाने के दो तीन दिन पहले कीटनाशी का प्रयोग करना, घर में पुताई के समय में चूने में डी डी टी मिला लेना, कीटनाशी के डिब्बों इत्यादि को तालाब में धोना तथा दो या दो से अधिक कीटनाशी मिलाकर प्रयोग करना इन रसायनों के दुष्प्रयोग के कुछ उदाहरण हैं। देश की पर्यावरणीय समस्याएँ कीटनाशियों के उचित उपयोग द्वारा काफ़ी हद तक सुलझाई जा सकती है।

शिक्षा एवं प्रसार

शिक्षा ऐसा क्षेत्र है, जहाँ अभी बहुत कुछ होना बाकी है। अतः उसमें नई प्राथमिकताओं का समन्वय करना कोई सरल कार्य नहीं है। पर्यावरण व पारिस्थितिकी पर प्राथमिक व माध्यमिक स्तर पर नये पाठ्यक्रमों को पहले ही सम्मिलित कर लिया गया है। ये कार्यक्रम पर्यावरण व पारिस्थितिक संतुलन के दायित्वों के प्रति जनमानस को तैयार करने के लिए अत्यन्त सहायक होंगे। विषैले कीटनाशियों व अन्य रसायनों के पारिस्थितिकीय दुष्प्रभावों के विभिन्न पहलुओं को धीरे-धीरे इन पाठ्यक्रमों में सम्मिलित किया जाना चाहिये। यह उपाय भविष्य के लिए तो लाभकारी सिद्ध हो सकते हैं परन्तु अभी जबकि सामान्य किसान, जो कि इन रसयानों का व्यवहार करता है, उस तक इस पाठ्यक्रम को पहुँचाने का एकमात्र उपाय है प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम। इस माध्यम से पहले ही प्रभावशाली ढँग से लोगों को परिवार नियोजन की शिक्षा दी जाती रही है। यदि इन कार्यक्रमों में किसानों के खेती सम्बन्धित इन विषयों को भी सम्मिलित कर लिया जाय तो किसानों की इनमें रुचि तो बढ़ेगी साथ ही उन्हें कीटनाशियों के उचित प्रयोग से पर्यावरण संरक्षण का संदेश भी मिल जाएगा। प्रौढ़शिक्षा कार्यक्रम के अतिरिक्त 'टूर एण्ड विज़िट' कार्यक्रम भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् के 'प्रयोगशाला से खेत तक' कार्यक्रम तथा राज्यों व अन्य एजेन्सियों की कृषि प्रसार सेवाओं में इस विषय को सम्मिलित करना अत्यन्त प्रभावकारी हो सकता है। कीटनाशी सम्बन्धी शिक्षा के स्वरूप को और प्रभावकारी बनाने के लिए सरकारी प्रसार माध्यमों -- जैसे आकाशवाणी, दूरदर्शन का समुचित प्रयोग किया जाना चाहिये। कृषि सम्बन्धित कार्यक्रमों में कम से कम 25% स्थान इस विषय को दिया जाना चाहिये। शहरी क्षेत्रों के लिए भी कीटनाशियों के उचित संभरण व संभावित दुष्प्रभावों की जानकारी देने के लिए विशेष कार्यक्रम आयोजित किये जाने चाहिये। कीटनाशी बनाने

वाली कम्पनियों को इन कार्यक्रमों में अग्रणी भूमिका निभानी चाहिये। वे इन विषयों पर अखबारों में, पत्रिकाओं में, विज्ञापनों के माध्यम से लोगों को कीटनाशी के दुष्प्रभावों के प्रति सजग कर सकते हैं।

कानूनी एवं प्रशासनिक उपाय

भोपल दुर्घटना के संदर्भ में यह विषय सर्वाधिक आलोचना का विषय रहा है। चूंकि रसायनों का उत्पादन औद्योगिक नियमों से संबंद्ध है अतः इस दुर्घटना का सीधा सम्बन्ध कानूनी व प्रशासनिक लचीलेपन से जोड़ दिया गया है। ऐसा नहीं है कि विषैले रसायनों के उत्पादन के लिए विशेष नियम व प्रशासनिक औपचारिकताएँ नहीं हैं। 1968 का कीटनाशी रसायन अधिनियम इसी प्रयोजन से बनाया गया था। परन्तु नियमों के बावजूद भी दुर्घटना हो गई। यही नहीं, दुर्घटना के छ साल बाद लोगों की उत्तेजना लगभग क्षीण हो गई है। कीटनाशी रसायन तो नहीं पर पर्यावरण में अमोनिया, क्लोरीन, ओलियम गैस रिसने की अनेक छोटी-बड़ी घटनाएँ इस बीच घट चुकी हैं। इन घटनाओं के वृतांत भविष्य में बड़ी दुर्घटनाएँ न होने का एहसास नहीं दिलाते। कीटनाशी रसायनों के उचित प्रयोग के प्रति लोग जागरूक हो चुके हैं, यह अब भी संदेहास्पद है। तात्पर्य यह है कि नियम कितने ही हों जब तक उनका कड़ाई से पालन न हो, इन समस्याओं का समाधान खोजना बहुत कठिन है।

कीटनाशी रसायनों से सम्बन्धित दुर्घटना व दुष्प्रभावों के पीछे 'उपेक्षा' भी एक कारण है। कीटनाशी रसायन वास्तव में विषैले रसायन हैं जिनके व्यवहार में थोड़ी भी गलती जानलेवा सिद्ध हो सकती है। वस्तुस्थिति तो यह है कि पर्यावरण के प्रति जागरूकता का अभाव या कानूनी नियमों की अज्ञानता से अधिक एकमात्र उपेक्षा ही इन पर्यावरण सम्बन्धी दुर्घटनाओं के लिए उत्तरदायी है। भोपाल दुर्घटना भी इस उपेक्षा के कारण ही हुई क्योंकि ऐसा विश्वास नहीं किया जा सकता कि भोपाल संयंत्र में काम कर रहे लोग इन नियमों व विषैली गैस की भयावहता से भली भाँति परिचित नहीं थे। बड़ी दुर्घटनाएँ ही नहीं, हमारी दैनिक गतिविधियों में हम उपेक्षा के कारण किस तरह प्रदूषण को बढ़ावा देते हैं, यह कुछ छोटे-छोटे उदाहरणों से स्पष्ट होता है। खिड़की के बाहर कूड़ा फेंक देना, ट्रेन में, बस में मूँगफली के छिलके फेंक देना, दीवार पर पान थूक देना इत्यादि ऐसे उदाहरण हैं जिन से हम सभी परिचित हैं। वातावरण में अनुचित मात्रा में धुँआ छोड़ना तथा जल में बिना उपचारण किये औद्योगिक जल-मल प्रवाहित करना इसी उपेक्षा के विस्तारित रूप हैं। अतः हम जानबूझ कर बिना दूसरे लोगों की परेशानियों का ख्याल किये ऐसी कोई क्रिया कर बैठते हैं जिससे अन्य लोग ही नहीं हम भी परेशानी में पड़ सकते हैं—इसी का नाम उपेक्षा है। अतः नये कानून बनाने से पहले 'उपेक्षा' के दोषी पाये गये व्यक्तियों के लिए कठोर दण्ड का प्रावधान होना चाहिये। कानून तो पहले से ही इतने हैं कि उनका यदि कठोरता से पालन हो तो पर्यावरण के लिए इतनी चिन्ता करने की आवश्यकता ही न पड़े।

□□

ग्रामीण पर्यावरण में सुधार

□ डॉ० रमेशचन्द्र तिवारी

सौ वर्षीय एक जापानी के सुझाव के अनुसार यदि सौ वर्ष तक स्वस्थ्य जीवन चाहिए तो पाँच सूत्रीय बातों पर ध्यान देना होगा। उनमें पहला है—'गाँवों में रहिए। किन्तु अधिकांश भारतीय गाँवों की जो दशा है उसके आधार पर मानव स्वस्थ्य रह सकता है, इस पर एक प्रश्नचिन्ह लग जाता है। यही कारण है कि गाँव एवं गंवई (ग्रामीण) का संदर्भ आते ही नाक-मुँह सिकुड़ने लगते हैं। भारतीय ग्रामीण का अर्थ है गंदा, अनपढ़ आदि। यद्यपि इसमें अत्योक्ति नहीं है कि गाँव पर्यावरण की दृष्टि से महानगरों से कई अर्थों में अच्छे हैं किन्तु पर्यावरण का घटियापन गाँवों को भी झकझोर रहा है। विद्युत् व पेयजल, सड़क जैसे साधनों के अतिरिक्त यदि ग्रामीण अन्य साधन न भी पावें तो पर्यावरण संतुलन बना रह सकता है। समस्या यह है कि गाँव प्राकृतिक संसाधनों की गोद में बसता पलता है। अब उन्हीं संसाधनों को बर्बाद करके जाने-अनजाने में पर्यावरण असंतुलन का झंझावात सहने को बाध्य हो रहा है।

भारत का ग्रामीण पर्यावरण अभी भी कृषि की नींव पर खड़ा है। जबकि अभी भारतीय खेती की अधिकांश पद्धति अनिश्चितता, विपदाग्रस्तता, मानसूनी जुआ और ग़रीबी तथा पारिस्थितिकीय एवं सामाजिक रूढ़िवादी परम्पराओं के कारण अलाभकारी और असंतुलित है। खेती की जो भी आधुनिक पद्धति अपनाई जा रही है उसका एकमात्र उद्देश्य अधिक अनाज उत्पादन है। इसके परिणामस्वरूप प्राकृतिक संसाधनों के दोहन व घटियापन पर कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा है। खेती का आधार ही पर्यावरण के तीन प्रमुख घटक भूमि, जल, हवा व वानस्पतिक धरोहर हैं। इसके सही व सटीक उपयोग पर ही खेती का भवन खड़ा है। जो अन्य कारक ग्रामीण पर्यावरण को प्रभावित कर रहे हैं उनमें प्रमुख निर्धनता, अशिक्षा, वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव, रूढ़िवादी परम्पराओं के प्रति अंधविश्वासी होना, भौतिकता की स्वार्थपरक मृगमरीचिका के प्रति रुझान गिनाये जा सकते हैं। यदि पर्यावरण असंतुलन के कारणों को वर्गीकृत किया जाये तो निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया जा सकता है—

1. जैविक या मानवीय कारण,
2. भौतिक कारण और
3. आर्थिक-सामाजिक कारण / पारिस्थितिकीय कारण

गाँवों में अभी भी नगरों की अपेक्षा "जिसकी लाठी उसकी भैंस" कहावत चरितार्थ हो रही है। प्राकृतिक साधनों जैसे भूमि एवं जल (तालाब आदि) पर व्यक्तिगत स्वामित्व का अर्थ है कि मालिक इनका मन माफ़िक उपयोग करें। कोई वैधानिक अंकुश नहीं लगाया

प्रोफेसर, मृदारसायन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-211005

जा सकता है। यहाँ तक कि जल एवं भूमि का घटिया उपयोग भी कर सकता है। वनों-बगीचों को जब चाहे उजाड़ सकता है, तालाबों को खेत बना लेता है, गाँवों की सुनियोजित निर्माण पद्धति को ध्वस्त कर सकता है। क्योंकि नगरमहापालिका की भाँति उस पर कोई वैधानिक रोक नहीं लग सकती है। गाँवों का निवासी अपनी समझ से अपना पर्यावरण ठीक रख सकता है, भले ही पड़ोसी कष्ट में हो। अभिप्राय यह है कि भूमि एवं जल साधनों पर राष्ट्रीय नीति होनी चाहिए जो ग्रामीणों पर वैधानिक रूप से लागू की जावे। जल निकास एवं नाली आदि निर्माण में भूमि स्वामित्व व्यवधान बनकर सामने आ जाती है।

भौतिक व्यवधानों में ऐसे कारक हैं जो ग्रामीण पर्यावरण को इस सीमा तक बिगाड़ रक्खे हुये हैं कि आम ग्रामवासी उसे सुधार ही नहीं सकता है। इसके लिए अधिक धन की ज़रूरत पड़ती है। जिसे सरकार या अन्य स्वयंसेवी संस्थाएँ ही ठीक कर सकती हैं। उदाहरण के लिए कंकरीली-पथरीली परती भूमि ऊबड़-खाबड़ नंगे खड़े चट्टानों वाले भूखंड, कीचड़ व पानी से भरे बज-बजाते स्थान, ढहे हुए पर्वत या भूखंड, राब मिट्टी, लवणीय मिट्टियाँ व ऊसर, रेगिस्तान व रेतीले भाग, बीहड़ व कटे-बहे स्थल आदि।

इसे स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है कि ग्रामीणों की आर्थिक स्थिति इतनी असंतुलित व कमज़ोर है कि रोटी, कपड़ा व मकान तथा न्यूनतम सामाजिक आवश्यकताओं के लिए ग्रामीणों के पास धन नहीं है। उसी की चिन्ता में वे जीवन बिताते हैं। फिर उन्हें पर्यावरण की कैसे सूझेगी ? दूसरी ओर जो भी धन गाँवों में है वह ठीक से उपयोग में नहीं लिया जा रहा है। अशिक्षा एवं पर्यावरणीय जानकारी न होने के कारण भी ग्रागीण शुद्ध वातावरण में रह नहीं पाता है। पर्यावरण सम्बन्धी जानकारी उसे दृश्य-श्रव्य माध्यमों से कराई जानी चाहिए। घर-आँगन की सफ़ाई कर लेने से अधिक गंदगी उसके पड़ोस में सड़-गल रहे कूड़े के ढेर से आती है। सार्वजनिक स्थान पर सड़ रहे रुके हुए गंदे जल के कारण व मच्छरों व रोगों की मार सहता रहता है। ऐसी सामाजिक व्यवस्था है कि उस जल से वह छुटकारा पायेगा कैसे ?

ग्रामीणों का जीवन अनवरत बह रही छिछली प्रदूषित दरिया के समान होता है। मनमानी, बिना समझे-बूझे, लागतों (रसायन, बीज, जल) के अंधाधुंध एवं असंतुलित उपयोग के माध्यम से की जा रही आधुनिक खेती ग्रामीण क्षेत्रों के प्राकृतिक संसाधन—भूमि, जल, वायु, तथा मानव व पशु स्वास्थ्य को कुप्रभावित करने लगे हैं, जो घातक है और ख़तरनाक भविष्य की चेतावनी देने लगे हैं। इसके कुछ प्रमुख कारकों को रास्ते से हटकर ही ग्रामीण पर्यावरण को सुधारा जा सकता है।

भूमि की क्षमता के अनुसार उपयोग व सुधार

आधुनिक अधिक उपज लेने वाली खेती की पद्धति से भूमि की उत्पादकता घट रही है, उसमें घटियापन आ रहा है, 'ऋणात्मक वापसी' (भोज्य तत्वों की) के फलस्वरूप भूमि की आन्तरिक उर्वरता डगमगा रही है, लवणता बढ़ रही है, भौतिक स्वरूप बिगड़ने की आशंका हो रही है तथा भूमि के जैविक गुण कुप्रभावित हो रहे हैं। इसको रोकने का एकमात्र उपाय है "समन्वित पोषकतत्व प्रबन्ध प्रणाली" का उपयोग। इसके अन्तरगत

रासायनिक उर्वरकों के साथ, जैविक खादों (कम्पोस्ट, हरी खाद, खलियाँ आदि) मानव एवं पशु तथा कृषि अवशेषों का एकत्रण व खेत में उपयोग तथा फ़सल-चक्र में दलहनी फ़सलों का समावेश और जीवाणु उर्वरकों का मिला जुला उपयोग आता है। इस प्रणाली के उपयोग से ही भूमि को "सस्टेनेबल कृषि" के लिए सुरक्षित रक्खा जा सकेगा।

सिंचाई एवं जल-निकास का सही उपाय

सिंचाई साधनों के जुटाये बिना तथा वर्षा जल के एकत्रण व उपयोग के अभाव में ग्रामीण पर्यावरण को सुधारा नहीं जा सकता है। तालाबों व बावलियों में जल एकत्रित करके सिंचाई के लिए उपयोग करने की हमारी पुरानी प्रथा रही है। इसका आधुनिकीकरण किया जाना चाहिए था, न कि ध्वस्त। तालाब जोत लिए गए। आज बरानी खेतों में "ऑन फॉर्म वाटर हार्वेस्टिंग" प्रणाली पर ज़ोर दिया जा रहा है। इससे वानस्पतिक सम्पदा का उत्तरोत्तर विकास होगा, भूमिगत जल संतुलन ठीक होगा, जल स्रोत बढ़ेंगे, पक्षी एवं पशुओं को जलाभाव नहीं झेलनी पड़ेगी। इसमें सरकारी संस्थाओं को सहायता करनी पड़ेगी। दूसरी और सिंचाई जल के ग़लत उपयोग से भूमि में लवणता बढ़ रही है और बाग़-बगीचों का लोप हो रहा है। अतएव ज़रूरत से अधिक जल भूमि में न जाय तभी पर्यावरण संतुलित रह पायेगा। सिंचाई के साथ-साथ जल निकास प्रणाली सटीक रखना अति आवश्यक है। दूसरी ओर भूमिगत जल के अधिक एवं ग़लत उपयोग से जल स्तर नीचे जाने के कारण पेय जल का अभाव होगा।

भूमि संरक्षण व बंजर भूमि सुधार

भूमि संरक्षण की तमाम विधियाँ विकसित हैं, जहाँ जो सटीक बैठे उसे अपनाना होगा। इससे भूमि का संरक्षण होगा और वानस्पतिक सम्पदा का उत्पादन अपने आप बढ़ जावेगा। ऊसर, रेह, बीहड़, जलमग्न, रेत, परती भूमि आदि सबके के उपयोग की वैज्ञानिक पद्धतियाँ उपलब्ध हैं, उन पर अमल किया जाना चाहिए। "बंजर भूमि प्रबन्ध" सरकारी कार्यक्रमों की सूची में है। इस पर सुनियोजित कार्य होना चाहिए। बीहड़ व परती बंजर क्षेत्र हरे-भरे व दर्शनीय बन जावेंगे, भोजन, ईंधन, उद्योगों के लिए लकड़ी, सब मिलेगा।

पशु-पालन पर ज़ोर

अलाभकारी नस्ल के पशु ग्रामीणों के लिए अभिशाप हैं। उनकी नस्ल सुधार कर उनकी सही पालन प्रणाली के अनुसार देखभाल की जाय। इससे आय व पर्यावरण दोनों सुधरेंगे। निर्थरक पशु संख्या हमारे प्राकृतिक साधनों का दोहन करने में "आग में घी" का काम कर रही है। पशुपालकों को पशुओं के वैज्ञानिक रख रखाव की पद्धति अमल में लाने पर ज़ोर दिया जाना चाहिए। जहाँ तहाँ पशु अवशेष व उनका रख रखाव ग्रामीण गंदगी का प्रमुख कारण है।

कृषि रासायनों का अंधाधुंध उपयोग न हो

तमाम कृषि रसायन जैसे कीट-विष, फफूंदीनाशक, खरपतवारनाशी एवं उर्वरक अवशेषी प्रभाव छोड़ते हैं। इनसे भूमि, जल, वायु, उत्पादन आदि प्रदूषित होने के प्रमाण

मिले हैं। इनके सही उपयोग की शिक्षा व जानकारी ग्रामीणों को दी जानी चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि कृषि उत्पादन बढ़ाने के जोश में रसायनों के अंधाधुंध उपयोग से ग्रामीण स्वयं विष का शिकार न होते जायें। यह सत्य है कि कीट-विषों का घातक ढंग से उपयोग किया जा रहा है, जो भारतीय नागरिकों को धीरे-धीरे तमाम रोगों का शिकार बना सकता है। आवश्यकता है कि ग्रामीणों को इनके कुप्रभावों व सही उपयोग के प्रति शीघ्राति-शीघ्र परिचित करा दिया जाय।

गाँवों में शौचालय-व्यवस्था

ग्रामीणों की एक नितान्त आवश्यकता है शौचालय। सरकारी संस्थाएँ व स्वयं-सेवी संस्थायें ही यह कार्य कर सकती हैं, क्योंकि यह खर्चीला काम है। ग्रामीण अपना काम चला रहा है, वह इस पर पैसा खर्च नहीं करेगा। ग्रामीण पर्यावरण प्रदूषण का यह एक प्रधान कारण है। सम्पन्न ग्रामीणों के लिए इसके निर्माण को अनिवार्य कर दिया जाना चाहिए और निर्धन ग्रामीणों के लिए मुफ़्त प्रबन्ध करना चाहिए।

पेयजल व्यवस्था के साथ जल-निकास

काफ़ी गाँवों में पेय जलापूर्ति नलकूप के माध्यम से की जा रही है। किन्तु जितना लाभ उन्हें शुद्ध पेय जल मिलने से है उतना ही कष्ट वे गली-कूँचों से बह रहे व सड़ रहे गंदे जल से उठा रहे हैं। सार्वजनिक जल-निकासी एक उपाय है अन्यथा व्यक्तिगत द्वेष के चलते ग्रामीण इस कष्ट से छुटकारा नहीं पा सकते। पेय जल पाइप की भाँति निकास-नाली बनाना अति आवश्यक कार्यक्रम होना चाहिए।

कूड़ा-करकट व अवशेषों के प्रबन्ध पर बल

अंग्रेज़ी राज्य में "धूर साहब" की व्यवस्था की बात हमें सुनने को मिलती है। खण्ड विकास स्तर पर स्वास्थ्य विभाग, होमगार्ड, पुलिस आदि जिनसे भी सम्भव हो, को निरीक्षण का भार देकर जहाँ तहाँ, कृषि अवशेष, कूड़ा-करकट, मल-मूत्र (पशुओं का), कचरा आदि इकट्ठा करने को ग़ैरकानूनी घोषित किया जाना चाहिए। यह ग्रामीण पर्यावरण और विशेषतया पृष्ठीय संग्रहीत जल एवं वायु प्रदूषण का एक प्रमुख कारण है, जिसे रोका जा सकता है।

खलिहानों की व्यवस्था गाँवों से दूर हो

जब से मड़ाई के लिए थ्रैसर की परम्परा चली है, थ्रैसर से निकलते भूसे के कारण घरों में रहना कष्टप्रद है। इससे निकले भूसे से श्वास रोग तथा घरेलू सामानों में भूसा का मिश्रण हो जाता है। इस पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए।

ग्रामीण प्राकृतिक स्रोतों का दुरुपयोग रोका जाय

कृषि योग्य भूमि पर वन एवं वृक्ष लगाना अवैधानिक घोषित किया जाना चाहिए। श्रमिक न मिलने, तथा अन्य पेशे में लगे भूस्वामी अपनी खेती योग्य उपजाऊ भूमि पर वृक्ष लगाने लगे हैं। इसे अविलम्ब रोका जाना चाहिए। इससे कृषि योग्य भूमि का क्षेत्रफल घटेगा और बची भूमि पर उत्पादन का भार बढ़ता जावेगा और परिणाम होगा पर्यावरण

असंतुलन। कृषि योग्य भूमि पर नगर बसानें, उद्योग लगाने तथा ईंट के भट्ठे चालू करने की प्रथा पर रोक नहीं लगाई गई तो ग्रामीण पर्यावरण व अन्नोत्पादन पर कुप्रभाव होगा।

केवल वृक्ष लगाना और धरती हरी-भरी करना ही "पर्यावरण सुरक्षा" नहीं है। केवल शुद्ध वायु लेकर ग्रामीण जीवित नहीं रहेगा। ग्रामीण जीवन कृषि, पशुपालन पर आधारित है और कृषि तथा पशुपालन भूमि, जल, वायु व वनस्पतियों के संतुलित एवं प्रदूषण रहित उपयोग पर। अतएव निम्नलिखित प्राथमिकताओं के आधार पर ग्रामीण पर्यावरण में सुधार लाने की योजना बनाई जानी चाहिए।

1. ग्रामीणों को शिक्षित करके "पर्वावरण सुरक्षा" की जानकारी देना।
2. भूमि एवं जल के सही उपयोग की जानकारी देना।
3. कृषि रसायनों तथा सिचाई जल के अंधाधुंध उपयोग के प्रति सचेत करना, सस्यावर्तन, समन्वित पोषक तत्व आपूर्ति पर आधारित वैज्ञानिक कृषि का प्रचलन बढ़ाना।
4. सुधरी नस्ल के पशुपालन पर ज़ोर एवं अधिक चराई पर रोक लगाना।
5. अच्छे स्वास्थ्य के लिए कूड़ा-कचरा का सही रख रखाव, शौचालय निर्माण तथा घरों के जल निकास का प्रबन्ध।
6. कृषि योग्य भूमि का ग़ैर कृषि में उपयोग रोकना।
7. बंज़र, परती भूमि का सुधार, भू-संरक्षण एवं उपयोग आदि।

ग्रामीण नागरिक महानगरों में रहने वालों की अपेक्षा "पर्यावरण" शब्द से कम परिचित हैं। उनकी प्राथमिकताएँ रोटी, कपड़ा, मकान हैं, पर्यावरण नहीं। उनकी आर्थिक, सामाजिक, पारिस्थितिकीय स्थितियाँ ऐसी हैं जो पर्यावरण सुधार में व्यवधान उत्पन्न करती हैं। भू-स्वामित्व, धन असंतुलन, "जिसकी लाठी उसकी भैंस", जाति एवं वर्गवाद कुछ ऐसे प्रमुख कारण हैं कि पर्यावरण असंतुलन ग्रामीणों की थाती बनकर रह गया है। ऐसा लगता है कि "पर्यावरण सुधार एवं सुरक्षा" के लिए सरकारी संस्थाओं तथा स्वयं-सेवी एजेन्सियों को धन के सहित आगे आना होगा। तभी ग्रामीण पर्यावरण सुधरेगा। इसमें दो राय नहीं है कि ग्रामीणों की पूरी साझेदारी के बिना यह कार्य सम्भव नहीं है।

□□

प्रदूषण की गिरफ्त में मिट्टी

□ दिनेश मणि

चट्टानों, पर्यावरण, जीवों और समय की आपसी क्रियाओं-प्रक्रियाओं के परिणाम-स्वरूप विकसित मिट्टी की स्थिति आज कुप्रबन्ध एवं अनुचित क्रियाओं के कारण बद से बदतर होती जा रही है। मिट्टी में विभिन्न प्रकार के लवण, खनिज तत्व, कार्बनिक पदार्थ, गैसें, एवं जल एक निश्चित अनुपात में विद्यमान होते हैं। मिट्टी में उपर्युक्त पदार्थों की मात्रा एवं अनुपात में विभिन्न कारणों द्वारा उत्पन्न परिवर्तन 'मिट्टी प्रदूषण' कहलाता है। मिट्टी मनुष्य तथा अन्य जीवों द्वारा उत्सर्जित व्यर्थ पदार्थों, घरेलू तथा औद्योगिक अपशिष्टों की प्रतिग्राहक की तरह है। चाहे वायु प्रदूषण हो या जल प्रदूषण, इन सबमें मिट्टी भी सहभागिनी है इसलिए मिट्टी में जल या वायु की अपेक्षा प्रदूषण की सम्भावना अधिक है। कोई भी पदार्थ जो मिट्टी में मिलकर उसकी उत्पादकता पर विपरीत प्रभाव डाले, वह मृदा प्रदूषक कहलाता है। वास्तव में प्रदूषित मिट्टी का अर्थ है ऐसी मिट्टी जो किसी भी प्रदूषक की चपेट में आकर अपनी सहज पूर्व स्थिति से भिन्न बन चुकी हो, या बन रही हो।

हमारे देश में मिट्टी प्रदूषण मुख्यतया धरती के कुप्रबन्ध का परिणाम है। एक अनुमान के अनुसार इसी कुप्रबन्ध के कारण हमारे देश की कुल धरती का लगभग 53% तथा खेती की जा रही कुल 14 करोड़ हेक्टेयर भूमि के लगभग 60% में भू-संरक्षण की बहुत अधिक आवश्यकता है। भू-क्षरण द्वारा कृषि क्षेत्र को ऊपरी सतह की मिट्टी (top soil) कुछ ही वर्षों में नष्ट हो जाती है जबकि इतनी गहराई की उपजाऊ मिट्टी के निर्माण में सैकड़ों व हज़ारों वर्ष लग जाते हैं। सामान्यतया उचित पोषक तत्व व अनुकूल मौसम में एक से० मी० मिट्टी तैयार होने में 300 से 1,000 वर्ष का समय लगता है। भू-क्षरण एक गम्भीर समस्या है, जिसका मुख्य कारण वनों की अंधाधुंध कटाई तथा बेहद चराई है। अब तक 6 योजनाओं में 2 अरब 40 करोड़ टन मिट्टी का नुकसान हुआ है। पर्यावरण विभाग के अनुमान के अनुसार प्रतिवर्ष 6 अरब टन ऊपरी मिट्टी बहकर समुद्र में चली जाती है। राष्ट्रीय कृषि आयोग के अनुसार वन-क्षेत्रों में वृक्षों की लगातार कटाई और हरियाली के अभाव के कारण देश में बाढ़ की आशंका वाले क्षेत्र पहली योजना के आरम्भ के ढाई करोड़ हेक्टेयर से बढ़कर छठी योजना के आरम्भ में चार करोड़ हेक्टेयर हो गया।

पूरे देश में भू-क्षरण के कारण होने वाली मिट्टी की बर्बादी का अनुमान लगाना बहुत कठिन है। तथापि 1972 में लगाये गये एक अनुमान के अनुसार हमारे देश में प्रतिवर्ष लगभग 600 करोड़ टन मिट्टी भू-क्षरण द्वारा नष्ट हुई थी। यह मिट्टी अपने

शोध छात्र, शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद—211002

साथ 53 लाख 70 हज़ार टन नाइट्रोजन, फॉस्फोरस और पोटेशियम जैसे मुख्य पोषक तत्व बहाकर ले गयी थी। उस समय इसका मूल्य लगभग 700 करोड़ रुपये था, जबकि 1980 में यह हानि 1000 करोड़ रुपये आँकी गयी थी। आज यह हानि पहले की तुलना में कहीं ज़्यादा होगी, क्योंकि आज रासायनिक खाद के दाम अधिक बढ़ गये हैं साथ ही भू-क्षरण से प्रभावित क्षेत्र भी अब और अधिक बढ़ गया है। भू-क्षरण से भूमि में उपजाऊ तत्वों को भी नुकसान पहुँचा है और यह स्थिति 'हरिक्रान्ति' से और भी खराब हो गयी है, क्योंकि इससे ज़िंक (जस्ता), आयरन (लोहा), कॉपर (ताँबा), मैंगनीज और मैगनीशियम जैसे वे महत्त्वपूर्ण उपजाऊ तत्व अलग हो जाते हैं, जो पौधे के वज़न का केवल एक प्रतिशत होते हैं, लेकिन उसके विकास को नियन्त्रित करते हैं। किसी एक तत्व की कमी दूर करने हमारे प्रयास के फलस्वरूप अन्य लघु तत्त्वों को नुकसान होता है। (नाइट्रोजन मिलाने से ताँबे और लोहे की कमी हो जाती है।)

हमारे देश की लगभग 70 लाख हेक्टेयर कृष्य भूमि खार के कारण अपनी उत्पापन क्षमता खो चुकी है और 60 लाख हेक्टेयर कृष्य भूमि पानी के जमाव की शिकार हो गयी है। निरन्तर लवणीय जल से सिंचाई के कारण हमारे देश में खारीपन भूमि का क्षेत्र वर्ष-प्रतिवर्ष बढ़ता जा रहा है। खाद्य कृषि संगठन के एक सर्वेक्षण के अनुसार हमारे पूरे देश में लगभग 70 लाख हेक्टेयर भूमि खारीपन का शिकार है।

सारणी—1. भारत में खारीय भूमि का क्षेत्र (लाख हेक्टेयर में)

राज्य	क्षेत्रफल
उत्तर प्रदेश	12·95
गुजरात	12·14
पश्चिमी बंगाल	8·50
राजस्थान	7·28
महाराष्ट्र	5·34
हरियाणा	5·26
कर्नाटक	4·04
उड़ीसा	4·04
मध्य प्रदेश	2·24
आन्ध्र प्रदेश	0·42
दिल्ली	0·16
बिहार	0·04
तमिलनाडु	0·04
कुल योग	69·49

1980 में कृषि मन्त्रालय के अनुसार पूरे देश में 17 करोड़ 50 लाख हेक्टेयर खेती योग्य तथा खेती के अयोग्य भूमि कई कारणों से खराब होती जा रही है जैसा कि सारणी—2 से स्पष्ट है।

सारणी—2. विभिन्न कारणों से मिट्टी प्रदूषण

("देश का पर्यावरण" पृष्ठ 12, पर्यावरण कक्ष, गाँधी शान्ति प्रतिष्ठान, नई दिल्ली)

मिट्टी के प्रदूषक कारक	प्रदूषित भूमि (लाख हेक्टेयर में)	प्रतिशत में
1. पानी और हवा से गम्भीर भू-क्षरण	1,500	85·7
2. झूम खेती द्वारा	30	1·7
3. क्षारीयता	25	1·4
4. दियारा भूमि	24	1·4
5. सुधारने योग्य अन्य भूमि	66	3·8
6. खार	45	2·6
7. पानी का जमाव	60	3·4

सघन खेती और अधिक पैदावार—ये दोनों खाद के सन्तुलित उपयोग से ही सम्भव हैं। किन्तु ऐसा न करने से भूमि की उर्वरता में ह्रास होता है। जिन क्षेत्रों में सघन रूप से फ़सलें पैदा की जा रही हैं, वहाँ की मिट्टी में फ़सलें और पौधे मिट्टी से एन० पी० के० (NPK) लेने के साथ-साथ कैल्शियम, मैगनीशियम, सल्फर, (गन्धक) जैसे द्वितीयक पोषक तत्वों को तथा मैंगनीज, लोहा, ताँबा, जिंक, बोरोन और मॉलिब्डिनम जैसे सूक्ष्म तत्त्वों को भी खींच लेते हैं। पंजाब के अनेक भागों की कृष्य भूमि में जगह-जगह ज़िंक, लोहे और मैंगनीज़ की कमी हो गयी है। हमारे देश की कुल कृष्य भूमि के 47% में ज़िंक की कमी है, 5% में मैंगनीज की तथा 11% में लोहे की कमी है। इन सूक्ष्म तत्त्वों की कमी उन राज्यों में अधिक है जहाँ सिंचित भूमि ज़्यादा है, सघन खेती होती है और पैदावार अधिक ली जाती है। अम्लीय मिट्टी में चूना और मैंगनीज की कमी आम बात है। हमारे देश के कुल क्षेत्र के 30% में अम्लीय मिट्टी है। सघन खेती वाले अनेक भागों में गन्धक की कमी है।

शहरीकरण, औद्योगिकीकरण, बढ़ती हुयी जनसंख्या, प्रति व्यक्ति अधिक व्यर्थ पदार्थ का उत्पादन, आधुनिकीकरण, रहन-सहन के तरीके में बदलाव भी मृदा प्रदूषण के स्रोत हैं। उपर्युक्त स्रोतों में अकार्बनिक विषैले यौगिक, कार्बनिक अनुपयोगी पदार्थ, कार्बनिक कीटनाशी, शाकनाशी, कवकनाशी आदि एवं रेडियोसक्रिय अपशिष्ट पदार्थ सम्मिलित हैं जो मृदा को प्रदूषित करते रहते हैं। औद्योगिक कूड़े-कचरे, सीवेज-स्लज में पाये जाने वाले क्रोमियम, निकिल, कैडमियम, लैड, ज़िंक, मरकरी आदि भारी तत्व मिट्टी को प्रदूषित करने में मुख्य भूमिका निभाते हैं। ये तत्व एक बार मिट्टी में प्रविष्ट होने पर सदा-सदा के लिए घातक बने रहते हैं।

हमारे देश में रासायनिक खादों तथा कीटनाशक दवाओं का उत्पादन व उपयोग

वर्ष प्रतिवर्ष बढ़ता है, जिनके दुष्परिणाम भी बढ़ रहे हैं। हमारे देश में विभिन्न कीटनाशक दवाओं का उत्पादन इस प्रकार है। (देखें सारणी-3)

सारणी-3. भारत में विभिन्न कीटनाशक दवाओं का उत्पादन

(मिनिस्ट्री ऑव पेट्रोलियम, केमिकल्स एण्ड फ़र्टिलाइज़र्स, गवर्नमेंट ऑव इण्डिया के अनुसार)

उत्पादक वर्ष	उत्पादन (टनों में)
1955	2,350
1960	8,620
1965	14,630
1970	24,320
1975	58,844
1978	85,290
1983	149,795

कूड़ा-करकट भी नगरीय क्षेत्रों में मिट्टी के प्रदूषण का एक स्रोत है। नगरीय क्षेत्रों में जनसंख्या में असीमित वृद्धि के कारण मल-मूत्र तथा मानव द्वारा अनुपयुक्त पदार्थ, जिसे हम कूड़ा-करकट कहते हैं, की मात्रा में दिनोंदिन अत्यधिक वृद्धि होती जा रही है जिससे नगर प्रशासकों को कूड़ा-करकट इक्ट्ठा करवाने, उनको उपयुक्त स्थान पर एकत्रित करवाने तथा उनके प्रबन्ध की समस्या पैदा हो रही है। इन पदार्थों का सूक्ष्मजीवों द्वारा निश्चित मात्रा में अपघटन होता रहता है। किन्तु जब इन पदार्थों की मात्रा अत्यधिक हो जाती है तो फिर इनका पूर्णतया अपघटन सम्भव नहीं हो पाता है। कूड़ा-करकट के अन्तर्गत काँच, प्लास्टिक के थैले, टिन, डिब्बे, बोतलें आदि प्रमुख हैं। ये सभी अवशिष्ट पदार्थ मनुष्य की सभ्यता और संस्कृति के अंग कहे जाते हैं। ये पदार्थ नगरीय क्षेत्रों में इतनी अधिक मात्रा में फेंके जा रहे हैं कि अब इनके लिए उपयुक्त स्थान की समस्या पैदा हो रही है। केवल संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रतिवर्ष 1,250 लाख टन कूड़ा-करकट (मल-मूत्र को छोड़कर) फेंका जा रहा है, जिनको हटाना स्वयं में एक बड़ी समस्या है।

हमारे देश में कूड़ा-करकट उत्पादन की दर प्रति व्यक्ति प्रति दिन 0.5 किलो ग्राम है। हमारे देश की तुलना में विकसित देशों में व्यक्तियों का रहन-सहन का स्तर ऊँचा होने के कारण प्रतिव्यक्ति कूड़ा-करकट उत्पादन की दर तीन से चार गुने अधिक है। उदाहरण के लिए आस्ट्रेलिया में प्रति व्यक्ति कूड़ा-करकट की उत्पादन दर 2 किलो ग्राम है, जबकि अमेरिका में यह 1.20 किलो ग्राम है तथा पश्चिमी जर्मनी में यह 1 किलो ग्राम है। भारत के प्रमुख बड़े नगरों में कूड़ा-करकट के उत्पादन की दर इस प्रकार (सारणी—4) है—

सारणी—4 भारत के प्रमुख बड़े नगरों में कूड़ा-करकट का उत्पादन

नगर	कुल उत्पादन (टन प्रतिदिन)
कलकत्ता	4,000
बम्बई	3,500
मद्रास	3,000
दिल्ली	2,200
बंगलौर	1,000
कानपुर	850
लखनऊ	700
चण्डीगढ़	500
वाराणसी	366

कूड़े-करकट की इस मात्रा को निम्न भू-भागों को भरने के लिए, खाद तैयार करने में, बिजली-उत्पादन में प्रयुक्त कर मिट्टी प्रदूषण को रोका जा सकता है।

मिट्टी के प्रदूषण का एक अन्य स्रोत रेडियो सक्रिय अवशिष्ट पदार्थ है। परमाणु बमों के विस्फोट व परीक्षण के द्वारा परमाणु बिजलीघरों के अवशिष्ट कचरे द्वारा तथा परमाणु संयन्त्रों में रिसाव से रेडियो सक्रिय अवशिष्ट पदार्थ मिट्टी में मिलते हैं। प्राकृतिक यूरेनियम अयस्क के खनन, सान्द्रण, संवर्धन से लेकर सम्पूर्ण नाभिकीय ईंधन-चक्र प्रक्रम से होने वाले परिवर्तनों की अवधि में अत्यधिक घातक रेडियोसक्रिय पदार्थ जैसे—230**Th**, **226Ra, 222Rn, 210Pb** आदि बड़ी मात्रा में बनते हैं। ऐसा देखा गया है कि धूल कणों के रूप में स्ट्रान्शियम (Sr^{90}) मिट्टी की सतह पर संचित होता है, किन्तु यदि विलयन में से अवसाद द्वारा Sr^{90} ग्रहण होता है तो उसकी सान्द्रता में 90 गुनी वृद्धि हो जाती है अतः जलोढ़ मिट्टियाँ रेडियोसक्रिय आइसोटोप ग्रहण करके घातक बन सकती हैं। **एण्डरसन** के अनुसार यदि ऐसी मिट्टियों में फॉस्फेट उर्वरकों का प्रयोग हो तो ग्रहण किये हुये स्ट्रान्शियम की मात्रा कम रहती है, किन्तु नाइट्रोजनी उर्वरक से यह मात्रा बढ़ती है।

मिट्टी प्रदूषण की भयावह स्थिति को ध्यान में रखते हुये विश्व के अनेक मृदा वैज्ञानिक मिट्टी को प्रदूषणमुक्त बनाये रखने के लिए सतत प्रयोग कर रहे हैं। बायोडिग्रेडेशन (जैविक-विच्छेदन) की क्रिया मिट्टी को प्रदूषणमुक्त रखने में काफ़ी सहायक होती है। इसमें ऑक्सीकरण, अवकरण, खनिजीकरण, स्थिरीकरण, कार्बनिक अवयवों का निर्माण, जटिल क्रियायें आदि शामिल हैं। प्रत्येक क्रिया को भली-भाँति सम्पन्न होने के लिये उपयुक्त वातावरण होना चाहिये जैसे कि मृदा-नमी, मृदा-ताप, मृदा-वायु अनुकूल रहे। इस दिशा में नागपुर स्थित राष्ट्रीय पर्यावरणीय अभियान्त्रिकी संस्थान (नीरी) में महत्वपूर्ण शोधकार्य चल रहा है।

□□

ऊसर भूमि का सुधार

□ डॉ० मुरारी मोहन वर्मा

पर्यावरण के अन्तर्गत हमारा परिवेश आता है, जिसमें भूमि, जल, वायु एवं आकाश शामिल हैं। मानव एक लम्बे अरसे से पर्यावरण में रहते हुए प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में जाने या अनजाने कितने ही कार्य-कलापों से सम्बद्ध होकर प्राकृतिक संतुलन को अव्यवस्थित करता चला आ रहा है। ऊसर भूमि का निर्माण एवं विस्तार पर्यावरण की प्रमुख समस्याओं में से एक है।

विश्व में लगभग 952 लाख हेक्टेयर भूमि ऊसरग्रस्त आँकी गई है, जिसमें भारत में 71 लाख हेक्टेयर है। उत्तर प्रदेश में 13 लाख हेक्टेयर के आस-पास लवण प्रभावित ऊसर भूमि है जबकि 'रेह कमीशन' के सर्वेक्षण के अनुसार सन् 1938 में ऊसर भूमि का कुल क्षेत्रफल लगभग 8.5 लाख हेक्टेयर था। मृदा वैज्ञानिकों का अनुमान है कि उत्तर प्रदेश में यदि ऊसर भूमि का समुचित सुधार न किया गया तो लगभग 20 हज़ार हेक्टेयर भूमि प्रत्येक वर्ष ऊसरग्रस्त होती जायेगी। ऊसर भूमि का सुधार इतना आसान काम नहीं है, परन्तु वैज्ञानिक तरीकों से यदि इस दिशा में सतत प्रयास किया जाय तो इस विकट समस्या का निराकरण अवश्य सम्भव होगा।

ऊसर भूमि को संस्कृत में 'उष्ट्र' कहा गया है, जिसका प्रयोग प्राचीन काल से ही उन भूमियो के लिए किया जाता था जो किसी भी कारण से कृषि के लिए अनुपयुक्त होती थीं। परन्तु लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व नहरों द्वारा सिंचित भूमि में लवणीय तथा क्षारीय गुणों का प्रभाव देखा गया जो कृषि योग्य न होकर ऊसर अथवा 'रेह' के नाम से जानी जाती रही। भूमि की उर्वरा शक्ति को कायम रखना मनुष्य का एक अत्यन्त महत्पूर्ण दायित्व है।

विभिन्न परिस्थितियों में निम्न तीन प्रकार के ऊसर मृदाओं का निर्माण होता है—(1) लवणीय ऊसर, (2) लवणीय-क्षारीय ऊसर, तथा (3) क्षारीय ऊसर। इन ऊसरों के सुधार के लिए प्रयुक्त उपायों की चर्चा से पूर्व यह जानना उचित होगा कि किस प्रकार इनका निर्माण हुआ तथा इनके दोष क्या हैं?

लवण की अधिकता से मृदा की पोषण-क्षमता कम हो जाती है। साधारण बोल-चाल की भाषा में लवण से प्रायः नमक का बोध होता है। परन्तु ऐसी मृदाओं में लवण का तात्पर्य कई यौगिकों से है। मृदा में पाये जाने वाले उदासीन लवणों में सोडियम क्लोराइड के अतिरिक्त सोडियम सल्फेट, कैल्शियम क्लोराइड, मैग्नीशियम क्लोराइड, कैल्शियम सल्फेट, मैग्नीशियम सल्फेट, पोटेशियम क्लोराइड आदि होते हैं। इन उदासीन

रीडर, शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद—211002

लवणों को केवल 'लवणों' के रूप में प्रयोग किया जाता है, जबकि क्षारीय लवणों को केवल 'क्षार' के नाम से जाना जाता है। क्षार से मुख्यतः सोडियम कार्बोनेट तथा सोडियम बाइ-कार्बोनेट लवणों का संकेत मिलता है।

भूमि में लवणों की मात्रा ज्ञात करने के लिए मृदा के जलीय घोल की विद्युत्-संचालकता द्वारा अनुमान करते हैं। लवणों की मात्रा में वृद्धि का अर्थ होता है विद्युत-संचालकता में वृद्धि। संचालकता के माप की इकाई मिलीम्होस/से० मी० मानी गई है। 1.0 मिलीम्होस/से० मी० से अभिप्राय होता है 0.64 ग्राम/लीटर लवण की सान्द्रता। मृदा-वैज्ञानिकों ने 4 मिलीम्होस/से० मी० से अधिक की संचालकता सामन्य तौर पर पौधों की वृद्धि के लिए प्रतिकूल माना है।

भूमि में लवणों की अधिकता प्राम: कम वर्षा वाले क्षेत्रों में होती है। घुलनशील लवण भूमि में सिंचित जल अथवा वर्षा में मृदा की भूमिगत कोशिकाओं के माध्यम से नीचे रिसता है। पानी जब सूख जाता है और गर्मी बढ़ती है तो मृदा के सतह से जल का वाष्पीकरण होता रहता है, जिसके फलस्वरूप (कोशिकाओं से) जल और घुलनशील लवण भूमि के सतह पर आ जाते हैं। जल वाष्पित होकर वायुमण्डल में चला जाता है और लवण भूमि के सतह पर एकत्र हो जाता है। कभी-कभी भूमि की निचली तहों में कड़ी परत पड़ जाने के कारण समुचित जल के निकास की क्रिया नहीं हो पाती, जिससे जल रिसने की प्रक्रिया थोड़ी दूर तक ही सम्भव हो पाती है। ऐसी स्थिति में लवण की सान्द्रता बढ़ जाती है जो कालान्तर में लवणीय भूमि में परिवर्तित होकर ऊसर बन जाती है।

प्राय: नहरों, नलकूपों एवं कुँओं के पानी का प्रयोग सिंचाई के लिए किया जाता है, जिसमें घुलनशील लवणों की अल्प मात्रा होती है। अत: खारे जल में उपस्थित लवण की सान्द्रता द्वारा भी लगातार सिंचाई करते रहने से लवणीय मृदा का निर्माण सम्भव है। क्षारीय बेसाल्ट जैसे चट्टानों द्वारा उत्पन्न मृदा में भी लवण की अधिकता हो सकती है।

मृदा का क्षारांक (पी-एच) भी एक महत्वपूर्ण माध्यम की ओर संकेत करना है, जिसमें पौधों के विभिन्न पोषक तत्वों की आपूर्ति का अनुमान प्राप्त होता है। 7.0 से अधिक पी-एच मान क्षारीयता का बोध कराता है। 7.0 से कम होने पर मृदा अम्लीय कही जाती है। सामान्य मृदा का पी-एच मान 6.5 से 7.5 के बीच माना जाता है, जबकि क्षारीय-मृदा का 8.5 से अधिक।

क्षारीय मृदा का अनुमान उसमें उपस्थित विनमय योग्य सोडियम के प्रतिशत द्वारा लगाया जाता है। सोडियम की उपस्थिति प्राय: तीन अवस्थाओं में होती है। एक अवि-निमय योग्य सोडियम जिसे खनिज सोडियम कहते हैं, दूसरा विनिमय योग्य तथा तीसरा है घुलनशील सोडियम। खनिज सोडियम जो अविनिमय अवस्था में मृदा में पाया जाता है, मृदा की लवणीयता तथा क्षारीयता पर कोई प्रभाव नहीं डालता। विनिमय योग्य सोडियम जब 15 प्रतिशत से अधिक होता है तो उससे क्षारीय मृदा का संकेत मिलता है। इस अवस्था में प्राय: पौधों में पोषक तत्वों की उपतब्धता बहुत कम हो जाती है। यह मृदा के भौतिक गुणों पर भी बुरा प्रभाव डालती है।

अतः इन तीन गुणों के आधार पर मृदा-वैज्ञानिकों ने ऊसर भूमि को परिभाषित किया, जिसमें विद्युत्-संचालकता, पी-एच और विनिमययोग्य सोडियम की मात्रा प्रमुख हैं।

1. लवणीय ऊसर

वह मृदा जिसकी विद्युत्-संचालकता 4 मिलीम्होस/से० मी० (मिलीम्होस/से० मी० को dSm^{-1} से भी प्रकट करते हैं) से अधिक हो तथा विनिमय योग्य सोडियम 15 प्रतिशत से कम हो, लवणीय कहलाती है। प्राय इसका पी-एच मान 8.4 से कम होता है।

ऐसी भूमि प्रायः सामान्य दिखती है, किन्तु यदि इसमें जल-निकास की उचित व्यवस्था कर दी जाय तो घुलनशील लवण अधिकांश मात्रा में निक्षालित हो जाते हैं।

2. लवणीय-क्षारीय ऊसर

ऐसी मृदाओं की विद्यु्त्-संचालकता 4 मिलीम्होस/से० मी० से अधिक होती है तथा विनिमय-योग्य सोडियम भी 15 प्रतिशत से अधिक होता है। पी-एच मान 8.5 से कम या अधिक भी हो सकता है।

इन मृदाओं की भौतिक दशा अधिक खराब नहीं होती, जिसका अनुमान लवणों की मात्रा और उसके प्रकार पर निर्भर करता है।

3. क्षारीय ऊसर

जिन मृदाओं की संचालकता 4 मिलीम्होस/से० मी० से कम हो तथा विनिमय योग्य सोडियम 15 प्रतिशत से अधिक हो, प्रायः इन मृदाओं का पी-एच मान 8.5 से 10.0 या इससे अधिक भी हो सकता है।

क्षारीय मृदाओं की भौतिक दशा बहुत अच्छी नहीं होती। सूखी होने पर अत्यन्त कठोर तथा गीली होने पर चिपचिपी हो जाती है। हल चलाने पर रुकावट डालती है। सोडियम कार्बोनेट तथा सोडियम बाइकार्बोनेट लवणों की अधिकता होती है। पी-एच अधिक होने से कैल्शियम लवण और मैग्नीशियम लवण अघुलनशील अवस्था में बदल जाते हैं, जो कंकर के आकार में परिवर्तन हो जाते हैं। ये कंकर लगभग एक मीटर की गहराई तक मिलते हैं।

इस प्रकार के ऊसर में क्षारीय लवणों की समस्या प्रधान होती है। मृदा में उपस्थित जैविक पदार्थ विलयशील हो जाते हैं। क्षारों की सक्रियता के कारण मृदा कणों का विसर्जन भी हो जाता है, जिससे वायु-संचार और जल-संचालन में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार के ऊसर के लिए ऊसर सुधारकों का प्रयोग आवश्यक होता है।

ऊसर सुधार के उपाय

ऊसर भूमि को सामान्य भूमि में परिवर्तन करने की प्रक्रिया में पहला क़दम है—मृदा का परीक्षण। इस कार्य के लिए मृदा के नमूनों को मार्च-अप्रैल माह में लेना उचित होता है।

लवणीय ऊसर में यदि केवल घुलशील लवणों की समस्या है तो किसी भी सुधारक की आवश्यकता नहीं होती। गर्मियों में मज़बूत मेड़बन्दी करके खेत को समतल कर लेना चाहिए। मृदा की ऊपरी सतह को खुरच करके अन्यत्र फेंक देना चाहिए। समुचित दूरी पर नालियाँ खोद लेनी चाहिए। तत्पश्चात् खेत में पानी भरकर दो या तीन बार सिंचाई करनी चाहिए। ऐसा करने से घुलनशील लवण पानी में घुलकर बाहर निकल जाते हैं। लवण सह्य फ़सलों को बोना चाहिए, जिससे मृदा में लवणों की सघनता कम हो जाय जैसे धान, जौ, गेहूँ, कपास, सोयाबीन आदि। सामान्य फ़सलों से इनकी पैदाबार भी अपेक्षकृत अधिक होती है।

लवणों के निक्षालन के लिए वर्षा जल का उपयोग अत्यन्त लाभदायक पाया गया है, क्योंकि इसमें लवण की मात्रा नगण्य है। अतः वर्षा में खेतों में अच्छी और मज़बूत मेड़ बनाकर वर्षा जल का संग्रह करना चाहिए। इसका अधिक से अधिक उपयोग लवणों के निक्षालन के लिए किया जा सकता है। वर्षा में अतिरिक्त जल को तालाबों में एकत्र करना उचित होगा। साधारणतया ऐसा माना जाता है कि लवणीय मृदा में एक मीटर गहराई तक लवणों का निक्षालन करने के लिए एक मीटर जल की आवश्यकता होती है। परन्तु कहीं-कहीं 0·5 मीटर जल ही पर्याप्त पाया गया है। निक्षालन प्रक्रिया से घुलनशील लवणों के साथ-साथ विनिमय योग्य सोडियम की मात्रा भी घट जाती है। जल निकास की उचित व्यवस्था हो और वर्षा जल निक्षालन यदि किया जाता रहे तो लवणीयता वाले जल का प्रयोग सिंचाई के लिए किया जा सकता है। सामान्यतया लवणों का निक्षालन 1.3 मीटर तक किया जाना चाहिए।

सुधारकों का उपयोग

रसायनिक सुधारकों का उपयोग मुख्य रूप से ऊसर भूमि को सुधारने के लिए किया जाता है, जिन्हें गुणों के आधार पर दो भागों में विभाजित किया जाता है—

(क) घुलनशील कैल्शियम युक्त लवण जैसे जिप्सम तथा फॉस्फोजिप्सम।

(ख) अम्लीय पदार्थ जैसे कि पाइराइट्स, सल्फ्यूरिक अम्ल तथा कारखानों से प्राप्त छीजन जैसे डिस्टलरी, डेयरी आदि के व्यर्थ पदार्थ।

जिप्सम का उपयोग

आर्थिक दृष्टिकोण से जिप्सम या पाइराइट का प्रयोग अधिक प्रचलित हुआ है। क्षारीय मृदाओं के सुधार के लिए जिप्सम का प्रयोग भारत में लगभग एक शताब्दी पूर्व से ही होता चला आ रहा है। जिप्सम (कैल्शियम सल्फेट) प्राकृतिक अवस्था में रवेदार सफ़ेद रंग का खनिज है जो राजस्थान, तमिलनाडु, गुजरात, उत्तर प्रदेश, कश्मीर तथा हिमांचल प्रदेश में प्राप्त होता है। खानों के अतिरिक्त जिप्सम कई कारखानों से उप-उत्पादन के रूप में उपलब्ध है। शुद्धता के आधार पर जिप्सम तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया जाता है—

श्रेणी—1 : 85—90 प्रतिशत जिप्सम

श्रेणी—11 : 80—85 प्रतिशत जिप्सम

श्रेणी—111 : 70—80 प्रतिशत जिप्सम

केन्द्रीय मृदा लवणता अनुसंधान संस्थान, करनाल के अनुसार जिप्सम की आवश्यकता प्रयोगशाला में 0·15 सेंटीमीटर गहराई तक मृदा की जाँच के आधार पर तय की जाती है। स्वाभाविक है कि अगर उसी मात्रा को 30 सेंटीमिटर गहरी मिट्टी की बजाय 10 सेंटीमीटर गहरी मिट्टी मिलाया जाय तो अधिक लाभ होगा तथा फ़सलों की उपज संतोषजनक रहेगी। साधारण स्थिति म क्षारीय ऊसर को सुधारने के लिए लगभग 15 टन प्रतिहेक्टेयर की संस्तुति की जाती है। जिप्सम की घुलनशीलता, गोबर की खाद या हरी खाद या हरी खाद की उपस्थिति में बढ़ जाती है और फ़सलों की उपज भी पोषक तत्वों की उपलब्धि के कारण अधिक होती है। कतिपय मृदा वैज्ञानिकों ने जिप्सम की आवश्यकता क्षारीय मृदाओं के लिए कुल आवश्यकता का लगभग 50 प्रतिशत या कुछेक मृदाओं के लिए 25 प्रतिशत निर्धारित किया है। जिप्सम की उपयुक्त मात्रा इस बात पर भी निर्भर करती है कि उसे कितनी गहराई तक मृदा में मिलाना है और यह इस पर आधारित है कि फ़सल की जड़ें कितनी गहराई तक जाती हैं। साधारणतः आर्थिक दृष्टि से यह सम्भव नहीं होता है कि पूरे मृदा-प्रोफाइल को विनिमय योग्य सोडियम रहित कर दिया जाय। व्यावहारिक रूप में जिप्सम की उतनी ही मात्रा का उपयोग किया जाता है, जिससे जड़ क्षेत्र में विनिमय योग्य सोडियम वांछित स्तर तक हो जाय।

जिप्सम का प्रयोग एक बार में करना उचित होगा या प्रत्येक फ़सल के पूर्व करना? मृदा वैज्ञानिकों ने प्रयोगों के आधार पर ज्ञात किया है कि प्रत्येक वर्ष जिप्सम मिलाने पर कोई विशेष लाभ नहीं होता। जिप्सम उपयोग के साथ-साथ निम्न बिन्दुओं पर भी ध्यान देना लाभकारी सिद्ध हुआ है—

(1) जिप्सम के उपयोग के बाद नाइट्रोजन उर्वरक के प्रयोग में अमोनियम सल्फेट डालना चाहिए, जिसके कारण मृदा का पी-एच घटता है और कंकर की घुलनशीलता में वृद्धि होती है।

(2) खेत को कभी परती नहीं छोड़ना चाहिए। सुधार प्रारम्भ होने के बाद मृदा में लगातार खेती करने से पौधों की जड़ों द्वारा कार्बनडाइऑक्साइड पैदा होकर कैल्शियम कार्बोनेट को घुलनशील कैल्शियम बाइकार्बोनेट में परिवर्तित करता है।

(3) वर्षा जल के उपयोग द्वारा सुधार में प्रगति होती है, क्योंकि इसकी प्रकृति अम्लीय होती है तथा इसमें कार्बन डाइऑक्साइड की भी कुछ मात्रा होती है।

(4) उचित फ़सल-चक्र को अपनाने से जड़-क्षेत्र से नीचे अवमृदा में सुधार समय के साथ-साथ जारी रहता है। पहली फ़सल के रूप में धान की सहिष्णु किस्म बोना प्रभावी होता है।

(5) जिप्सम की घुलनशीलता बढ़ाने के लिए तथा मृदा की भौतिक दशा में सुधार के लिए गोबर की खाद या हरी खाद का समुचित उपयोग लाभदायक सिद्ध हुआ है।

फॉस्फोजिप्सम तथा बोरोनयुक्त जिप्सम कुछ कारखानों से उप-उत्पाद के रूप में प्राप्त होता है। इनके प्रयोग में साधारणतया कोई हानि नहीं दिखती। परन्तु फॉस्फो-

जिप्सम में फ्लोरीन की मात्रा 1.0 प्रतिशत से बढ़ जाती है तो फ्लोरीन का पौधों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। उसी प्रकार बोरोनयुक्त जिप्सम में बोरोन का हानिकारक प्रभाव भी इसके प्रयोग में एक प्रश्नचिन्ह् के रूप में उभर कर सामने आ जाता है।

पाइराइट का प्रयोग

पाइराइट गन्धक का खनिज है, जो बिहार राज्य के रोहतास जिले के आमझोर क्षेत्र में पाया जाता है। इसमें उपलब्ध गंधक ऊसर भूमि में गंधक का अम्ल बनाता है। यह अम्ल मृदा में उपस्थित कैल्शियम कार्बोनेट से क्रिया करके जिप्सम में परिवर्तित हो जाता है।

पाइराइट का रासायनिक संघटन (FeS_2) (आयरन सल्फाइड) होता है जिसकी दो व्यापारिक श्रेणियाँ हैं—एक निम्न श्रेणी पाइराइट तथा दूसरा उच्च श्रेणी पाइराइट। कृषि कार्य के लिए ऊसर भूमि के सुधारक के रूप में निम्न श्रेणी पाइराइट का प्रयोग किया जाता है।

पाइराइट की मात्रा कितनी डाली जाय, जिससे क्षारीय मृदा का सुधार हो सके इसकी जानकारी के लिए मिट्टी का परीक्षण आवश्यक होता है। पाइराइट डालने के पहले भूमि को समतल करना, मज़बूत मेड़ें बनाना, हल्की जुताई करना तथा जल-निकास एवं सिंचाई का प्रबन्ध करना आवश्यक है। खेत में पाइराइट धान की रोपाई से एक माह पूर्व मिट्टी की जाँच के आधार पर निर्धारित मात्रा में विखेर कर खेत में मिला दिया जाता है तत्पश्चात् हल्की सिंचाई कर दी जाती है। आठ-दस दिनों बाद खेत में 4 से 5 इन्च पानी भरकर रिसने के लिए लगभग 15 दिनों तक छोड़ दिया जाता है। पानी सूखने पर पुन: खेत को पानी से भर दिया जाता है। पानी सूखने पर पानी भर कर खेत में धान की रोपाई करनी चाहिए। इस खेत में कीचड़ (puddling) करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

धान की उन्नत जातियाँ, जो इस परिस्थिति के अनुकूल हों, उन्हें लगाना चाहिए। जैसे, आई० आर० 8, जया, पी० 2-21, साकेत-4 आदि। ऊसर सुधारे हुए खेत को एक बार भी परती नहीं छोड़ना चाहिए। फ़सल-चक्र के आधार पर उपयुक्त फ़सल की बोआई करनी चाहिए।

चन्द्रशेखर आज़ाद कृषि विश्वविद्यालय, कानपुर में पाइराइट एवं जिप्सम के उपयोग द्वारा धान-गेहूँ-धान फ़सल-चक्र में 1977-78 के प्रयोगों पर आधारित निम्न तालिका से अन्न-उत्पादन का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है—

उपचार	दर (% जि० आ०)	अन्न उत्पादन टन हेक्टेयर धान	गेहूँ	धान
नियंत्रण	—	1.34	0.51	3.23
पाइराइट	25	2.39	0.92	4.37
	50	3.22	1.22	5.20

	75	3.50	1.47	5.52
जिप्सम	25	2.82	1.00	4.79
	50	3.55	1.41	5.48
	75	3.69	1.58	5.85
		0.112	0.071	0.411

नोट :—जिप्सम आवश्कता के आधार पर पाइराइट एवं जिप्सम की मात्रा गंधक के समतुल्य गणना की गई। पाइराइट क्रमशः 5.3, 10.7 तथा 16.0 टन/हेक्टेयर तथा जिप्सम 6.2, 12.4 एवं 18.6 टन/हेक्टेयर की दर से डाले गये।

उपर्युक्त प्रयोगों से जिप्सम, पाइराइट से अपेक्षाकृत अधिक प्रभावी पाया गया। इसी प्रयोग में मृदा के भौतिक गुणों, पी-एच तथा विनिमय-योग्य सोडियम का भी अध्ययन किया गया, जिसमें जिप्सम का प्रभाव पाइराइट की तुलना में बेहतर पाया गया।

गंधक का अम्ल

गंधक का अम्ल ऊसर भूमि में तीव्रता के साथ क्रिया करके उसकी क्षारीयता का सुधार करने में बहुत सफ़ल सिद्ध हुआ है। मृदा का उपचार 1.0 प्रतिशत गंधक के अम्ल के द्वारा करने के बाद 15-30 हज़ार मीटर^3/हेक्टेयर जल की मात्रा द्वारा निक्षालित किया जाता है। रूस में 1 मीटर ग़हराई तक क्षारीय-लवणीय ऊसर भूमि को सुधारने के लिए 90 से 120 टन गंधक का अम्ल प्रति हेक्टेयर तथा 40 से 50 हज़ार घन मीटर सिंचाई जल प्रति हेक्टेयर की आवश्यकता होती है।

भारत में कानपुर तथा इंदौर में इसका प्रयोग क्षरीय ऊसर के सुधार के लिए किया गया। जिप्सम तथा अन्य सुधारकों से गंधक का अम्ल अधिक प्रभावशाली पाया गया। परन्तु भारत में वांछित मात्रा में इसकी अनुपब्धि बड़े पैमाने पर उपचार के लिए निकट भविष्य में सम्भव नहीं दिखती।

जैविक विधियाँ

लवण प्रभावित मृदाओं के सुधार एवं उर्वरा वृद्धि में जैविक विधियाँ बहुत कारगर सिद्ध हुई हैं। लवण निक्षालन के पश्चात् मृदा की भौतिक दशा सुधारने के लिए जैविक उपायों का बहुत बड़ा योगदान है। इन जैविक विधियों में गोबर की खाद, हरी खाद तथा शीरा एवं प्रेसमड का उपयोग महत्वपूर्ण माना गया है। ऊसर मृदाओं में घासों का लगाना, वृक्षों और फलों की बाग़वानी तथा कृषि वानिकी के प्रयोग भी लाभदायक सिद्ध हुए हैं।

गोबर की खाद

गोबर की खाद के उपयोग द्वारा मृदा के रासायनिक, भौतिक एवं जैविक गुणों पर लाभदायक प्रभाव पड़ता है। परन्तु भारत में ईंधन के अभाव में गोबर का दुरुपयोग प्रायः

उपले के रूप में किया जाता है । गोबर गैस अथवा बायो गैस संयंत्रों द्वारा आजकल गैस-ईंधन के रूप में ऊर्जा प्राप्त करते हैं तथा उससे प्राप्त स्लरी का उपयोग मृदा में उर्वरक की भाँति कर सकते हैं । इसका प्रचार एवं प्रसार व्यापक रूप से करना चाहिए ।

निम्न तालिका से प्राप्त गोबर के रासायनिक संघटन की जानकारी के पश्चात् उसकी उपयोगिता मृदा के लिए आसानी से सुनिश्चित की जा सकती है ।

तालिका

ठोस की मात्रा (%)	74-81
सम्पूर्ण ठोस की मात्रा (%)	18-26
वाष्पशील ठोस (सम्पूर्ण ठोस का %)	70-80
सम्पूर्ण नाइट्रोजन (%) शुष्क अवस्था में	1.4-1.8
सम्पूर्ण फॉस्फेट (%) शुष्क अवस्था में	1.1-2.0
सम्पूर्ण पोटाश (%) शुष्क अवस्था में	0.8-1.2

इसके अतिरिक्त कुछ सूक्ष्म पोषक तत्वों जैसे ताँबा, जस्ता, मैंगनीज़ तथा बोरोन की अल्प मात्रा उपस्थित रहती है । गोबर द्वारा मृदा की जैविक क्रियाओं में वृद्धि होती है तथा रासायनिक एवं भौतिक गुणों के समग्र प्रभाव से मृदा की उर्वरा शक्ति में वृद्धि होती है, जिसके फलस्वरूप फ़सलों की उत्पादकता में भी वृद्धि होती है ।

क्षारीय मृदाओं में गोबर की खाद का उपयोग अत्यन्त लाभदायक माना गया है । कार्बनिक पदार्थों का अपघटन होने पर ह्यूमस की मात्रा बढ़ जाती है । ह्यूमस एवं ह्यूमिक अम्ल की उपस्थित में मृदा का पी-एच भी घटता है । इस प्रकार मृदा में अम्लों के कार्बाक्सिल ग्रुप के विघटन द्वारा ऋणायन आवेश की उपस्थिति में धनायन विनिमय क्षमता की वृद्धि भी सम्भावित है । मृदा में इसके कारण कैल्शियम कार्बोनेट की घुलनशीलता में वृद्धि पाई गई है । गोबर के खाद के उपयोग से क्षारीय मृदाओं के जल का अन्तः स्यन्दन दर तथा वातन में वृद्धि शीघ्र और स्पष्ट रूप में दिखाई देते हैं । जिप्सम के साथ गोबर की खाद का प्रभाव अधिक लाभदायक सिद्ध हुआ है ।

अतः जिप्सम के प्रयोग के साथ-साथ क्षारीय मृदाओं के सुधार हेतु गोबर के खाद की समुचित मात्रा का उपयोग अधिक प्रभावी पाया गया है तथा स्थायी रूप से मृदा की उर्वराशक्ति को कायम रखने में भी अप्रत्यक्ष रूप से इसकी भूमिका महत्वपूर्ण है ।

हरी खाद

हरी खाद के लिए शीघ्र बढ़ने वाली फ़सल को बोकर उसे हरी अवस्था में ही खेत में जोत दिया जाता है । प्रायः फलीदार फ़सल का उपयोग हरी खाद के लिए किया जाता है, क्योंकि इनकी गाँठदार जड़ों में उपस्थित जीवाणुओं द्वारा वायु से 'नाइट्रोजन-स्थिरीकरण' द्वारा मृदा को नाइट्रोजन प्राप्त होती है । हरी खाद के उपयोग को लवण प्रभावित मृदाओं में अधिक महत्व दिया जाता है, क्योंकि क्षारीय मृदाओं में पी-एच मान कम हो जाता है तथा उनके भौतिक गुणों पर भी लाभदायक प्रभाव पड़ता है ।

हरी फ़सल के लिए ढैंचा, सनई, ग्वार, सैंजी आदि का उपयोग प्रचलित हुआ है। परन्तु ढैंचा सबसे उपयोगी पाया गया है। ढैंचा लगभग 9.5 पी-एच की मृदा में भी उग सकता है और इसकी उपज प्रायः 10 से 20 टन प्रति हेक्टेयर तक हो जाती है। ढैंचा के हरे पौधों में 0.7% नाइट्रोजन, 0.1% फॉस्फोरस तथा 0.6% पोटाश पाया जाता है। ढैंचा की पत्तियों के रस का पी-एच लगभग 4.0 होता है, जिसके कारण क्षारीय मृदाओं का उच्च पी-एच इसके उपयोग से घटने लगता है। मृदा की पारगम्यता में वृद्धि हरी फ़सल के विस्तृत जड़ों के समूह द्वारा होती है। इससे मृदा की निक्षालन क्रिया प्रभावित होती है। कार्बन डाइऑक्साइड से कार्बनिक अम्ल तथा मृदा में अन्य अम्लों की उपस्थिति से मिट्टी के निचले तहों में कंकरों में उपस्थित कैल्शियम घुलनशील अवस्था में आ जाता है। कैल्शियम द्वारा सोडियम का प्रतिस्थापन होता रहता है।

शीरा और प्रेसमड का उपयोग

चीनी मिलों से प्राप्त शीरा और प्रेसमड दो प्रकार के उपोत्पाद हैं, जिन्हें क्षारीय मृदाओं के सुधार हेतु उपयोग में लाने का प्रयास प्रसिद्ध मृदा वैज्ञानिक **डॉ० नीलरत्न धर** और उनके सहयोगियों ने सर्वप्रथम सन् 1938 के आस पास किया। शीरे में 60-70% कार्बोहाइड्रेट, 4-5% पोटाश, तथा 2% कैल्शियम ऑक्साइड पाया जाता है। इसके अतिरिक्त फॉस्फेट, नाइट्रोजन, गंधक का अम्ल, आयरन ऑक्साइड तथा एल्यूमिनियम ऑक्साइड—सभी लगभग 0·5 % मात्रा में पाये जाते हैं। जल की मात्रा लगभग 20-30% तक होती है। प्रेसमड में कैल्शियम कार्बोनेट अधिक होता है, जिसकी मात्रा लगभग 70% होती है। इसमें जैव-पदार्थ 8% के आस पास होता है, नाइट्रोजन 0·4-5% तथा फॉस्फेट 1·25% पाये जाते हैं।

क्षारीय मृदाओं में शीरे के उपयोग से कार्बोहाइड्रेट का ऑक्सीकरण होता है, जिससे कार्बन डाइऑक्साइड तथा जैविक अम्लों की उत्पत्ति होती है। इन अम्लों की उपस्थिति में मृदा का उच्च पी-एच कम हो जाता है तथा विनिमय-योग्य सोडियम का प्रतिशत घट जाता है, क्योंकि मृदा में स्थित कंकरों में कैल्शियम घुलनशील अवस्था में आ जाता है। इस जैविक पदार्थ का ऊसर भूमि के सुधार के लिए उपयोग शीरे एवं प्रेसमड की उपलब्धता एवं कीमत से सम्बन्ध रखता है। शीरा और प्रेसमड पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न होने के कारण इसका प्रयोग प्रचलित नहीं हो सका।

प्रायः ऊसर भूमि को लोग परती छोड़ दिया करते हैं, परन्तु ऐसा करने से मृदा की क्षारीयता और भी बढ़ जाती है। अतः इस प्रकार की ऊसर मृदाओं की क्षारीयता को किसी न किसी तरह घास उगाकर अथवा वृक्ष लगाकर, कम किया जा सकता है। घासों में करनाल घास (**डाइप्लैंकने फुस्का**), जिसे बट घास भी कहते हैं, चारे के लिए और चारागाहों में लगाने के लिए बहुत उपयुक्त पाई गई है। बरमूदा घास, पैराघास, रोहड्स घास, मारवेल घास एवं पनगोला घासें भी बोई जाती हैं। करनाल घास को लगातार तीन वर्षों तक बोने के बाद क्षारीय मृदा, जिसका पी-एच 10·7 था, घटकर 9·5 तक पहुँच गया।

वृक्षारोपण द्वारा ऊसर भूमि को तो सुधारा गया ही, उस क्षेत्र के किसानों की आर्थिक स्थिति भी सुधरी है, जहाँ आँवले, बेल, बेर, फ़ालसा और अमरूद लगाये गये हैं। इस दिशा में फैज़ाबाद स्थित कृषि विश्वविद्यालय का योगदान महत्वपूर्ण है। फलों की बाग़वानी हेतु 90 घन से० मी० गढ्ढे खोदे जाते हैं। गड्ढों में अच्छी मिट्टी, 30 किग्रा० गोबर की खाद, 30 किग्रा० बालू एवं 30 ग्रा० एलड्रेक्स भरते हैं। बाग़वानी के लिए सम्पूर्ण खेत को सुधारने की आवश्यकता नहीं पड़ती, केवल गड्ढों को अच्छी तरह से तैयार करके फलदार पौधों को लगाना चाहिए। इन पौधों की पत्तियाँ प्रत्येक वर्ष खेत में गिरती हैं जिससे ऊसर भूमि धीरे-धीरे सुधर सकती है। कलमी फलों के वृक्षों को लगाने से दो-तीन वर्षों में ही वृक्षों में फल आने लगते हैं। फलदार वृक्षों के साथ कृषि वानिकी बहुत उपयोगी पायी गयी है। इसके अन्तर्गत कई मॉडल जैसे—अमरूद, सफ़ेदा, सुबबूल तथा अमरूद, बेर, फ़ालसा उपयुक्त पाये गये हैं। वानिकी पौधे यथा शीशम, अर्जुन, सैंजी, यूकेलिप्टस आदि भी रोपे जा सकते हैं।

समुद्रतटीय लवणीय मृदा

लवणीय मृदाओं के अन्तर्गत समुद्रतटीय लवणीय मृदाओं का महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि भारत के विशाल तटवर्ती स्थानों में अत्यधिक वर्षा के कारण इस प्रकार की भूमि का विकास होता जा रहा है। वर्षाजल के द्वारा कैल्शियम एवं मैग्नीशियम यौगिकों के निक्षालन के फलस्वरूप यहाँ की मृदाओं में लवणों का बाहुल्य पाया जाता है। इन मृदाओं की एक खास पहचान यह है कि इसमें सोडियम क्लोराइड तथा सोडियम सल्फेट की प्रचुर मात्रा होती है। इसमें विनिमय-योग्य हाइड्रोजन भी उपस्थित होता है, जिससे ये मृदायें अम्लीय होती हैं। जैसे-जैसे वर्षा बढ़ती है, पी-एच कम होता जाता है। केरल के समुद्रतटीय मृदाओं का पी-एच 3·5 से 5.5 के बीच होता है। केरल की इन मृदाओं को अम्ल सल्फेट मृदा अथवा लवणीय-अम्लीय मृदा कहते हैं। तमिलनाडु, महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश, गुजरात, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा आदि प्रान्तों के समुद्र के किनारे-किनारे एक विशाल क्षेत्र में इसी प्रकार की मृदायें पायी जाती हैं।

ज्वार-भाटा से जुड़े प्रतिरोध के कारण तथा सूक्ष्म गठन की की मिट्टी जमा हो जाने के कारण प्राकृतिक जल-निकास रुक जाता है। लवणों के निक्षालन में इस प्रकार अवरोध आ जाता है और लवणों की मात्रा बढ़ जाती है।

समुद्रतटीय लवणीय मृदा में खरीफ़ में धान की फ़सल ली जाती है तथा रबी में कोई फ़सल नहीं ली जाती। परन्तु सिंचाई के लिए वर्षाजल एकत्र करके या अच्छी कोटि का सिंचाई जल उपलब्ध करके रबी में पुनः धान बोया जा सकता है। धान की दूसरी फ़सल लेने से भूमि का सुधार होता है, क्योंकि रबी में जल-स्तर नीचा होने से लवणों में निक्षालन अच्छी तरह हो जाता है।

यदि सिंचाई जल उच्चकोटि का उपलब्ध न हो तो जौ, अलसी, मिर्च या तरबूज़ की खेती की जा सकती है। साल में दो फ़सलों का बोना ऊसर के सुधार के लिए अत्यंत प्रभावी सिद्ध हुआ है।

ऊसर भूमि के सुधार के संबंध में अधिक जानकारी के लिए केन्द्रीय लवणता अनुसंधान संस्थान, करनाल से सम्पर्क किया जा सकता है। □□

परम्परा और पर्यावरण

□ विजय जी

हमारी संस्कृति दुनिया की प्राचीनतम् और सर्वाधिक विकसित संस्कृतियों में से एक है। प्रत्येक युग के बेहतरीन अनुभवों को हमने रीति-रिवाज़ और परंपराओं के माध्यम से युगों तक जीवित रखा है ये रीति-रिवाज और परम्पराएँ हमारी दिनचर्या और जीवन-शैली के अभिन्न अंग रहे हैं। भिन्न कारण और परिस्थितियों में इन परम्पराओं में संशोधन और परिमार्जन होता रहा है। यही कारण है कि हमारे रहन-सहन और जीवन-शैली की अधिकांश विधियाँ विज्ञानसमस्त रही हैं। यद्यपि अनेक बार समाज के स्वार्थी तत्वों द्वारा समाज में धार्मिक पाखण्ड और कुरीतियाँ भी फैलायी गयीं, लेकिन उनका समय-समय पर विरोध भी होता रहा है।

एक लम्बे समय तक अंग्रेज़ों के आधीन रहने के कारण हमारी सोच पर पश्चिम का बहुत प्रभाव पड़ा। हमारे समाज के उच्च वर्ग ने न केवल अंग्रेज़ों की दासता ही स्वीकार की वरन् उनकी जीवन-शैली भी अपनायी। आज़ादी के बाद भी देश पर वही भूत सवार रहा। परंपरागत रूप से हमारे यहाँ विज्ञान का कैसा रूप रहा है तथा पारंपरिक प्रौद्योगिकी क्या है, इसे जानने और विकसित करने का कोई प्रयास नहीं किया गया। वैज्ञानिकों और तकनीकी विशेषज्ञों की संख्या यहाँ दुनिया में तीसरे नम्बर पर है। इसके बावजूद हम आँख मूँद कर पश्चिम की तकनीक आयात करते जा रहे हैं।

इस लेख में हम अपने देश के पारम्परिक जीवन-शैली के कुछ पहलुओं का वर्णन करेंगे जो आज भी कुछ संशोधनों के साथ उपयोगी हो सकती हैं। इन पारंपरिक विधियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें प्रदूषण का कहीं से कोई ख़तरा नहीं है।

पारंपरिक रहन-सहन

हमारे देश में संस्कृति और सभ्यता के मूल स्रोत आर्य थे। आर्यों की संस्कृति ग्रामीण और धार्मिक संस्कृति थी। आज भी देश की 80 प्रतिशत आबादी गाँवों में रहती है तथा अधिसंख्य लोगों के रहन-सहन में धार्मिकता स्पष्ट दिखती है। यद्यपि समय के साथ धार्मिक क्षेत्रों में अनेक विकृतियाँ आयीं, लेकिन रहन-सहन की जो पद्धति प्राचीन काल से चलती आयी है उसमें पर्याप्त वैज्ञानिकता मौजूद है। हमारी धार्मिक मान्यताओं के अनुसार पृथ्वी, वायु, सूर्य सभी देवता हैं कोई भी ऐसा कृत्य जिससे इन देवताओं का अपमान हो, किया जाना वर्जित था। जहाँ समाज में यह मान्यता होगी वहाँ धरती और वायु को प्रदूषित किये जाने वाले कृत्य भला क्यों किये जायेंगे? इतना ही नहीं, हमने

जवाहर कॉलेज, जारी, इलाहाबाद—212106

पर्वत, नदी, पेड़-पौधों में भी देवत्व के दर्शन किये। कदाचित् यही कारण है कि युगों-युगों से हिमालय जैसे पर्वत और गंगा-यमुना जैसी नदियाँ हमारे समाज में पूँजी जाती रहीं हैं। पूजा का तात्पर्य केवल पूजा से ही नहीं था वरन् हर उस कृत्य से था जिसका वातावरण, समाज पर असर पड़ता था। जब समाज में यह मूल्य था कि गंगा-जल 'अमृत' होता है तो उस समय लोग गंगा में गंदगी फेंकना और शौच आदि को पाप मानते थे। जब हिमालय को देवता माना जाता था तो हिमालय में लोग तप करने, जड़ी-बूटियों को खोजने और प्राकृतिक सौंदर्य देखने जाते थे। आज लोग हिमालय को संवारने नहीं, उजाड़ने अधिक जाते हैं। गांवों में लोग हरे पेड़ काटना पाप समझते थे। पीपल, नीम, तुलसी आदि पेड़-पौधों की पूजा की जाती थी। धार्मिक त्योहारों आदि में विविध पेड़-पौधों का उपयोग करके उनके संरक्षण के लिए नियम बना दिये गये थे। उदाहरणस्वरूप शव ले जाने के लिए बाँस का उपयोग अनिवार्य बनाया गया जो आज तक चल रहा है, पूजा में कलश के लिए आम की पत्तियाँ, हवन के लिए आम की लकड़ी अनिवार्य थी।

परम्परा में जिस तरह लोग जल को देवता मानते थे उसी तरह देवता का सम्मान भी करते थे। परंपरागत रूप से जल के लिये लोग नदी, ताल, कुआँ, बावड़ी आदि पर निर्भर थे। लोग इन जल-स्रोतों की पूरी हिफाज़त किया करते थे। तालाब तो इतने साफ़-सुथरे रखे जाते थे कि लोग उनका पानी पीने के लिए उपयोग करते थे। अब तो तालाब को कौन कहे लगभग शत प्रतिशत कुएँ तक प्रदूषित हो चुके हैं। नदियों की स्थिति तो और भी दयनीय हो चुकी है। लगभग सभी नदियाँ शहरों और कारखानों का गंदा पानी और कूड़ा-कचरा ढोने वाले 'सीवर' जैसी बन गयी हैं।

पारम्परिक कृषि

आज से पच्चीस वर्ष पूर्व तक देश में हर जगह लगभग पारम्परिक खेती ही होती थी। पारम्परिक खेती में किसान घर में ही तैयार बीज को हल-बैल से खेत में बोता था। खाद भी वह पशुओं के गोबर और खरपतवार से बनाता था तथा कृषि यंत्र भी गाँव में ही बन जाते थे। पारम्परिक कृषि की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि खेत की उर्वराशक्ति सुरक्षित रहती थी, बल्कि कभी-कभी यह लगातार बढ़ती जाती थी। खेत में रह रहे अनगिनत जीवाणुओं और केंचुओं आदि का पारम्परिक खेती में बड़ा महत्व था। क्योंकि ये ही खेत की उर्वराशक्ति को बढ़ाते थे। हमारे देश में अनाज के किस्मों की कोई कमी तो कभी थी नहीं। अतः लोग मनचाहा फ़सल-चक्र अपना कर एक ओर जहाँ विविध अनाज उगाते थे वहीं खेत की उर्वराशक्ति भी बरकरार रखते थे।

ऐसी पारंपरिक खेती में पर्यावरण की हानि का तो कहीं कोई सवाल ही नहीं उठता। लेकिन आधुनिक खेती प्रदूषण की जननी तो है ही, साथ-साथ इससे खेतों की उर्वराशक्ति लगातार क्षीण हो रही है। आज किसान धरती माता को कुछ देने के बजाय निचोड़ने में लगा हुआ है। इसके लिये वह उर्वरकों का उपयोग करता है। ये उर्वरक वर्षा के पानी के साथ बह-बह कर धरती के सारे जल-स्रोतों को प्रदूषित कर चुके हैं। यही नहीं, इन उर्वरकों के उपयोग से मिट्टी का प्राकृतिक संतुलन बिगड़ गया है। विविध लाभदायक कीटाणु तथा केंचुए नष्ट हो गये हैं।

आधुनिक खेती से पर्यावरण का सर्वाधिक नुकसान कीटनाशकों से हो रहा है। ये कीटनाशक कितने विषैले होते हैं इसका सहज अनुमान 'भोपाल गैस काण्ड' से लगाया जा सकता है। 2-3 दिसम्बर 1984 की रात कीटनाशक बनाने वाली भोपाल की यूनियन कार्बाइड से ज़हरीली जैसे रिसने से वहाँ के करीब तीन हज़ार लोग कीड़े-मकोड़ों की तरह कुछ ही घंटों में मौत की नींद सो गये थे। 'हरित क्रान्ति' के क्षेत्रों में जहाँ उन्नत किस्म के बीज बोये जा रहे हैं, वहाँ तो कीटनाशकों का प्रयोग अनिवार्य है।

ऐसा नहीं कि पारंपरिक खेतों में कीड़े-मकोड़े लगते ही नहीं थे पर पारंपरिक खेती में लगने वाले कीड़े-मकोड़े आज की अपेक्षा बहुत कम लगते थे। किसी क्षेत्र विशेष में हज़ारों वर्षों से विकसित बीज आमतौर पर रोगरोधी हुआ करते हैं। यदि ये किस्में रोग-रोधी न होती या उनमें रोगों से लड़ने की क्षमता न होती तो वे हज़ारों साल तक जीवित ही नहीं रह सकती थीं। फिर परंपरागत रूप से हमारे देश के किसानों ने अनेक कीट-नाशकों का विकास भी किया था। ये कीटनाशक प्राकृतिक हुआ करते थे और अपना काम करने के बाद बिना पर्यावरण को नुकसान पहुँचाये स्वतः ही समाप्त हो जाते थे।

कीटनाशक और ओषधि के रूप में नाम हमारे देश का सर्वाधिक लोकप्रिय वृक्ष रहा है। आज भी गाँव में लोग दरवाज़े पर नीम का पेड़ ही लगाना उचित समझते हैं। नीम की पत्तियों को जलाकर वातावरण जीवाणु रहित किया जाता है। मिट्टी से दीमकों को भगाने के लिये भी नीम की खली का उपयोग किया जाता है। कीड़े लगे पौधों पर नीम का खली घोलकर छिड़कने पर कीड़े मर जाते हैं। कीड़ों को मारने के लिये तम्बाकू की पत्ती पीसकर, पानी में छानकर, उसमें साबुन मिलाकर छिड़कने पर यह उत्तम कीट-नाशक का काम करता है। यूँ तो हर तरह की राख़ अभी भी गाँवों में लोग कीटनाशक के रूप में उपयोग करते हैं, पर वैज्ञानिक खोजों से पता चला है कि मक्के के भुट्ठे से बीज निकालने के बाद बची 'गिल्ली' की राख़ का घोल आजकल प्रचलित किसी भी कीटनाशक से कम नहीं होता। 10 ग्राम गिल्ली की राख़ को डेढ़ लीटर पानी में उबाल कर छान लिया जाता है। इस छने पानी को सब्ज़ियों पर उत्तम कीटनाशक के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। इसके उपयोग से तने के साथ-साथ जड़ों को काटने वाले कीड़े भी मर जाते हैं। 20 ग्राम गिल्ली की राख़ को एक लीटर पानी में उबालकर बनाये गये घोल से घरों में पाये जाने वाले तिलचट्टे तक मर जाते हैं। एक कुंतल अनाज में 300 ग्राम गिल्ली की राख़ मिलाकर रखने से अनाज में घुन, पाई जैसे कीड़े नहीं लगते। गिल्ली की राख़ का उपयोग घरों में साबुन तथा बर्तनों को साफ़ रखने के लिये 'विष' के रूप में भी किया जा सकता है।

परंपरागत खेती में प्रकृति स्वयं कीड़े-मकोड़ों का नियंत्रण करती थी। कीड़े-मकोड़ों के सबसे बड़े शत्रु तो पक्षी होते हैं। प्रकृति में ऐसे अनेक कीड़े होते हैं जो अन्य हानिकारक कीड़ों को स्वयं खा जाते हैं। लेकिन कीटनाशकों के अंधाधुंध उपयोग से प्रकृति का संतुलन बिगड़ गया है। अनेक लाभदायक कीट-पतंगे भी कृत्रिम कीटनाशकों की बलि चढ़ चुके हैं।

परंपरागत ऊर्जा

पारंपरिक रूप से गाँवों में ऊर्जा समस्या का सर्वाधिक समाधान पशुओं से ही होता था। बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी, ऊँटगाड़ी से यातायात और माल ढोने का काम होता था। खेतों की जुताई, कुओं से पानी निकालने और खेतों में मड़ाई आदि सम्पूर्ण कार्य पशुओं द्वारा ही हुआ करते थे। ईंधन के लिये गाँवों में पर्याप्त लकड़ी उपलब्ध थी। नगरों में भी लकड़ी का ही उपयोग किया जाता था। प्रकाश के लिये घरों में अरण्डी के तेल का दीपक इस्तेमाल होता था। कुल मिलाकर ऊर्जा के जो भी स्रोत थे उनके द्वारा प्रदूषण की दूर-दूर तक कोई संभावना नहीं थी।

लेकिन आधुनिक ऊर्जा-स्रोतों में बिजली और सौर ऊर्जा को छोड़कर लगभग सभी प्रदूषणकारी हैं। बिजली स्वयं प्रदूषणतो नहीं फैलाती लेकिन विद्युत्-निर्माण के लिये जो परियोजना बनाई जाती है उससे जंगलों का बहुत बड़ा क्षेत्र नष्ट हो जाता है, जिससे वहाँ के पर्यावरण को गंभीर क्षति पहुँचती है। ऊर्जा संकट को दृष्टि में रखते हुये यद्यपि बायो गैस, पवन चक्की और सौर ऊर्जा के विकल्प खोजे गये हैं, लेकिन इन स्रोतों को लोग अपना नहीं पा रहे हैं। कुल मिलाकर ऊर्जा के लिये सारा ज़ोर बिजली, कोयला और पेट्रोलियम पदार्थों पर डाला जा रहा है।

पारंपरिक प्रौद्योगिकी

वैज्ञानिक तथ्य तो सार्वभौमिक होते हैं। वे हर देश और काल में वही होते हैं। लेकिन वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर विकसित तकनीक देश काल के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकती है। जो तकनीक अमेरिका या इंग्लैण्ड के लिये उचित हो, आवश्यक नहीं कि वह भारत के लिये भी उचित हो। हमारा दुर्भाग्य यही रहा कि हमने उन्नत तकनीक के नाम पर पश्चिम की तकनीक ज्यों की त्यों आयात कर ली। पश्चिम ने अपने यहाँ जो तकनीक विकसित की उसमें मानव की कम से कम ज़रूरत थी क्योंकि वहाँ जनसंख्या कम थी। लेकिन हमारे यहाँ जनसंख्या की अधिकता और भयंकर बेरोज़गारी के कारण ऐसी तकनीक की ज़रूरत थी जो अधिक से अधिक लोगों को काम दे।

पश्चिम की उन्नत तकनीक की नकल के आधार पर हमारे देश में बड़े-बड़े कार-खाने और विशाल परियोजनाएँ स्थापित की गयीं। इनकी स्थापना से उत्पादन तो बढ़ा लेकिन दो समस्याएँ बेहद बढ़ गयीं। वे हैं पर्यावरण असंतुलन और बेरोज़गारी। हर कार-खाना शुद्ध जल लेकर विषैला पानी निकालता है जो किसी नदी, तालाब आदि जलस्रोत में मिला दिया जाता है। कारखानों की चिमनियों से निकलने वाले धुंए ने देश की हवा को प्रदूषित कर दिया। वाहनों की भरमार ने वायु को प्रदूषित कर दिया। वाहनों की भरमार ने वायु प्रदूषण को और भी बढ़ा दिया।

हमारा देश हमेशा से कृषि प्रधान रहा है। लेकिन यहाँ गाँव में रहने वाले सभी लोग खेती ही करते रहे हो ऐसा नहीं। गांवों की बहुत बड़ी आबादी कृषि आधारित उद्योगों में लगी हुई थी। किसान कपास पैदा करता था। जुलाहा कपड़ा बुनता था। लोहार खेती

के औज़ार बनाता था। कुम्हार मिट्टी के बर्तन बनाता था। धोबी, नाई, चर्मकार एवं अन्य क्षेत्रों में शिल्पकारों के अनेक वर्ग अपने-अपने कार्यों में लगे हुए थे। नगरों में भी विविध लघु उद्योग फैले हुए थे।

उपर्युक्त के अनुसार लघु उद्योगों को उसी रूप में न अपनाकर उनमें तकनीकी सुधार किया जा सकता था। लेकिन शुरू में इस ओर ध्यान नहीं दिया गया। बाद में जब आयातित उन्नत तकनीक के दुष्प्रभाव दिखायी पड़ने लगे, तब जाकर देश के वैज्ञानिकों और योजनाकारों की आँख थोड़ी खुली। विभिन्न तकनीकी संस्थानों द्वारा माध्यमिक तकनीक की खोज होने लगी। ऐसी तकनीक जिसमें लोगों को रोजगार मिले तथा पर्यावरण को भी क्षति न पहुँचे। 1980 के आस-पास से शोधरत भोपाल स्थित 'साधन विकास संस्थान' ने कुम्हारी उद्योग के सम्बन्ध में अनेक सराहनीय खोजें की हैं। इस संस्थान ने मिट्टी से सोलर कुकर, मिट्टी के रिंग से कुआँ बनाने की विधि, मिट्टी से निर्धूम चूल्हा, सेप्टिक टैंक, जल-मल निकास, मिट्टी की पक्की प्लेटों से दीवार, टाइल जैसे सस्ते एवं ग्रामोपयोगी चीजें विकसित की हैं। 1972 में गोण्डा स्थित 'दीन दयाल शोध संस्थान' ने पारंपरिक तकनीक में सुधार करते हुये बान मशीन, पैर चालित सीलिंग पंखा, बुआई यंत्र, नलकूप जाली जैसी ग्रामोपयोगी चीजें विकसित की हैं। किसान कृषि यंत्र उद्योग, कानपुर ने भी अनेक कृषि उपयोगी यंत्र विकसित किये हैं। 'आई० ई० आर० टी०, इलाहाबाद' ने सोलर कुकर, पवन चक्की और बायोगैस के अनेक मॉडल विकसित किये हैं। देश में दर्जनों और भी तकनीकी संस्थाएँ हैं जो परंपरागत प्रचलित उद्योगों की तकनीक में सुधार करके नयी तकनीकें विकसित करने का प्रयास कर रही हैं।

लेकिन बाज़ार में दो तरह की तकनीकों के उपलब्ध होने पर जनता का ध्यान उन्नत तकनीक की ही ओर जाता है। यह स्वाभाविक भी है। यदि माध्यमिक तकनीक को विकसित करके जनता तक पहुँचाना है तो उन्नत तकनीक की बिक्री की सीमा निर्धारित करनी होगी। इधर विशाल परियोजनाओं से भी जनता का मोह भंग हुआ है। पिछले महीनों में **सुन्दर लाल बहुगुणा, बाबा आमटे** जैसे पर्यावरणविदों द्वारा टेहरी और नर्मदा पर बनने वाले बाँधों के खिलाफ़ ज़ोरदार प्रदर्शन हो चुके हैं। प्रदर्शनों के माध्यम से हज़ारों आदिवासियों ने बड़ी परियोजनाओं द्वारा हो रहे पर्यावरण असंतुलन की ओर जनता और सरकार का ध्यान आकर्षित किया।

इस लेख में परंपराओं का ज़िक्र करने का हमारा मतलब यह कतई नहीं है कि देश के विकास की गति रोककर उसे पुनः अठरहवीं सदी की ओर ले जाया जाय वरन् हमारा अभिप्राय यह है कि यदि अठारहवीं सदी की कोई तकनीक या जीवन-शैली की कोई विधि थोड़े बहुत सुधार के बाद आज प्रासंगिक हो सकती है तो उसे ज़रूर अपनाया जाना चाहिये। ऐसी तकनीक अपनाने से एक ओर जहाँ हम देश के पर्यावरण को बचा सकेंगे वहीं बढ़ती बेरोज़गारी पर भी लगाम लगा सकेंगे।

□□

भारत में पर्यावरण सुरक्षा : प्रदूषण नियंत्रण

□ राजेश कुमार केसरी

प्रदूषण की समस्या किसी विशेष स्थान या देश की समस्या नहीं है, बल्कि पूरे विश्व की समस्या है। भारत जैसे विकासशील देश में यह स्वयं सिद्ध है कि ग़रीबी, वनों की लगातार कटाई और मनुष्य की लालच के कारण देश के अनेक भू-खण्ड निर्जन होते जा रहे हैं। इसका हमारे देश की अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। स्वतन्त्रता के बाद से तो औद्योगिकीकरण और शहरीकरण के कारण हमारा पारिस्थितिक तन्त्र काफ़ी प्रभावित हुआ है। हमारे देश की आधी जनसंख्या ग़रीबी रेखा के नीचे रह रही है। देश की 14 प्रमुख नदियाँ, जिनमें गंगा भी है, हमारे देश में 85% पीने का पानी उपलब्ध कराती हैं। ये नदियाँ बुरी तरह से प्रदूषित हो चुकी हैं। शहरों का वातावरण इतना विषाक्त हो चुका है कि वहाँ के निवासी प्रातः मात्र दो घण्टे ही शुद्ध हवा ले पाते हैं। प्रदूषित भोजन को ग्रहण करने के कारण मनुष्यों में तरह-तरह के असाध्य रोग घर करते जा रहे हैं। इन रोगों की संख्या पिछले 30 सालों में दुगनी हो गयी है। भारत के अस्पतालों में जो रोगी भर्ती किये जाते हैं, उनमें से 80% से अधिक रोगी प्रदूषण से पीड़ित होते हैं। इससे स्पष्ट है कि पर्यावरण समस्या काफ़ी भयावह है। समाधान की कोशिश बड़े पैमाने पर हो रही है, परन्तु गति धीमी है।

भारत में भूमि का लगातार क्षय होता जा रहा है। इस भूमि-क्षय के मुख्य कारण हैं—जंगलों की लगातार कटाई, अनियंत्रित चराई, जनसंख्या वृद्धि और बढ़ते हुए उद्योग-धन्धे। वैज्ञानिकों के अनुसार पूरे धरातल का 33% भाग वनाच्छादित होना चाहिए। लेकिन वर्तमान स्थिति में सिर्फ 16% भाग ही वनों से घिरा हुआ है। उपग्रह से किये गये सर्वेक्षण से पता चलता है कि प्रतिवर्ष लगभग 47,500 हेक्टेयर वन क्षेत्र कम होता जा रहा है। जंगलों की लगातार कटाई से जंगली जीव और वृक्षों के नीचे उगने वाली वनस्पतियाँ प्रभावित होती हैं तथा बाढ़, भूमि-क्षरण आदि जैसी स्थितियों का सामना करना पड़ता है। वनों के विनाश से बहुत बड़ा भाग मरुस्थल बनता जा रहा है साथ ही अनेक जीवों और वनस्पतियों की दुर्लभ जातियाँ लुप्त होती जा रही हैं। इनकी सुरक्षा पर्यावरण और मनुष्य दोनों के लिए लाभप्रद है। जन्तुओं की सुरक्षा के लिए कई जन्तु-अभयारण्य बनाये जा रहे हैं, जिससे इनकी प्रजातियाँ सुरक्षित रह सकें।

वनों की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए 1952 में 'राष्ट्रीय वन नीति' बनायी गयी थी। पुनः इसमें जनवरी 1989 मे संशोधन कर नये वन नीति के रूप में प्रस्तुत किया गया। इसके अनुसार वनों के संरक्षण पर विशेष बल दिया गया है और वनों की अन्धाधुंध

छात्र, बी० एस-सी० तृतीय वर्ष (जीव विज्ञान), सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद—211002

कटाई पर रोक लगाया गया है। मई 1989 में हुए राज्यों के वन-मन्त्रियों के सम्मेलन में वन (संरक्षण) अधिनियम 1980 में संशोधन पर विचार किया गया तथा 1989 में बनायी गयी नई राष्ट्रीय वन नीति में वनों की सुरक्षा पर ध्यान दिया गया।

'चिपको आन्दोलन' वनों की सुरक्षा की दिशा में उठाया गया एक प्रगतिशील क़दम है। इसका मुख्य उद्देश्य जंगलों के ठेकेदारों से वृक्षों की रक्षा करना अर्थात् वृक्षों को कटने से रोकना है। इस आन्दोलन की शुरूआत एक महिला, (विश्नोई) ने जोधपुर में की। इन्होंने हरे **एकेसिया** के वृक्षों को बचाने पर ज़्यादा बल दिया। इसी आन्दोलन को बाद में **सुन्दरलाल बहुगुणा** और **चण्डी प्रसाद भट्ट** ने आगे बढ़ाया। इसी प्रकार का एक आन्दोलन कर्नाटक में शुरू हुआ, जिसका नाम 'एपिको' था। यह चिपको आन्दोलन के समान ही था। यह आन्दोलन यूरोप में हुए 'ग्रीन मूवमेन्ट' के तरह ही महत्व रखता है। 'केरल साहित्य शास्त्र परिषद्' का भी वनों की सुरक्षा में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। सुन्दर लाल बहुगुणा को 1985 में **'पद्म श्री'** तथा केरल साहित्य शास्त्र परिषद् को 1989 में 'इंदिरा गाँधी पर्यावरण पुरस्कार' विशिष्ट कार्य हेतु प्रदान किया गया है। चण्डी प्रसाद भट्ट को उनकी विशिष्ट सेवाओं के लिए 'मेगसेस पुरस्कार' से सम्मानित किया जा चुका है।

वनों की कटाई के साथ-साथ कोयला, चूने, पत्थर तथा दूसरे खनिज पदार्थों की अनियंत्रित खुदाई से बड़े बड़े भू-भाग बेकार होते जा रहे हैं। भारत में देहरादून के पास ज़मीन का बहुत बड़ा भाग चूने-पत्थर की लगातार खुदाई के कारण क्षरित होता जा रहा है। साथ ही ज़मीन अनउपजाऊ होती जा रही है। 'सामाजिक वानिकी' के माध्यम से भी हम कुछ हद तक इन्हें बचा सकते हैं। वृक्षों में **यूकेलिप्टस** (सफ़ेदा) का वृक्ष अधिक से अधिक लगाना चाहिए क्योंकि यह पर्यावरण की सुरक्षा के साथ-साथ व्यापारिक महत्व का भी है। यूकेलिप्टस वहाँ लगाना चाहिए जहाँ पानी की समस्या न हो, क्योंकि यह वृक्ष अधिक जल का शोषण करता है। अतएव वृक्षों से जल का स्रोत नज़दीक हो तथा जानवरों की चराई से इसकी रक्षा हो सके। वृक्ष मिट्टी के कटाव, बाढ़ से सुरक्षा के साथ-साथ यह वायुमण्डल में बढ़ रहे कार्बन डाइऑक्साइड को ऑक्सीजन में भी बदलते हैं। **पं० जवाहरलाल नेहरू** ने कहा था, **"उगता हुआ वृक्ष प्रगतिशील राष्ट्र का प्रतीक है।"**

भारत के महानगर ध्वनि प्रदूषण से परे नहीं हैं। अखिल 'भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान' द्वारा किये गये सर्वेक्षण से पता चला है कि दिल्ली, बम्बई और कलकत्ता में शोर का स्तर 95 डेसीबल है। शोर की अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृत सीमा 45 डेसीबल है। 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' ने 45 डेसीबल तक की ध्वनि को कर्ण-प्रिय एवं मानवीय स्वास्थ्य के लिए सर्वाधिक सुरक्षित बताया है। लेकिन 65 डेसीबल से अधिक तेज़ ध्वनि को ध्वनि प्रदूषण माना जाता है। ध्वनि प्रदूषण के भी हमें गम्भीर परिणाम देखने को मिलते हैं। जैसे अधिक तीव्र ध्वनि (85 डेसीबल के ऊपर) सुनने से सिर में दर्द, बहरापन, अन्तःस्रावी ग्रन्थियों की अनियमितता, चिड़चिड़ापन, अनिद्रा, उच्च रक्तचाप, स्मृति का कमज़ोर होना, दिल का दौरा, पागलपन, कानों में दर्द या झनझनाहट तथा गर्भवती महिलाओं पर

भी इसका बुरा असर पड़ता है। कलकत्ता के 'साहा इंस्टीट्यूट ऑव न्यूक्लियर फ़िज़िक्स' तथा 'कलकत्ता मेडिकल कॉलेज' द्वारा किये गये सर्वेक्षणों के अनुसार कलकत्ता महानगर के प्रति एक हज़ार नागरिकों में से 8 नागरिकों को यातायात द्वारा उत्पन्न शोर के कारण बहरेपन की शिकायत है। इसी प्रकार 'पोस्ट ग्रेजुएट स्कूल ऑव मेडिकल साइन्सेज़' के डॉ० कामेश्वर द्वारा किये गये सर्वेक्षण यह प्रदर्शित करते हैं कि मद्रास, कोयम्बटूर, मदुराई तथा त्रिवेन्द्रम नगरों में 25 प्रतिशत औद्योगिक श्रमिक शोरजन्य मशीनों के कारण बहरेपन से पीड़ित हैं। भारत में अभी तक शोर पर नियंत्रण पाने के लिए कोई कानून नहीं बनाया गया है। फिर भी हम कुछ महत्वपूर्ण उपायों से ध्वनि प्रदूषण को कम कर सकते हैं जैसे—कल कारखानों को सामान्य बस्तियों से दूर स्थापित करना, अधिक शोर वाले कमरों में ध्वनि अवशोषक पदार्थों का लेप लगाना, अधिक अधिक से अधिक पेड़-पौधे ध्वनिग्रस्त क्षेत्र में लगाना, तीव्र ध्वनि वाले हार्न पर प्रतिबन्ध लगाना, अधिक ध्वनि वाले मशीनों के साथ काम करने वाले श्रमिकों को 'एयर प्लग' या कर्णबन्दकों का प्रयोग करना आदि।

जल हमारे लिए अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। शायद इसके बिना जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। वैदिक ऋषियों के जल को अमृत भी कहा है। लेकिन जल की इतनी बड़ी धरोहर हमारे पास होने के बाद भी यह पीने के अयोग्य बनता जा रहा है। विश्व धरातल के सम्पूर्ण क्षेत्रफल पर 70 प्रतिशत जल मिलता है। बढ़ते हुए औद्योगिक एवं निर्वनीकरण के विकास के कारण जल प्रदूषण की समस्या गम्भीर होती जा रही है। कारखानों के गन्दे और हानिकारक अवशिष्ट पदार्थों के नदियों में विसर्जन से जल में ऑक्सीजन की कमी तथा सल्फेट, नाइट्रेट और क्लोराइड आदि लवणों की मात्रा बढ़ती जा रही है। वैज्ञानिकों के अनुसार प्रदूषित जल पीने से हैज़ा, मियादी बुखार, अतिसार, पेचिश, अमीबिक डिसेण्ट्री, पीलिया, गैस्ट्रोएन्ट्राइटिस, पोलियो आदि भयंकर रोग हो जाते हैं। इसके अलावा प्रदूषित जल में रहने वाले जन्तुओं एवं वनस्पतियों के जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। पंजाब में नाइट्रोजनिक रसायन उर्वरकों के अत्यधिक प्रयोग से भूमिगत जल में प्रदूषण आ गया है। 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' के मानकों के अनुसार 10 पी पी एम नाइट्रोजन युक्त पानी शिशुओं के लिए अनुपयुक्त होता है, और श्वासावरोधन जैसी स्थिति पैदा करता है। 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' के अनुसार रासायनिक उर्वरकों के बेतहाशा प्रयोग से भूमिगत जल का अम्लीकरण होगा, अम्लीकरण से पेयजल में एल्यूमीनियम, सीसा, जस्ता, कैडमियम जैसे धात्विक तत्वों की वृद्धि होगी, जो उस जल के उपभोग के दौरान व्यक्ति के शरीर में पहुँच कर इकट्ठे होते जाएँगे और अंततः डायरिया जैसी स्थिति पैदा कर सकते हैं। 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' के अनुसार तीसरी दुनिया (जिसमें भारत भी शामिल है) में हर साल लगभग 50 लाख बच्चे डायरियाजन्य रोगों से मरते हैं। इसका कारण होता है प्रदूषित पानी। 'संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम' (यूनेप्प) का कहना है कि "दुनिया में हर साल पाँच वर्ष से कम उम्र के करीब 1·4 करोड़ बच्चे आम बीमारियों और कुपोषण के कारण मर जाते हैं। इनमें से कई बीमारियाँ और मौतें सीधे पर्यावरण से और बाकी पर्यावरण और ग़रीबी से जुड़ी हुई हैं।"

भारत में गंगा, यमुना, गोमती आदि जैसी नदियाँ आज प्रदूषण की चपेट में आ चुकी हैं। गंगा हमारी प्रमुख नदियों में से एक है। इसके प्रति हमारी धार्मिक मान्यताएँ शुरू से ही जुड़ी रही हैं। गंगा वैसे भी भारतीय जनमानस एवं साहित्य में छाई हुई है। लेकिन आज यह मानवीय अत्याचार अर्थात् प्रदूषण के कारण दिन प्रतिदिन 'मृत्यु' की ओर बढ़ती जा रही है। 'केन्द्रीय जल प्रदूषण निवारण एवं नियन्त्रण बोर्ड' के अध्ययन के आधार पर गंगा में तीन चौथाई प्रदूषण शहरों तथा गाँवों के घरेलू अवशिष्ट पदार्थों के विसर्जन से तथा शेष एक चौथाई प्रदूषण कल-कारखानो के कचरे से होता है। ऐसे 264 कल-कारखानों में से 68 को औद्योगिक प्रदूषण के लिए विशेष दोषी ठहराया गया है। इनमें से कुछ ही के पास कचरे को शोधित करने के संयंत्र मौजूद हैं। वैज्ञानिक सर्वेक्षण के अनुसार वाराणसी में गंगाजल में बी ओ डी (Biological Oxygen Demand) 4 से 5 मिलीग्राम प्रतिलीटर बढ़ चुका है। इसकी सीमा 3 मिलीग्राम प्रतिलीटर है। यह पानी इस्तेमाल के योग्य नहीं रह गया है अतः इस पर रोक लगाना अनिवार्य है। वाराणसी में गंगा का सर्वाधिक प्रदूषित जल राजघाट पुल के पार है जहाँ बी ओ डी 15 से 20 मिलीग्राम प्रतिलीटर है। इस पानी के सेवन से अनेक बीमारियाँ पैदा होंगी। शहरों के नाले, मल-जल, शवों का प्रवाह, शवों के जलाने के बाद बचे अवशेष, कल-कारखानों के कचरे आदि का विसर्जन गंगा के पानी को प्रदूषित कर रहे हैं। आज गंगा के पानी में **कोलीफार्म बैक्टीरिया** की 2 लाख प्रति 100 मिलीलीटर मात्रा आँकी गयी है। लेकिन सामान्यतौर पर इसे प्रति 100 मिलीलीटर 5 हज़ार से ज़्यादा नहीं होना चाहिए। वैज्ञानिकों के अनुसार बी ओ डी और **कोलीफॉर्म बैक्टीरिया** में वृद्धि से गंगाजल के उपयोग पर प्रतिबन्ध लगाना होगा, क्योंकि इस पानी को पीने से एमिबियोसिस, पेचिश, पीलिया तथा स्नान करने पर खसरा, खुजली और कुष्ट जैसे संक्रामक रोग हो सकते हैं।

वाराणसी में 14 जून 1986 को फ्रांस की सीन नदी का पानी गंगा में मिलाकर गंगा कार्य योजना (गंगा परियोजना) की शुरूआत की गई। गंगा कार्य योजना के अन्तर्गत सातवीं पंचवर्षीय योजना अवधि में प्रचार के लिए 24 करोड़ रुपए निर्धारित थे जो इस इस अवधि में इस योजना पर आए कुल व्यय का लगभग दस प्रतिशत है। गंगा नदी उत्तर प्रदेश, बिहार, और बंगाल से होकर बहती है। इसकी लम्बाई लगभग 2525 किलोमीटर है। इसके किनारे 692 छोटे-बड़े शहर बसे हैं। सरकारी आकलन के अनुसार गंगा का तीन चौथाई प्रदूषण इन शहरों की गंदगी की वजह से है। गंगा सफ़ाई अभियान के अन्तर्गत मात्र एक लाख से ऊपर आबादी वाले 27 नगरों को लिया गया है और शेष को छोड़ दिया गया है। इसके अलावा गंगा के किनारे बसे गाँवों की संख्या भी कम नहीं है। उनसे होने वाले प्रदूषण का तो अनुमान ही नहीं लगाया गया है। इसलिए इतना अधिक धन खर्च करने के बाद भी गंगा की पूरी सफ़ाई नहीं हो सकती। अतः नदियों में प्रदूषण न हो इसके लिए यह आवश्यक है कि घरेलू और उद्योगों का दूषित पानी, जिसमें नुकसानदायक पदार्थ तथा रोगजनक जीवाणु होते हैं, को नदी में उत्सर्जित करने से पहले परिशोधित कर लेना चाहिए। भारत में जल (प्रदूषण निवारण और नियन्त्रण) अधिनियम 1974 के अनुसार उद्योगों के हानिकारक उत्सर्जित पदार्थों का

विसर्जन नदियों, कुँओं तथा ज़मीन पर करने पर प्रतिबन्ध है। इसमें दोषी पाए गये उद्योगों को 6 माह से 6 साल तक का कारावास (कुछ राशि के साथ) हो सकता है।

नदियों के प्रदूषित होने से समुद्र भी प्रदूषित होते हैं क्योंकि सारी नदियाँ अंततः समुद्र में ही जा कर मिलती हैं। भारत के समुद्रतटीय क्षेत्रों के मुख्य प्रदूषक कच्चा तेल और इसके व्युत्पन्न, रेडियोधर्मी तत्व, बिजली घरों का कचरा आदि हैं। आए दिन तेल ढोने वाले टैंकरों से तेल के रिसने तथा टकराने से बहुत सा तेल बहुत बड़े क्षेत्र में फैल जाता है। इनका प्रभाव कुछ मछलियों और अन्य समुद्री जीवों के लिए अत्यधिक विषाक्त होता है। अधिकांशतः वायु से सीधा सम्पर्क टूट जाने से तथा ऑक्सीजन की कमी के कारण उस क्षेत्र के जीव और वनस्पतियाँ मर जाती हैं तथा मर कर उस क्षेत्र को भी प्रदूषित करती हैं। साधारणतः इसे रोकने के लिए भूमि के कटाव, नदियों का प्रदूषण तथा तेल के रिसाव को नियंत्रित करना आवश्यक है। 1976 में इसके सुरक्षा हेतु एक अधि-नियम बनाया गया जिसका उल्लंघन करने पर दंड देने का भी प्रावधान है।

भारत की हवा कार्बन डाइऑक्साइड, कार्बन मोनोऑक्साइड, सल्फर डाइऑक्साइड, नाइट्रोजन ऑक्साइड जैसी कुछ गैसों से काफ़ी हद तक प्रदूषित हो चुकी है। वायुप्रदूषण के कारण ही तेज़ाबी वर्षा, ग्रीन हाऊस प्रभाव, ओज़ोन परत का क्षय, स्टोन कैंसर आदि जैसे दुष्प्रभावों का जन्म हुआ है। भारत में दिल्ली देश के प्रदूषित नगरों में से एक है। दिल्ली यातायात पुलिस के आयुक्त **मैक्सिवल पपेरा** बताते हैं कि देश के कलकत्ता, मद्रास, बम्बई जैसे महानगरों के साथ ही दिल्ली में तेज़ी से प्रतिदिन वाहनों की संख्या बढ़ रही है। श्री पपेरा के अनुसार राजधानी में आज वाहनों की संख्या करीब 16 लाख है। पिछले साल के अंत में दिल्ली में 15 लाख 89 हज़ार 872 वाहन थे। इसमें दुपहिया वाहनों की संख्या सबसे ज़्यादा है। देश में इस समय इंडियन ऑयल, हिन्दुस्तान पेट्रोलियम, भारत पेट्रोलियम और बर्मा शेल पेट्रोल कम्पनियों पर पेट्रोल, डीज़ल तथा ऑयल के वितरण का भार है। इसमें से अकेले राजधानी में ये चारों पेट्रोलियम कम्पनियाँ 12 लाख 85 हज़ार 333.7 लीटर पेट्रोल, 25 हज़ार 766.6 लीटर ऑयल तथा 24 लाख 46 हज़ार 933.3 लीटर डीज़ल का वितरण प्रतिदिन करती हैं। दिल्ली की वर्तमान कुल आबादी 80 से 85 लाख है। लगभग 16 लाख वाहनों से कुल मिलाकर 37 लाख 58 हज़ार 44.2 लीटर पेट्रोल, डीज़ल और ऑयल का मिश्रण दिल्ली के हर तीसरे और चौथे व्यक्ति पर अपना प्रभाव डाल रहा है।

मोटर वाहनों द्वारा मुख्यतः कार्बन मोनोऑक्साइड, नाइट्रोजन ऑक्साइड, सल्फर ऑक्साइड एवं सीसा मिश्रित तत्व छोड़े जाते हैं। इनमें से कार्बन मोनोऑक्साइड सबसे घातक है। वैज्ञानिकों के एक अनुमान के अनुसार पिछले 100 वर्षों में लगभग 24 लाख टन ऑक्सीजन वायुमण्डल में समाप्त हो चुकी है और लगभग 36 लाख टन कार्बन डाइऑक्साइड की वृद्धि हुई है। राजधानी के सफ़दरजंग अस्पताल के वरिष्ठ **नेत्र विशेषज्ञ डॉ० के० पी० एस० मलिक** बताते हैं, "वाहनों में जलने वाले डीज़ल ऑयल, पेट्रोल से जो प्रदूषण हो रहा है, उसका सर्वाधिक प्रभाव आँखों और हृदय की धमनियों पर पड़ रहा है।

आँखों के रोग से सम्बन्धित बिमारियाँ ग्रीष्म ऋतु के समय और बढ़ जाती हैं।" कार्बन मोनोऑक्साइड गैस के प्रभाव की जानकारी देते हुए डॉ० मलिक कहते हैं कि यह गैस सीधे मनुष्य की आँखों के टियर फिल्म (अश्रुपरत) पर हमला करती है। इससे अश्रुपरत सूख जाती है तथा आँखों में जलन आरंभ होना प्रारंभ होता है। कार्बन डाइऑक्साइड वायु में तेज़ी से मिल कर व्यक्ति के शरीर के ऊतकों में 'ऑक्सीजन सप्लाई' (ऑक्सीजन आपूर्ति) अवरुद्ध कर देती है। 30 पी पी एम के संकेद्रण में सिर दर्द और चक्कर की शिकायत होने लगती है, लेकिन 100 पी पी एम से अधिक बढ़ जाए तो वह व्यक्ति के लिए जानलेवा हो जाती है।

'भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र' के 'वायु निगरानी प्रभाग' के अध्ययन के मुताबिक पहले ही बम्बई की 50 प्रतिशत आबादी में प्रति 100 सी सी रक्त में 20 एम जी सीसा मौजूद है। 1980 में इस औद्योगिक महानगर में सीसे का निस्सरण स्तर 250 टन वार्षिक था जो 1984 में बढ़ कर 300 टन हो गया और वर्तमान अनुमानों के अनुसार 1995 तक यह स्तर बढ़ कर 650 टन हो जाएगा। विकास तथा प्रगति का प्रतीक समझे जाने वाले उद्योग किस तरह देखते ही देखते निरपराध लोगों के लिए मौत का कारण बन जाते हैं, इसका पहला उदाहरण 2-3 दिसम्बर, 1984 में हम अपने देश में 'भोपाल गैस त्रासदी' के रूप में देख चुके हैं। भोपाल स्थित यूनियन कार्बाइड संयंत्र, जो कीटनाशक दवाओं का निर्माण करती थी, से मिथाइल आइसोसाइनेट (**Methyl Isocynate**) गैस के रिसाव होने से लगभग 2300 लोगों की जानें गईं और लगभग 200,000 लोग इससे प्रभावित हुए, तथा 10,000 लोग स्थाई रूप से कार्य करने योग्य नहीं रह गये। इसी से मिलती-जुलती एक दुर्घटना 26 अप्रैल 1986 को चेरनोबिल, सोवियत संघ में हुई। इन दुर्घटनाओं को इतिहास की सबसे बुरी औद्योगिक दुर्घटनाओं के रूप में याद किया जायेगा। भोपाल गैस त्रासदी के बाद देश में रासायनिक गैसों के रिसाव की अनेक दुर्घटनाएँ हुईं, जिनमें भोपाल कांड के ठीक एक साल बाद दिल्ली में डी० सी० एस० संयंत्र में गैस रिसाव एक बड़ी दुर्घटना थी। उसी वर्ष यानी 1985 में देश में गैस रिसाव की 79 दुर्घटनाएँ दर्ज की गईं, जिनमें 18 व्यक्तियों की जानें गईं और 418 व्यक्ति घायल हुए। जुलाई 1986 में पुणे से 20 किलोमीटर दूर ओसारी नामक स्थान पर एक रसायन कारखाने से सल्फ्यूरिक एसिड के रिसाव के कारण पास के बालाजीनगर के निवासियों की आँखों में जलन और साँस लेने में कठिनाई की शिकायतें हुई थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि 58 बच्चों सहित 74 व्यक्तियों को अस्पताल में भर्ती करवाना पड़ा था। इस प्रकार की बड़ी दुर्घटनाओं की सूचना हम तक पहुँच जाती है, परन्तु 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' के अनुसार ऐसी अनगिनत घटनाएँ हैं जिनकी जानकारी हमें नहीं हो पाती।

पेट्रोल एवं डीज़ल के वाहनों से निकलने वाले धुंए से वायु प्रदूषण रोकने के लिए सरकार द्वारा धुंए का मानक निर्धारित किया गया है। केन्द्र सरकार द्वारा मोटर वेहिकल्स एक्ट (मोटर वाहन नियम) 1989 के अनुसार चार पहिए वाली पेट्रोल चालित वाहनों में आयडिलिंग के समय कार्बन मोनोऑक्साइड आयतन के आधार पर 3% से अधिक नहीं

होनी चाहिए। दो और तीन पहिए वाले वाहनों में आयडिलिंग के समय कार्बन मोनोऑक्साइड आयतन के आधार पर साढ़े चार प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए। डीज़ल चलित वाहनों में 'फ्री एक्सिलेशन' के अनुसार 'टेस्ट' करने पर धुँए का घनत्व 65 हार्टेज यूनिट से अधिक नहीं होना चाहिए। इंजन 60 से 70 अधिकतम गति के बीच 75 हार्टेज यूनिट से अधिक नहीं होना चाहिए। सम्भागीय परिवहन अधिकारी के अनुसार यदि कोई व्यक्ति सार्वजनिक स्थान पर ऐसे वाहन चलाता है जो निर्धारित मानकों के अनुसार नहीं है तो पहली बार एक हज़ार रुपया और इसके बाद उल्लंघन किये जाने पर दो हज़ार रुपये जुर्माना होगा। वायु प्रदूषण नियंत्रण हेतु 1981 में वायु (प्रदूषण निवारण और नियंत्रण) अधिनियम बनाया गया और इसमें 1987 में कुछ महत्वपूर्ण संशोधन किया गया। इस नये संशोधित कानून के अंतर्गत वायु प्रदूषण के लिए दंड को बढ़ाकर 7 वर्ष तक के कारावास में बदल दिया गया है। कारखानों और उद्योगों के द्वारा नये कानूनों का उल्लंघन करने पर दंड के रूप में 5000 रु० तक की राशि प्रतिदिन के हिसाब से दोषी उद्योगों से वसूल की जा सकती है। जब तक 'प्रदूषणमुक्त यंत्र' का आविष्कार नहीं हो जाता तब तक प्रदूषण को कम करने का काम वाहन चालक स्वयं कर सकते हैं। इस दिशा में सरकार द्वारा स्वेच्छा से सप्ताह में एक दिन वाहन न चलाने के आह्वान को अपनाना हमारे लिए लाभदायक हो सकता है।

धूम्रपान भी वायु प्रदूषण का एक कारक है। यह हमारे पर्यावरण को नुकसान पहुँचाने के साथ-साथ हमारे स्वास्थ्य को भी हानि पहुँचाता है। 'वाशिंगटन पोस्ट' (अमेरिका) में छपे एक रिपोर्ट के अनुसार जो व्यक्ति कभी धूम्रपान नहीं करते वे धूम्रपान करने वाले व्यक्तियों की अपेक्षा औसतन 2-12 वर्ष अधिक जीते हैं।

हमारा पर्यावरण ग़रीबी से भी सीधे जुड़ा हुआ है। यूनाइटेड नेशन (UN) में 1972 में 'मानव और पर्यावरण' पर हुए सम्मेलन में यह कहा गया कि ग़रीबी एक बहुत बड़ा प्रदूषक है। भारत में भी ग़रीबी पर्यावरण को प्रदूषित करने में अहम भूमिका अदा कर रही है। भारत में ग़रीबी रेखा से नीचे रहने वालों की संख्या बहुत अधिक है। ग़रीबी वाले क्षेत्रों की गन्दगियाँ प्रदूषण का मुख्य कारण हैं। भूतपूर्व प्रधानमंत्री **श्री राजीव गांधी** ने भी 12 वें दक्षिण एशियाई देशों के सम्मेलन में पर्यावरण और प्रगति के सम्बन्ध में कहा, "ग़रीबी पर्यावरण को प्रदूषित करने वाले प्रमुख कारकों में से है। राष्ट्र की प्रगति की दर पर्यावरण की सुरक्षा पर निर्भर करती है। यह बहुत ज़रूरी है कि प्रगति और पर्यावरण के बीच समानता स्थापित की जाय।" प्रगति पर्यावरण के नुकसान पर नहीं होनी चाहिए।

कलकत्ता महानगर विकास प्राधिकरण द्वारा एक बस्ती में किए गये सर्वेक्षण से पता चलता है कि बस्ती में 76·4% लोग श्वांस रोग (दमा आदि) से, 65.5% पेट की आँतों की बीमारियों से, 62.4% मुँह, दाँत, तथा मसूड़ों की बीमारियों से, 17% तपेदिक से, 15·6% हृदय रोग से, 16% चर्मरोगों से तथा 14% आँख, नाक व गले के रोगों के शिकार थे। इससे यह भी पता चलता है कि एक व्यक्ति एक से अधिक रोगों से ग्रस्त था।

ऐसी ही स्थिति दिल्ली, बम्बई, मद्रास, बेंगलौर, कानपुर, हैदराबाद जैसे शहरों की गंदी बस्तियों के निवासियों की है। वास्तव में आज 'स्लम' और बीमारी इस कदर एक दूसरे के पर्याय बन चुके हैं कि कुछ साल पहले 'भारतीय आयुर्विज्ञान परिषद्' के तत्कालीन महानिदेशक, **प्रो० रामलिंगास्वामी** को यह टिप्पणी करनी पड़ी थी कि "शहरी क्षेत्रों में स्लम या गंदी बस्तियों के फैलाव से रोगों का फैलाव हुआ है और होता रहेगा।" हमें 'कानून और कार्यवाही' की संयुक्त कारवाई के साथ इस दिशा में ठोस क़दम उठाना चाहिए।

पर्यावरण संतुलन बनाये रखना हम सब का दायित्व है। भारत सरकार द्वारा इस दिशा में उठाये गए कुछ महत्वपूर्ण क़दमों से पर्यावरण सुरक्षा कार्यक्रम धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा है। प्रसन्नता की बात है कि हम कुछेक नई तकनीकें विकसित करने में सफल हुए हैं, जो प्रदूषण से लड़ने में सक्षम हैं। इस सम्बन्ध में यहाँ मात्र एक-दो उदाहरण देना चाहूँगा। पहला—आनुवंशिक इंजीनियरी के क्षेत्र में **डॉ० आनन्द एम० चक्रवर्ती** ने कुछ ऐसे विचित्र सूक्ष्मजीवों को खोज निकाला है जो प्रदूषण से लड़ने में सक्षम हैं। सूक्ष्मजीव हाइड्रोकार्बन को पचा कर उसे प्रोटीनयुक्त खाद्य पदार्थ में बदल देते हैं। यह भोजन समुद्री जीवों द्वारा खाया जाता है। और दूसरा उदाहरण है केरल विश्वविद्यालय के **डॉ० पी० ज्वाय** द्वारा एक ऐसे जलीय कीट की खोज, जो **साल्वीनिया मोलेस्टा** नामक एक जलीय पादप का इस कदर तेज़ी से भक्षण करता है कि पानी के इस पौधे की समस्या से छुटकारा मिल जाता है। इसके अलावा हम अगर स्वच्छ पर्यावरण का निर्माण करना चाहते हैं तो कुछ बातों पर ध्यान देना बहुत ज़रूरी है—जैसे अधिक से अधिक वृक्ष लगाना, वनों के विनाश को रोकना, वन्य प्राणियों की सुरक्षा, पानी के स्रोतों को स्वच्छ रखना, गाँवों में रोज़गार के नये अवसर उपलब्ध करा कर शहरों की जनसंख्या में वृद्धि को रोकना, जनसंख्या पर नियन्त्रण, तीव्र ध्वनि बजाने पर रोक, वायु प्रदूषण पर नियंत्रण, कीटनाशक दवाओं का संतुलित उपयोग, विकास योजनाओं में पर्यावरणीय पहलुओं का समावेश, रासायनिक कचरों का पुनः प्रयोग, औद्योगिक अपशिष्ट पदार्थों का शुद्धिकरण के बाद विसर्जन, आस-पास के क्षेत्र को साफ़ रखना इत्यादि।

भारत में प्रदूषण से संबन्धित लगभग तीन दर्जन कानून राज्य और केन्द्र सरकार द्वारा लागू किये गये हैं। इनमें प्रमुख है : कारखाना संशोधन अधिनियम 1948 (1976 में संशोधित), कीटनाशी अधिनियम 1968, वन्य जीव संरक्षण कानून 1972, वन्य प्राणी संवर्धन कानून 1974, जल प्रदूषण नियंत्रण कानून 1974, जल प्रदूषण अधिनियम 1975, जल प्रदूषण कर कानून 1977, वायु प्रदूषण (निवारण और नियंत्रण) अधिनियम 1981 (1987 में संशोधित), वन नीति 1952 (1989 में संशोधित), खाद्य अपमिश्रण कानून 1954, पर्यावरण (संरक्षण) अधिनियम 1986 आदि। लेकिन मात्र कानून ही हमारी पर्यावरणीय समस्याओं का समाधान नहीं हैं। इसके लिए लोगों की जागरूकता और उनकी साझेदारी आवश्यक है। साथ ही कुछ नये कानून बनाये जाएँ तथा उन्हीं कारखानों को स्वीकृति दी जाए जो पर्यावरण की दृष्टि से नुकसानदायक न हों। ये

स्वीकृतियाँ राज्य और केन्द्र सरकार दोनों के द्वारा पर्यावरण सुरक्षा को ध्यान में रख कर देनी चाहिए। किसी फैक्ट्री के उत्पादन से पहले यह आवशयक है कि उसे अपने उत्सर्जित हानिकारक पदार्थों को विसर्जित करने के लिए प्रदूषण नियंत्रण विभाग से इसकी स्वीकृति मिली हो। अनेक भारतीय न्यायालयों ने दोषी उद्योगों के विरुद्ध अपने निर्णय दिये हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर 5 जून को प्रतिवर्ष 'विश्व पर्याविरण दिवस' मनाया जाता है। पूर्व प्रधान मन्त्री **राजीव गांधी** ने पर्यावरण की रक्षा हेतु 'धरती रक्षा कोष' बनाने का सुझाव दिया, जिसका ब्रिटेन को छोड़कर सभी देशों ने स्वागत किया। इस वर्ष 5 जून के अवसर पर भारत में पर्यावरण के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान के लिए 'संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम' (यू० एन० ई० पी०) का इस साल का "ग्लोबल 500" नामक पुरस्कार दो वैज्ञानिकों तथा दो गैरसरकारी संस्थानों को दिया गया। पर्यावरणविद् **रश्मि मयूर** द्वारा एक भारतीय पर्यावरण डायरेक्टरी तैयार की जा रही है, जिसमें वायु, जल, अवशिष्टों, शोरगुल और विकिरण के क्षेत्र में प्रदूषण नियंत्रण की विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संबंधी ताज़ी सूचनाएँ संकलित हैं।

अतः पर्यावरणीय समस्याओं से हमें निराश नहीं होना चाहिए। मनुष्य ने यदि पर्यावरण के संतुलन को बिगाड़ा है तो अब यह भी सिद्ध कर दिया है कि पर्यावरण को लेकर आज का मानव चिंतित है और प्रदूषणमुक्त तकनीकों को विकसित करने की मानव में क्षमता भी विद्यमान है। आवश्यकता है इस क्षमता को सही दिशा देने की।

□□

पर्यावरण और प्रशासन

□ अनिल कुमार शुक्ल

किसी भी देश की जनता और सरकार के बीच की कड़ी के रूप में प्रशासन की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सम्पर्क सेतु के रूप में अपनी इसी भूमिका का निर्वाह करते हुए प्रशासन एक तरफ सरकारी नीतियों एवं कार्यक्रमों को जनता के बीच लाता है और दूसरी तरफ उनके क्रियान्वयन के दौरान महसूस की जाने वाली कठिनाइयों एवं कमियों की तरफ़ सरकार का ध्यान आकृष्ट करके उनके समाधान में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। **वस्तुतः व्यवहारिक जीवन में प्रशासनिक तन्त्र ही नीतिनियामक भी है और क्रियान्वयनकर्ता भी।** इसीलिए सम्पूर्ण जीव जगत् विशेषकर मानव जीवन के लिए हर पहलू से अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय **पर्यावरण** के सम्बन्ध में प्रशासन की भूमिका का आकलन आवश्यक हो जाता है।

परन्तु विचार-विमर्श की ग़हराई में जाने से पूर्व हमें यह बात आत्मसात् कर लेनी चाहिए कि 'पर्यावरण' शब्द की ही तरह 'प्रशासन' भी अत्यन्त व्यापक शब्द है। गाँव के स्तर पर 'ग्राम सेवक' या 'लेखपाल' जैसे व्यक्ति से लेकर राष्ट्रीय स्तर पर 'मन्त्रिमण्डलीय सचिव' (Cabinet Secretary) या प्रधानमन्त्री के 'सलाहकार' तक सम्पूर्ण प्रशासन तन्त्र अनेक स्तरों में बँटा हुआ है। किसी भी नीति/कार्यक्रम के निर्धारण और कार्यान्वयन में प्रशासन तन्त्र का प्रत्येक अंग प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अपनी भूमिका अवश्य निभाता है। इस तन्त्र से जुड़े हर अधिकारी/व्यक्ति के अपने-अपने सुपरिभाषित अधिकार क्षेत्र हैं तो सीमाएँ भी हैं। इन्हीं अधिकारों एवं सीमाओं के बीच रहते हुए पर्यावरण के संरक्षण एवं प्रदूषण के निवारण में इनका सहयोग पाने की सम्भावनाएँ हमें खोजनी हैं। इसी सिलसिले में प्रशासन के संस्थागत ढांचे (Structural System) में सुधार की आवश्यकताओं का पता लगाना है, वर्तमान कानून और व्यवस्थाओं को प्रभावी ढँग से लागू करने के उपाय खोजने हैं और नये नीतिगत एवं विधायी (legal) प्रयासों के लिए प्रशासनिक तन्त्र को पर्यावरणीय समस्याओं के प्रति संवेदनशील बनाने की तरफ़ ध्यान केन्द्रित करना है।

स्पष्टत: विषय इतना व्यापक है कि इस छोटे से आलेख की सीमा में बाँधकर इसके साथ न्याय नहीं किया जा सकता। अत: यहाँ पर विषय के कुछ स्पष्ट और महत्व-पूर्ण आयामों के परिप्रेक्ष्य में ही विचार दिये जा रहे हैं और उम्मीद की जाती है कि इन मुद्दों से जुड़े सभी संवेदनशील विचारक और अध्येता अपने मौलिक और विविधता-पूर्ण विचारों से विषय की गहराई तक पहुँचने का प्रयास करेंगे और नये पहलू उजागर करेंगे।

क्वाटर नं० 186, टाइप II, केन्द्रीय कर्मचारी आवास कॉलोनी, नौबस्ता थाने के पास, गुलमोहर विहार, कानपुर, उत्तर प्रदेश

विषय प्रवेश के रूप में पर्यावरण एवं आधुनिक युग में तत्संबंधी चेतना के ऐतिहासिक क्रमविकास पर दृष्टिपात कर लेना अत्यंत उपयोगी रहेगा।

हाल के वर्षों में 'पर्यावरणवाद' (Environmentalism) आधुनिक सामाजिक सिद्धान्तों के एक महत्वपूर्ण विषय के रूप में विकसित हुआ है। इसकी **शुरुआत** 19वीं सदी के यूरोप और अमेरिका में औद्योगिक दुष्प्रभावों के प्रति उभरे आक्रोश से मानी जा सकती है। **विलियम मोरिस एवं रॉबर्ट ओवन** जैसे प्रारंभिक अराजकतावादी एवं समाजवादी विचारकों की विचारधाराओं में 'पर्यावरणवाद' के बीज ढूँढे जा सकते हैं। इसके **दूसरे चरण** यानी बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में मुख्य ज़ोर शहरी क्षेत्रों में शुद्ध हवा, अप्रदूषित जलापूर्ति तथा न्यूनतम स्वास्थ्य सुविधाओं में निरंतर कमी/गिरावट की ओर स्पष्टतः परिलक्षित होता है। इस चरण में मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित बुद्धिजीवियों ने इसके लिए पूँजीवादी औपनिवेशिक (Capitalist & colonial) नीतियों को ज़िम्मेदार माना। आधुनिक पर्यावरणवाद का **तीसरा चरण** द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् परमाणु अस्त्रों के विरोध के साथ शुरू हुआ। यह चरण इस मायने में विशेष उल्लेखनीय है कि इसी दौरान 'पर्यावरण' का प्रश्न विचारधारा के सिंहासन से उतरकर आम जनता को प्रभावित करने वाली समस्या के रूप में उभरा। इसी चरण में विभिन्न देशों की जनता ने संबंधित समस्याओं एवं दुष्प्रभावों के खिलाफ़ संगठित होकर संघर्ष करना शुरू किया। कालांतर में स्थानीय समस्याओं को लेकर शुरू होने वाले इन संघर्षों के फलस्वरूप ही पर्यावरण के विविध पहलू स्पष्ट हुए और इस समस्या ने क्षेत्रीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय आयाम ग्रहण किए।

यह संक्षिप्त विवरण तो आधुनिक काल में और विशेषकर पाश्चात्य जगत् में पर्यावरणीय चेतना के ऐतिहासिक क्रमविकास का है। वर्तमान में इस चेतना (जिसे हम 'पर्यावरणवाद' कह रहे हैं) के दो स्पष्ट वर्गभेद भी परिलक्षित होते हैं, जिन्हें हम क्रमशः 'प्रकृतिवादी' और 'आशावादी' कहेंगे। **प्रकृतिवादी विचारक** यह मानते हैं कि हमारी पर्यावरणीय समस्याओं का समाधान तभी संभव है जब हम प्रकृति/पर्यावरण तंत्र की शर्तों एवं सीमाओं के भीतर रहना सीखें यानी कि हमारी कोई विकास-गतिविधि, प्रकृति की स्वाभाविक व्यवस्था में दखलंदाज़ी न करें। स्पष्टतः वर्तमान परिस्थितियों में जबकि मानव ने अपने ऐशो-आराम के अनेक 'अप्राकृतिक' तरीक़े ईजाद कर लिए हैं, ऐसा कर पाना संभव नहीं जान पड़ता। तब, पर्यावरण का भविष्य निराशाजनक है? पर्यावरणवादियों का दूसरा वर्ग ऐसा नहीं मानता। उनके अनुसार आधुनिक वैज्ञानिक, आर्थिक और प्रबंधकीय तकनीकों की सहायता से हम पर्यावरणीय विध्वंस का पूर्ण समाधान भले ही न कर पाएँ, उसमें काफ़ी कुछ सुधार अवश्य ला सकते हैं। इन विचारकों की इसी आशा-वादिता के कारण उन्हें 'आशावादी' कहकर संबोधित किया जाता है।

वर्तमान विश्व में पर्यावरण से जुड़े मुद्दों की चर्चा ने ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं में अनेक चुनौती पूर्ण प्रश्न खड़े किए हैं। उदाहरण के लिए 'सभ्यता' और 'विकास' की प्रचलित परिभाषाएँ, अवधारणाएँ अब विवादास्पद हो गई हैं। पर्यावरण के विध्वंस में

मानवजाति की भूमिका ने उसे संसार के सर्वाधिक 'बुद्धिमान' और 'सभ्य' प्राणी होने को, मानों झुठला दिया है। प्रगति और विकास की अंधी दौड़ हमें पर्यावरणीय असंतुलन रूपी मौत के गहरे कुँए की तरफ जितनी तेज़ी से ढकेल रही है, उतनी ही तेज़ी से मानवजाति ने आत्मनिरीक्षण भी शुरू किया है। **क्या सचमुच हम 'प्रगति' कर रहे हैं ? क्या हम 'विकसित हुए हैं ?** इन्हीं प्रश्नों के चलते इस सदी के आठवें दशक में, विशेषतया भारत में पर्यावरणीय मुद्दों ने व्यापक आयाम ग्रहण किए हैं। यहाँ भी जीवन के आधार के रूप में मिट्टी, पानी और बयार (हवा) को स्वीकारते हुए 'सामाजिक न्याय' के व्यापक प्रश्न के अन्तर्गत प्राकृतिक संसाधनों के असमान वितरण और बहुसंख्यक साधनविहीन आबादी के लिए उन संसाधनों तक आसान पहुँच जैसे मुद्दे विशेष महत्व ग्रहण कर रहे हैं। पर इस क्रम में मिट्टी, पानी, हवा और ध्वनि के प्रदूषण तथा निर्वनीकरण, अम्लवर्षा, हरित गृह प्रभाव, ओज़ोन छतरी में छेद या विलुप्तप्राय पादप एवं प्राणि प्रजातियों के संरक्षण जैसे मूलभूत मुद्दे पीछे नहीं छूटे हैं। वस्तुत हुआ यह है कि इन मूलभूत मुद्दों को सामाजिक न्याय के व्यापक आधार में शामिल करके यह दिखाने की कोशिश की जा रही है कि किस प्रकार 'कुछ विकसित' लोग प्रदूषण फैलाते हैं और फिर उसका दोष 'बहुसंख्यक अविकसित' लोगों पर थोप देते हैं।

यहीं वह बिन्दु है जहाँ पर्यावरण के क्षेत्र में 'प्रशासन' की भूमिका शुरू होती है। भारत जैसे एक लोकतांत्रिक देश में, जिसमें 'बहुमत' से सरकार चुनी जाती है और जिस देश के लोग एक **समाजवादी लोकतांत्रिक गणराज्य** बनाने, अपने समस्त नागरिकों को **सामाजिक, राजनीतिक, और आर्थिक न्याय** दिलाने तथा उन्हें **प्रतिष्ठा और अवसर की समता** प्राप्त कराने के लिए अपना संविधान अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं, उस देश में प्रशासन की भूमिका भी हमेशा लोकोन्मुखी होती है। स्पष्टतः पर्यावरण के प्रश्न पर भी प्रशासन का यह दायित्व बनता है कि वे उन 'अल्पसंख्यक सुविधाभोगियों' से देश के वर्तमान कानूनों के अनुसार कड़ाई से पेश आएँ जो अपना लाभ बढ़ाने के चक्कर में पर्यावरणीय असंतुलन पैदा कर रहे हैं। प्रशासन की ही ज़िम्मेदारी यह भी है कि वह सरकार और कानूनविदों के सम्मुख उन कानूनी बाधाओं को रखे, जिनके चलते कुछ अमीर लोग शुद्ध वायु और जल जैसी अनिवार्य वस्तुओं पर अपनी संपत्ति के चलते एकाधिकार सा हासिल कर लेते हैं और अन्य लोग प्रदूषित जल पीने और प्रदूषित हवा में साँस लेने को बाध्य हो जाते हैं।

परंतु क्या भारतीय प्रशासन पर्यावरण के प्रति अपने इन चुनौतीपूर्ण दायित्वों के प्रति सजग है ? सामान्यतः इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक ही है, लेकिन कुछ स्थानीय आंदोलनों के दबाव में प्रशासन को सकारात्मक रुख़ अपनाने पर बाध्य होना पड़ा है। नर्मदा घाटी परियोजना एवं परमाणु बिजलीघरों की उपादेयता संबंधी विवादों एवं जनांदोलनों के परिणाम स्वरूप सरकार और प्रशासन को यह 'बोध' होने लगा है कि अब बड़ी-बड़ी परियोजनाओं की स्वीकृति 'सरकारी गोपनीयता' के अंधेरे में संभव नहीं। उन्हें महसूस हो गया है कि पर्यावरणविदों के नेतृत्व में आम जनता विभिन्न परियोजनाओं को दीर्घकालीन

हित की तराजू पर तौलने लगी है। यह स्थिति भारत में पर्यावरण आंदोलन की उल्लेखनीय उपलब्धि है। वस्तुतः यदि प्रशासन अपनी इस भूमिका को पहचान ले तो खुलेपन की नीति एवं रचनात्मक प्रयासों के द्वारा स्थानीय समुदाय के विभिन्न वर्गों का सक्रिय सहयोग प्राप्त कर पर्यावरण संरक्षण या विकास की दिशा में काफी कुछ हासिल किया जा सकता है।

लेकिन इस प्रकार जो कुछ भी हम हासिल करेंगे, क्या वह 'पर्याप्त' होगा? **इस दिशा में सफलता का या लक्ष्यप्राप्ति का क्या कोई मापदंड है**? ये मापदंड या लक्ष्यबिंदु कौन निर्धारित करेगा? इन लक्ष्यबिन्दुओं की प्राप्ति की प्रक्रिया पर निगरानी रखने के लिए कौन सी व्यवस्था उचित होगी? पर्यावरण के संरक्षण, सुधार एवं विकास हेतु की जाने वाली किसी भी प्रशासनिक व्यवस्था सुधार के मूल्यांकन हेतु इन प्रश्नों के उत्तर ज़रूरी हैं।

सर्वप्रथम हमें अपने **लक्ष्यबिन्दुओं की पहचान** करनी होगी। निश्चय ही इस पहचान और निर्धारण में पर्यावरण संरक्षण एवं प्रदूषण के क्षेत्र में कार्यरत वैज्ञानिकों, तकनीशियनों की अहम भूमिका होगी। इन विशेषज्ञों द्वारा किए गये शोधकार्यों प्रेक्षणों से ही यह पता चल सकेगा कि किसी देश या क्षेत्रविशेष में कितना नुकसान हो चुका है और उसे कैसे रोका या कम किया जा सकता है? इन लक्ष्य बिन्दुओं के निर्धारण का दायित्व इस आलेख के अंत में प्रस्तावित **प्रान्तीय पर्यावरण विकास अभिकरण** को सौंपा जाना चाहिए। यहीं एक प्रश्न और उठता है कि क्या किसी पर्यावरणीय मुद्दे का लक्ष्यबिन्दु राष्ट्रीय स्तर पर निर्धारित किया जाएगा या स्थानीय स्तर पर? उदाहरण के लिए वनों का विषय लिया जा सकता है। प्रायः यह कहा जाता रहा है कि देश की 33% भूमि वनाच्छादित होनी चाहिए। पिछले कुछ वर्षों से अब यह कहा जाता है कि पहाड़ी क्षेत्रों की 66% एवं मैदानी क्षेत्रों की 20-25% भूमि पर वन होने चाहिए। निकट भविष्य में इन 'राष्ट्रीय' लक्ष्यों की प्राप्ति संभव नहीं जान पड़ती, पर यदि इसे हासिल भी कर लिया जाय तो क्या हमें (वनीकरण के) वांछित परिणाम मिल पाएँगे? इसी प्रकार यदि किसी स्थान, क्षेत्र या देश के लिए विभिन्न प्रदूषक तत्वों का अधिकतम यानी ख़तरनाक सीमान्तर निर्धारित कर दिया जाय तो क्या उस प्रदूषण का स्तर सीमा से कम बनाए रखने की कोशिश कामयाब हो पाएगी? उदाहरणार्थ क्या किसी शहर के वायुमंडल में सल्फर डाइऑक्साइड, क्लोरोफ्लोरोकार्बन्स की अधिकतम सीमा तय करके उनका स्तर कम करने का प्रयास सफल हो सकता है? उत्तर निश्चय ही नहीं' है। इसे तब तक कम नहीं किया जा सकता जब तक इन प्रदूषक तत्वों के स्रोत माने जाने वाले प्रत्येक उद्योग गतिविधि के लिए शुरू में ही एक सीमा तय नहीं कर दी जाती। **इलाज तो उसी अंग का फलप्रद होगा जहाँ रोग है**। अतः योजनाएँ बनाते समय पर्यावरण संबंधी लक्ष्य बिन्दुओं के निर्धारण में इस पहलू पर विचार किया जाना चाहिए अन्यथा आर्थिक विकास के क्षेत्रीय असंतुलन की ही तरह पर्यावरणीय विकास में भी क्षेत्रीय असंतुलन की समस्या उत्पन्न हो सकती है।

लक्ष्यबिन्दुओं के निर्धारण के पश्चात् दूसरा चरण **लक्ष्यप्राप्ति की निगरानी व्यवस्था** का है। पर्यावरण के प्रश्न से तीन पक्षों का सरोकार है—प्रदूषण फैलाने वाले, प्रदूषण पर

नियंत्रण रखने वाले (यानी प्रशासन) और प्रदूषण से प्रभावित लोग (यानी आम जनता)। इस निगरानी व्यवस्था में इन सभी तीन पक्षों के हित और दायित्वों का ध्यान रखा जाना चाहिए। यद्यपि प्रदूषण पर नज़र रखने का प्रत्यक्ष दायित्व प्रशासन पर है तथापि लोकतंत्र में आम जनता एवं प्रदूषण पर्यावरण संबंधी उनकी चिंताओं को उजागर करने वाली संस्थाओं पर भी यह अप्रत्यक्ष दायित्व ज़रूर है कि वे प्रशासन को समय-समय पर सचेत करते रहें। इसी प्रकार प्रशासन को यह भी नहीं भूलना चाहिए कि प्रदूषण के नियंत्रण में प्रदूषक उद्योगों द्वारा महसूस की जाने वाली वित्तीय तकनीकी और प्रशासनिक कठिनाइयाँ यथाशीघ्र दूर कर दी जायँ। लक्ष्यबिन्दुओं के समुचित निर्धारण के पश्चात् इस प्रकार की निगरानी कार्यान्वयन व्यवस्था के विकास से काफी सफलता मिल सकती है। इस व्यवस्था का ढाँचा निम्नवत् हो सकता है—

(I) अखिल भारतीय स्तर पर '**राष्ट्रीय पर्यावरण विकास अभिकरण**' (**National Environmental Development Agency**) का गठन। इस अभिकरण के संचालक मंडल में निदेशक के अलावा सदस्य के रूप में सभी प्रदेशों/केन्द्रशासित क्षेत्रों के प्रान्तीय पर्यावरण विकास अभिकरणों के अध्यक्ष शामिल हों। इस राष्ट्रीय अभिकरण को कानून निर्माण, वायु प्रदूषण, जल प्रदूषण, ध्वनि प्रदूषण, मृदा प्रदूषण, वन एवं वन्य जीव जैसे विशिष्ट विषय क्षेत्रों में परामर्श एवं सहयोग हेतु अलग-अलग राष्ट्रीय सलाहकार समितियाँ गठित की जायँ। देश के आर्थिक विकास हेतु पंचवर्षीय एवं वार्षिक योजनाओं के निर्माण में इस अभिकरण की भूमिका सुनिश्चित करने की दृष्टि से इसके निदेशक को राष्ट्रीय योजना आयोग का पदेन पूर्णकालिक सदस्य बनाया जाय। इस राष्ट्रीय अभिकरण की वर्ष में कम से कम चार बैठकें आयोजित होनी चाहिए, जिनमें केन्द्र सरकार को प्रस्तुत किए जाने वाले इसके सुझावों/प्रतिवेदनों को अंतिम रूप दिया जाय।

इस अभिकरण का मुख्य कार्य विभिन्न प्रान्तीय पर्यावरण विकास अभिकरणों की परियोजनाओं एवं उपलब्धियों की समीक्षा करना तथा उनके कार्यक्रम में समन्वय एवं तालमेल बनाए रखना हो। देश तथा विदेश में पर्यावरण संबंधी शोधों/सर्वेक्षणों के प्रकाश में तत्संबंधी राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय मानकों के निर्धारण में प्रान्तीय अभिकरणों के सहयोग से सकारात्मक पहल करना और पर्यावरण संबंधी पुराने कानूनों में सुधार तथा नये कानूनों हेतु केन्द्रीय सरकार को सुझाव देना भी इस राष्ट्रीय अभिकरण का कार्य हो।

(II) प्रान्तीय स्तर पर प्रत्येक प्रदेश/केन्द्रशासित क्षेत्र का अपना 'प्रान्तीय पर्यावरण विकास अभिकरण' (**Provincial Environmental Development Agency**) हो। इन प्रान्तीय अभिकरणों में भी राष्ट्रीय अभिकरण की ही तरह हर विषय पर अलग-अलग विशिष्ट सलाहकार समितियाँ हों। प्रान्तीय अभिकरणों के संचालक मंडल में अध्यक्ष के अलावा इसकी सभी सलाहकार समितियों के संयोजक और इतनी ही संख्या में प्रान्त की पर्यावरण प्रेमी स्वयंसेवी संस्थाओं के प्रतिनिधियों को भी शामिल किया जाना चाहिए। इन प्रान्तीय अभिकरणों के अध्यक्ष को वहाँ के प्रान्तीय योजना आयोग का पदेन सदस्य होना चाहिए।

प्रान्तीय अभिकरण की सलाहकार समितियाँ अपने-अपने विषय क्षेत्र के लिए स्वयं अथवा विश्वविद्यालय-महाविद्यालयों और स्वयंसेवी संस्थाओं के सहयोग से सर्वेक्षण या शोध-कार्य कर सकती हैं और प्राप्त निष्कर्षों को संचालक मंडल की नियमित मासिक बैठक में विचारार्थ प्रस्तुत कर सकती हैं। सलाहार समितियों के इन निष्कर्षों के आधार पर संचालक मंडल अपना प्रतिवेदन प्रदेश सरकार और राष्ट्रीय अभिकरण को प्रस्तुत करे तथा आवश्यकतानुसार दोषी व्यक्तियों/फर्मों/उद्योगों के विरुद्ध 'पर्यावरण न्यायालयों' में मुकदमा दायर करे।

(III) पर्यावरण न्यायालय का गठन समुचित संख्या में प्रत्येक प्रदेश/केन्द्र शासित क्षेत्र में किया जाना चाहिए ताकि पर्यावरण/प्रदूषण सम्बन्धी वादों (मुकदमों) का निपटारा शीघ्रता से किया जा सके। कानून के द्वारा यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि इन पर्यावरण न्यायालयों में ही चुनौती दी जा सके।

इन न्यायालयों की कार्यप्रणाली हाल ही में गठित पारिवारिक अदालतों/जन अदालतों की तरह होनी चाहिए जिससे वादों के निपटारे के लिए दोषी व्यक्तियों/फर्मों/उद्योगों को समझा-बुझाकर राजी किया जा सके और उन्हें कानून द्वारा निर्धारित मानक अपनाने को प्रोत्साहित किया जा सके। कैद एवं जुर्माने को अंतिम अस्त्र के रूप में अपनाया जाना चाहिए।

इन पर्यावरण न्यायालयों में वाद दाख़िल करने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति और स्वयंसेवी संस्था को होना चाहिए जिससे ऐसे मामले भी अदालत की नज़र में आ सकें जिनकी तरफ प्रान्तीय पर्यावरण विकास अभिकरणों का ध्यान न गया हो।

(IV) प्रत्येक जनपद के ज़िलाधिकारी (District Magistrate) को उनके प्रशासनिक सीमा के अन्दर आने वाले क्षेत्र में प्रदूषण के स्तर एवं पर्यावरण की स्थिति पर नज़र रखने की ज़िम्मेदारी सौंपी जानी चाहिए। ज़िलाधिकारी को स्थायी निर्देश होना चाहिए कि वह अपने जनपद की पर्यावरण प्रेमी संस्थाओं के नियमित संपर्क में रहें। उन्हें चाहिए कि वे जनपद की प्रदूषण/पर्यावरण संबंधी समस्याओं की जानकारी के लिए स्वयं पहल करें और उन्हें सुलझाने में स्वयंसेवी संस्थाओं का सक्रिय सहयोग लें।

ज़िलाधिकारी की अध्यक्षता में जनपद के खंड विकास अधिकारियों की वर्ष में दो बैठकें पर्यावरण संबंधी समस्याओं/उपलब्धियों की समीक्षा हेतु अवश्य आयोजित हों। इन बैठकों की कार्यवाही/निष्कर्ष की पूरी रिपोर्ट राज्य सरकार और प्रान्तीय पर्यावरण विकास अभिकरण को ज़िलाधिकारी द्वारा दी जानी चाहिए।

(V) खण्ड विकास अधिकारी (Block Development Officer) को स्पष्ट आदेश होना चाहिए कि वह अपने क्षेत्र के समस्त ग्रामप्रधानों की त्रैमासिक बैठकें पर्यावरण सम्बन्धी मुद्दों पर विचारार्थ आयोजित करें और उन्हें (ग्राम प्रधानों को) इस सम्बन्ध में प्रशासन द्वारा किए जा रहे प्रयासों से अवगत कराएँ। ग्राम प्रधानों से उनके गाँव में संबंधित कार्यक्रम की सफलता/असफलता की जानकारी प्राप्त करके उनके सुझावों के आधार पर खण्ड विकास अधिकारी द्वारा अपने विकासखण्ड (Block) में पर्यावरण सुधार की प्रगति

संबंधी एक त्रैमासिक प्रतिवेदन ज़िलाधिकारी को भेजा जाना चाहिए। ज़िलाधिकारी इन प्रतिवेदनों के आधार पर प्रत्येक खण्डविकास अधिकारी को संबंधित परियोजनाओं/कार्यक्रमों में सुधार/परिवर्तन हेतु निर्देश दें।

पर्यावरण के संरक्षण, सुधार एवं विकास हेतु मेरे द्वारा ऊपर प्रस्तावित ढांचे में सम्भव है, कुछ कमियाँ रह गई हों और यह स्वाभाविक भी है क्योंकि मैं प्रशासनिक विषयों का विशेषज्ञ अथवा अध्येता नहीं हूँ। फिर भी मैंने यह लेख लिखने का साहस इसलिए किया है ताकि पर्यावरण संबंधी समस्याओं के समाधान में प्रशासन का महत्व हिन्दी विज्ञान पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करके उनकी प्रतिक्रियाओं के माध्यम से एक सार्थक बहस शुरू की जा सके।

□□

पर्यावरणीय परिवर्तनों से बढ़ते विवाद

□ डॉ० अशोक कुमार गुप्ता

पिछले दो दशकों में हुये पर्यावरण परिवर्तन के परिणाम स्पष्ट दिखाई पड़े हैं। इन्हीं परिवर्तनों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक तनाव तथा क्षेत्रीय विवाद भी उत्पन्न हुये हैं। पर्यावरण के दबाव के परिणामस्वरूप अनेक देशों में ग़रीबी, असुरक्षा, अपर्याप्त विकास दर, संसाधनों की कमी, संसाधनों के उपयोग में कमी, जनसंख्या का दबाव तथा आर्थिक विषमतायें जैसी परिस्थितियाँ बढ़ी हैं। अन्ततः यही विषम परिस्थितियाँ अनेक देशों में राजनैतिक तनाव तथा क्षेत्रीय विवाद के लिए उत्तरदायी रही हैं। कहीं-कहीं तो युद्ध की स्थिति आ गई है। यह तो निश्चित है कि पर्यावरण के बदलते परिवेश में, विशेषकर उसके निम्नीकरण से, देश में उपलब्ध संसाधनों में कमी आती है और इसी कमी के फलस्वरूप सीमावर्ती राज्यों व देशों में विवाद तथा तनाव बढ़ता जाता है।

प्राकृतिक संसाधन, देशों के या तो आर्थिक स्रोत के मुख्य अवयव या विकास के मुख्य अंग हैं। जैसे खाड़ी देशों में तेल या ऊर्जा ही उनका मुख्य आर्थिक आय स्रोत है। उष्ण कटिबंधीय देशों में शुद्ध जल संसाधन उनके विकास के मुख्य आधार हैं। पर्यावरण परिवर्तनों के फलस्वरूप संसाधनों में कमी आई है, जिनसे उपलब्ध संसाधनों के अत्यधिक बढ़ते दबाव से अनेक देशों के बीच तनाव बढ़े हैं। भूमण्डलीय जलवायु परिवर्तनों से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध प्रभावित हुये हैं। भूमण्डलीय जलवायु परिवर्तनों से, शुद्ध जल संसाधनों में बेहद परिवर्तन हुए हैं। कहीं अत्यधिक वर्षा तो कहीं सूखा, कहीं बेमौसम वर्षा तो कहीं तूफ़ान, चक्रवात या प्रचण्ड शुष्क हवायें। इन बढ़ती प्राकृतिक विपदाओं से शुद्ध जल संसाधनों में कमी ही आई है।

पर्यावरण परिवर्तन के दो मुख्य कारण हैं, जिन्हें वैज्ञानिकों ने प्रामाणिक कहा है। प्रथम है, प्राकृतिक यथा पृथ्वी की गति-दिशा या गति अंश में परिवर्तन तथा दूसरा है मानवीय, जो अत्यधिक सक्रियता के कारण कार्बन डाइऑक्साइड मुक्त करने के परिणाम-स्वरूप 'ग्रीन हाउस प्रभाव' (हरित पौध-गृह प्रभाव), नाभिकीय शस्त्रों की प्रतिस्पर्धा में किये गये परमाणु परीक्षण तथा शहरी विकास के कारण वन विनाश के रूप में दृष्टि-गोचर होता है। इतिहास साक्षी है कि शुद्ध जल संसाधन के नियन्त्रण, अपव्यय, उपभोग तथा शुद्ध जल के गुणों के कारण पड़ोसी देशों के बीच राजनैतिक विवाद तथा तनाव रहे हैं। केवल जनसंख्या की वृद्धि से ही देशों में जल की माँग कई गुना बढ़ी है। इन माँगों एवं उपयोगों के दबाव में शेष जल संसाधनों की उपलब्धि पर विवाद हुये हैं और वातावरण के परिवर्तनों के कारण संसाधनों की कमी से विवाद बढ़ना स्वाभाविक भी है। 'ग्रीन

इलाहाबाद एग्रीकल्चरल इन्स्टीट्यूट, इलाहाबाद—211007

हाउस प्रभाव' से भूमण्डल के ताप में वृद्धि हुई है। इस ताप वृद्धि के कारण उपलब्ध जल संसाधनों में कमी आई है। साथ ही इससे वायु गति में भी परिवर्तन हुये हैं जिनके फलस्वरूप वार्षिक वर्षा भी प्रभावित हुई है। भूताप की वृद्धि से ही शुद्ध पेय जल की शहरी माँगें, शुद्ध जल की औद्योगिक माँगें तथा कृषि हेतु सिंचित जल की माँगें भी बढ़ी हैं। उपलब्ध जल संसाधनों की कमी तथा बढ़ती माँग से असन्तुलन हुआ है और इसी का परिणाम है, पड़ोसी देशों के आपसी विवाद क्योंकि एक ही संसाधन पर दो या दो से अधिक देश निर्भर हैं। भूमण्डल का ताप बढ़ने से ठंडे देशों में हिमपात तथा हिमगलन के 'पैटर्न' (प्रतिमान) में बदलाव हुआ है। भू-ताप पर ही आधारित वायु वेग एवं दिशा परिवर्तन से अनेक उष्ण कटिबंधीय देशों में वर्षाकाल तथा वर्षा-प्रतिमान में भी अन्तर आया है, जिससे कहीं जल अपवाह से बाढ़ की समस्या तो कहीं वर्षा के अभाव में सूखा या अकाल की समस्या बढ़ी है। कहीं-कहीं तो वर्षा के निरन्तर अभाव में सूखा व अकाल की पुनरावृत्ति से न केवल जन-पलायन हुआ है बल्कि वहाँ का पारिस्थितिक-तन्त्र भी नष्ट हो गया है। जल अपवाह में बदलाव से तथा जल ताप बढ़ने से जल के गुणों में और भी गिरावट देखी गयी है। इन परिवर्तनों से शुद्ध पेय जल के जलाशय एवं बाँध, जो पिछले दशकों के वातावरणीय स्थिति के अनुरूप बनाये गये थे, वे भी अब अनुपयोगी हो चले हैं। इन वातावरणीय परिवर्तनों का अभाव उन स्थानों पर अधिक होता है जहाँ प्राकृतिक जल संसाधनों या नदी बेसिन का उपयोग दो या उससे अधिक देश करते हैं। अतएव इन देशों में आपसी तनाव या विवाद की सम्भावना अधिक रहती है।

चार महाद्वीपों के लगभग 50 देशों के दो तिहाई भू-भाग में अन्तर्राष्ट्रीय नदी बेसिन है, जबकि विश्व में 47 प्रतिशत भूमि में अन्तर्राष्ट्रीय नदी बेसिन है। 200 से अधिक नदी बेसिन बहुराष्ट्रीय हैं, अर्थात् एक से अधिक राष्ट्रों द्वारा प्रयोग किए जाने वाले नदी बेसिन। बहुराष्ट्रीय नदी बेसिनों में 47 अफ्रीका द्वीप में तथा 48 योरोप में ही हैं। निम्न तालिका में प्रमुख बहुराष्ट्रीय नदी बेसिनों के नाम दिए गए हैं—

तालिका—1. प्रमुख बहुराष्ट्रीय नदी बेसिन

	प्रमुख नदी बेसिन	संयुक्त रूप से उपयोग करने वाले देश	जल-संभर (Water shed) क्षेत्र (हज़ार वर्ग किमी॰ में)
1	दानूबे (Danube)	12	817
2	नाइगर (Niger)	10	2200
3	नाइल (Nile)	9	3031
4	जाइरे (Zaire)	9	3720
5	राइन (Rhine)	8	168.7
6	जाम्बेज़ी (Zambezi)	8	1420
7	एमेज़न (Amazon)	7	5870
8	मीकांग (Mekong)	6	786

9	लेकचाड (Lakechad)	6	1910
10	वोल्टा (Volta)	6	379
11	गंगा-ब्रह्मपुत्र (Ganga-Brahmaputra)	5	1600
12	एल्बे (Elbe)	5	144.5
13	ला-प्लेटा (La plata)	5	3200

प्रतियोगी रूप से एक ही नदी के शुद्ध जल संसाधन का उपभोग करने वाले दो से अधिक देशों में अन्तर्राष्ट्रीय तनाव के कई उदाहरण हैं। मध्यपूर्व में जॉर्डन तथा यूफ्रेट्स नदियाँ, अफ्रीका में नाइल, जाम्बेज़ी और नाइगर नदियाँ, एशिया में गंगा, ब्रह्मपुत्र नदियाँ तथा उत्तरी अमेरिका में कोलेरेडो और रिपो ग्रेन्डे नदियाँ।

विकासशील देशों में एक मुख्य विवादास्पद विषय नदियों के जल उपयोग से बना हुआ है। तालिका-1 में दर्शित 13 नदी बेसिनों में से दस नदियों का विकासशील देश उपभोग करते हैं। वास्तव में धनी देश अपने भौगोलिक आकार, अवस्थिति तथा विशाल क्षेत्र के कारण कुछ ही नदी बेसिनों का बँटवारा करते हैं जैसे अमेरिका, कनाडा, सोवियत संघ, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड, जापान आदि। परन्तु विकासशील देशों में नदी बेसिनों के सीमित जल संसाधनों के बँटवारे से आपसी प्रतिस्पर्धा उत्पन्न होती है और धनाभाव के कारण उनमें जल भण्डारण क्षमता (बाँध, जलाशय) भी कम होती है। अतः वातावरणीय परिवर्तन के फलस्वरूप यदि वर्षा का अभाव हुआ तो उनमें आपसी तनाव, कलह तथा विवादों का सिलसिला आरम्भ हो जाता है।

शुष्क एवं सम-शुष्क क्षेत्रों में, जहाँ शुद्ध जल की कमी होती है वहाँ, वातावरण के बदलाव के प्रभाव से शुद्ध पेय जल व सिंचित जल की माँग बढ़ते ही संसाधनों में कमी आती है। ऐसे क्षेत्र विकासशील देशों में बहुतायत में हैं। जल की आवश्यकता प्रति व्यक्ति जल-आपूर्ति द्वारा ही मापी जाती है। फाल्केनमार्क ने 1986 में "जल-प्रतिस्पर्धा" का माप प्रति वर्ष प्रति व्यक्ति प्रति मिलियन वर्ग मीटर में बताया है। उनकी परिभाषा के अनुसार जल की कमी की समस्या तब अधिक होती है जब इसका मान 1000 से ऊपर होता है, जिसका अर्थ है 1000 व्यक्ति प्रति मिलियन वर्ग मीटर प्रति वर्ष। दूसरा माप जल उपलब्धता का है, जो दर्शाता है जल उपलब्धता घनमीटर प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष। अन्तर्राष्ट्रीय नदी बेसिनों द्वारा कुछ प्रमुख देशों में जल उपलब्धता को तालिका-2. में दर्शाया गया है।

तालिका-2. अन्तर्राष्ट्रीय नदी बेसिनों द्वारा कुछ देशों में जल उपलब्धता

देश	1000 घन मीटर प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष	अन्तर्राष्ट्रीय नदी बेसिन में प्रतिशत भू-क्षेत्र
उच्च जल उपलब्धता		
लाओ पीपुल्स डैम	59.5	94

वेनेजुएला	44.5	80
ब्राज़ील	35.2	61
कोलम्बिया	34.3	64
एक्वाडोर	29.9	51
बर्मा	27.0	73
केमरून	18.8	65
ग्वाटेमाला	13.0	54
बांग्ला देश	12.1	86
कम्पूचिया	10.9	87
नेपाल	9.4	100
घाना	3.4	75
टोगो	3.4	77
पुर्तगाल	3.3	56
लक्सेम्बर्ग	2.8	100
स्पेन	2.8	57
पाकिस्तान	2.7	75
अफ़गानिस्तान	2.5	91
इथिओपिया	2.3	80
भारत	2.3	30
बुल्गेरिया	2.0	79
ईराक़	1.9	83
चेकेस्लोवाकिया	1.8	100
पेरू	1.8	78
रोमानिया	1.6	98
दक्षिण अफ्रीका	1.4	66
जर्मनी	1.3	93
पोलैण्ड	1.3	95
सूडान	1.2	81
बेल्जियम	1.0	96
ईजिप्ट	1.0	30
बोट्सवाना	0.8	68
सीरिया	0.6	72
केनिया	0.6	64
हंगरी	0.6	100
इज़राइल	0.4	6
जॉर्डन	0.2	6

तालिका–2. में दर्शित कई छोटे राष्ट्रों में शुद्ध जल के अभाव से तनाव है, विशेष-कर उन देशों में, जो अन्तर्राष्ट्रीय नदी बेसिन के बहुत कम भाग का उपयोग करते हैं जैसे जॉर्डेन नदी पर आधारित इज़राइल तथा जॉर्डेन; गंगा नदी पर आधारित भारत तथा बांग्लादेश। उन देशों में जहाँ जल उपलब्धता प्रति व्यक्ति कम है वहाँ सूखे की सम्भावना अधिक रहती है और सीमित जल आपूर्ति के कारण उनमें अधिकतर तनाव बना रहता है। जहाँ जल उपयोग दर आपूर्ति दर से अधिक होती है वहाँ जल की कमी महसूस होती है। वैसे कोई एक निश्चित मापदण्ड नहीं है, जिससे जल की उपयोगिता को राष्ट्रों की संवेदन-शीलता से मापा जा सके। विकासशील देशों में जल संसाधनों के परिवर्तन का एक अन्य कारण और भी है। वह है, बाढ़-नियंत्रक बाँधों या परियोजनाओं जैसी सुविधा या पेय जलापूर्ति के लिए जलाशयों का अभाव, जिससे वहाँ बाढ़ या सूखे पर कुछ हद तक नियंत्रण किया जा सके तथा अपनी आवश्यकता भर के लिए शुद्ध जल का भण्डारण किया जा सके। ये भण्डारित जल विशेष कर ऐसे समय में उपयोग में लाये जायें जब वर्षा का अभाव हो या लम्बे अन्तराल पर वर्षा न होने से जलापूर्ति की जा सके। ऐसी सुविधाएँ केवल धनी विकसित देशों में ही हैं जहाँ इन पर होने वाली विशाल लागत हेतु धन की कमी नहीं है। छोटे देशों में इन सुविधाओं के अभाव में जल संसाधनों के उपभोग में भारी विषमताएँ होती हैं और वे मात्र प्राकृतिक जलाशयों पर ही आश्रित होते हैं। ऐसे राष्ट्रों में पर्यावरण में परिवर्तनों के फलस्वरूप होने वाले जलाभाव (अकाल) से ग्रसित होकर लोग अन्य देशों की ओर पलायन करने को बाध्य हो जाते हैं, और परिणाम होता है दो पड़ोसी देशों के बीच आपसी तनाव व विवाद।

वर्षाधीन शुष्क तथा समशुष्क क्षेत्रों में जहाँ जनसंख्या एक करोड़ से अधिक है, वह क्षेत्र विकसित नहीं हो पाता तथा उस क्षेत्र में कृषि लागत भी बहुत कम होती है। ऐसे क्षेत्रों में वर्षाकाल तथा वर्षा प्रतिमान के परिवर्तन से वहाँ की सम्पूर्ण कृषि एवं अर्थ-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है। मौसम में तथा पूरे वर्ष में अनिश्चितता बनी रहने के कारण वर्षाधीन क्षेत्र सर्वाधिक प्रभावित होते हैं जैसे अफ्रीकी तथा एशियायी देश। इनमें सूखा की पुनरावृत्ति तथा जनसंख्या का दबाव दोनों ही घातक हैं। अब ऐसे क्षेत्रों में 'ग्रीन हाउस प्रभाव' के कारण भूमण्डल का ताप बढ़ने से वर्षा की पद्धति तथा 'पैटर्न' में परिवर्तन स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। पिछले दशकों में ऐसे क्षेत्रों में कृषि की अनिश्चितता से खाद्य आपूर्ति की भारी कमी हुई है।

वातावरण के परिवर्तन का खाद्य उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभाव का विश्लेषण करने पर कमी के दो कारण सामने आते हैं—

(1) बढ़ते कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा अथवा 'ग्रीन हाऊस प्रभाव' के कारण भू-ताप बढ़ने व वर्षा की अनिश्चितता, तथा

(2) महासागरों के जल-स्तर में वृद्धि–ताप प्रसार द्वारा महासागरों के आयतन के प्रसार में वृद्धि और ग्लेशियर तथा ध्रुवीय विशाल हिम-शिलाओं के गलन के कारण तटीय देशों में लगातार तूफ़ान, प्रचण्ड वायु, टाइफून, उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात आदि से भारी क्षति की सम्भावनायें।

विकासशील देशों के समुद्री तटों पर बसे नगर, समुद्र के बढ़ने से सर्वाधिक क्षति-ग्रस्त हो सकते हैं। वहाँ की कृषि योग्य भूमि के जलमग्न होने की सम्भावनाएँ अधिक हैं। तीन सबसे घनी आबादी वाले देश, जो सागरों के तटों पर बने हैं, वे हैं—बांग्ला देश, भारत एवं ईजिप्ट, जहाँ के भू-सतह तथा सागरों के जल स्तर में बहुत कम अन्तर है। इन स्थानों पर समुद्री तूफ़ानों से भारी क्षति होती है। 1960 से भारत एवं बांग्ला देश में आये बारह विनाशकारी चक्रवातों तथा तूफ़ानों ने हर बार लगभग 10,000 से अधिक व्यक्तियों की जाने ली हैं तथा हज़ारों वर्ग किलोमीटर कृषि क्षेत्र को तबाह किया है। 1970 के विनाशकारी तूफ़ान ने बांग्लादेश में 3 लाख से अधिक व्यक्तियों की जाने लीं तथा 150 वर्ग किलोमीटर कृष्य निचली भूमि को जलमग्न कर दिया। एक अनुमान के अनुसार मात्र एक मीटर समुद्र सतह (स्तर) बढ़ने से ईजिप्ट और बांग्लादेश की बहुत सी भूमि जलाप्लावित हो जायेगी, जिस पर 180 लाख व्यक्ति (80 + 100) इस समय निवास कर रहे हैं। 'ग्रीन हाउस' के प्रभाव से पृथ्वी पर मात्र 5° ताप बढ़ने से महासागरों का जलस्तर 2 से 4 मीटर तक बढ़ सकता है। अब 'ग्रीन हाउस प्रभाव' के जिम्मेदार देशों की भी जानकारी कर लें। कार्बन डाइऑक्साइड के उत्सर्जन से ही 'ग्रीन हाउस प्रभाव' होता है। 1983 में कार्बन डाइऑक्साइड को उत्सर्जित करने वाले देशों के अध्ययन से ज्ञात हुआ कि सम्पूर्ण विश्व में 24 प्रतिशत अमेरिका, 18 प्रतिशत यूरोप तथा कनाडा, 27 प्रतिशत सोवियत संघ तथा अन्य देश 26 प्रतिशत कार्बन डाइऑक्साइड उत्सर्जित करते हैं। ,ग्रीन हाउस प्रभाव' के लिए ज़िम्मेदार देशों में तो प्रभाव कम होगा, जबकि विकासशील देशों में विनाशकारी प्रभाव अधिक होंगे।

अतएव अब समय आ गया है जब विकासशील देश एकजुट होकर बड़ी ताकतों को इसका एहसास करायें ताकि पर्यावरण को क्षति पहुँचाने वाली गतिविधियों पर रोक लगाई जा सके।

□□

आर्थिक प्रगति और पर्यावरण संरक्षण

□ राघवेन्द्र कृष्ण प्रताप

पृथ्वी पर अनेक देशों की राजनीतिक इकाइयों में वितरित मानव जनसंख्या को अनेक प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है। एक प्रकार के वर्गीकरण में देशों को सम्पन्न अथवा विकसित, विकासशील और न्यूनतम विकसित अथवा अविकसित श्रेणियों में विभाजित किया जाता है। यह विभाजन उस देश की जनसंख्या की आर्थिक प्रगति की गति और प्राप्त स्तर के आधार पर किया जाता है।

चार्ल्स पी० किंडलबर्जर और **ब्रूस हेरिक** के अनुसार आर्थिक प्रगति अथवा आर्थिक विकास की परिभाषा में भौतिक कल्याण (विशेष रूप से निम्न आय वाले व्यक्तियों का), निरक्षरता, रोग और अल्प मृत्यु से सम्बन्धित जन-निर्धनता के उन्मूलन, तथा उत्पादन के कृषि रूप से औद्योगिक रूप में परिवर्तन से संबंधित अदा (इनपुट्स) और प्रदा (आउट पुट्स) की संरचना सम्मिलित है। इस उद्देश्य से अर्थव्यवस्था का संगठन इस प्रकार होना चाहिए कि कुछ विशेष व्यक्तियों (या समूहों) के स्थान पर कार्यकारी जनसंख्या के अधिकांश भाग को रोज़गार प्राप्त हो और सामूहिक-कल्याण से संबंधित निर्णयों में अधिकतम व्यक्तियों की भागीदारी सम्भव हो सके। (1)

आर्थिक प्रगति मात्र आर्थिक अभिवृद्धि (ग्रोथ) नहीं है। आर्थिक प्रगति में बढ़े हुए उत्पादन, जो आर्थिक अभिवृद्धि की एकमात्र शर्त है, के साथ उत्पादन और वितरण की तकनीकी और संस्थागत व्यवस्थाओं के परिवर्तन भी सम्मिलित होते हैं। मानवीय संदर्भों में प्रगति का दृष्टिकोण प्रकार्यात्मक योग्यताओं पर अधिक ध्यान केंद्रित करता है। (2) **प ल स्ट्रीटेन** के अनुसार "पूंजी-विनियोग, शिक्षा, बाज़ार-व्यवस्था का आकार, अर्थ-व्यवस्था अभिवृद्धि और विकास के प्रति मानवीय दृष्टिकोण और सबसे अधिक परिवार-सदस्य-सीमा के तत्व विकास की प्रक्रिया में सम्मिलित रूप से योगदान करते हैं, यदि उनके साथ उचित व्यवस्थाओं और साधनों का प्रयोग किया जा रहा हो।" (3)

सामान्य रूप से आर्थिक प्रगति का संबंध मानव जीवन से संबंधित और मानव द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उपयोग की जाने वाली वस्तुओं का मानव-समाज की आवश्यकता पूर्ति करने योग्य परिमाण में उपलब्धि से माना जा सकता है। जिस समाज में यह आवश्यकताएँ जिस रूप में और जिस परिमाण में पूर्ण की जाती हैं, उसी के अनुरूप उसकी आर्थिक प्रगति अथवा विकास का स्तर स्वीकार किया जाता है।

प्रवक्ता (शिक्षा), ए० पी० एन० कॉलेज, बस्ती (उ० प्र०)—272001

अपने विकासक्रम में मनुष्य अपने पर्यावरण की विशेष स्थिति का परिणाम था, इसलिये एक विशेष सीमा तक उसका प्राकृतिक पर्यावरण ही उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ था। परन्तु मनुष्य की बढ़ती जनसंख्या, उसकी प्राकृतिक पर्यावरण को परिवर्तित करने की प्रवृत्ति और विचार-शक्ति जो इस पर्यावरण को परिवर्तित कर सकने में अंशतः समर्थ होती रही तथा सभ्यतापरक आवश्यकताओं के कारण प्राकृतिक उत्पादों से उसकी आवश्यकतापूर्ति कठिन हो गयी। सभ्यता के विकास और यंत्रों के उपयोग ने उसे प्राकृतिक उत्पादों का रूप-परिवर्तन करना सिखाया और वैज्ञानिक ज्ञान ने उसे भिन्न प्राकृतिक पदार्थों से अपने उपयोग की वस्तुएँ प्राप्त करने की शक्ति दी। यही वे कारक हैं जिनसे मानव समाज अपनी आदिम स्थिति से आज की 'सभ्य' स्थिति प्राप्त कर सका।

प्रारंभ में मानव प्रकृति का एक छोटा सा अंश था। उसके कारण प्राकृतिक स्थिति में जो विचलन घटते उन्हें प्रकृति स्वतः नियमित कर सकने में समर्थ थी। परन्तु मानवीय जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ प्रकृति पर उसके क्रिया कलापों के प्रभाव स्पष्ट दिखाई देने लगे और प्रकृति इन प्रभावों को समाप्त करने में अक्षम सी हो गयी। यही वह बिंदु था, और यह घटना इसी शताब्दी में घटी, जब मानव को आभास हुआ कि वह प्रकृति को मनचाहे रूप और परिमाण में उपयोग नहीं कर सकता क्योंकि इससे संपूर्ण मानव जाति के भविष्य पर एक प्रश्नचिह्न लग गया है। पर्यावरण-संरक्षण की समस्या के प्रति सचेतनता यहीं उत्पन्न हुयी।

पर्यावरणीय सुरक्षा का संबंध व्यक्ति से भी है और संपूर्ण मानव समाज से भी। (4) इस समस्या का दुखद पक्ष यह है कि आर्थिक प्रगति और सभ्यता की होड़भरी दौड़ में मानव ने उत्पादन की वृद्धि के लिये प्रकृति का निर्दयतापूर्ण सर्वनाश किया और इसी का फल उसे अब विभिन्न प्रकार के प्रदूषणों और उनके घातक प्रभावों के रूप में सहन करने को विवश होना पड़ रहा है। आधुनिक पारिस्थितिक अनुसंधान से ज्ञात होता है कि जैवमंडल पर मनुष्य के अनवरत, एकतरफ़ा और काफ़ी हद तक अनियंत्रित प्रभाव से हमारी सभ्यता ऐसी स्थिति में पहुँच सकती है जो उर्वर क्षेत्रों के स्थान पर रेगिस्तान स्थापित कर सकती है, महासागरीय जल का स्तर ऊँचा उठा कर मारिशस जैसे द्वीपों का अस्तित्व समाप्त कर सकती है तथा जैविक प्रजातियों, जिनमें से एक मनुष्य भी है, को सर्वदा के लिये नष्ट कर सकती है। तथ्य यह है कि मनुष्य जाति ने भौतिक उत्पादन के विकास से जैवमंडल के आंगिक ढाँचे में एक कृत्रिम अंग आरोपित कर दिया है। उसके इस कार्य का न सिर्फ समाज और उत्पादन के हमारे लक्ष्यों के साथ, बल्कि जैवमंडल की क्रिया के साथ भी समन्वय होना ज़रूरी है।

यह एक मनोरंजक तथ्य है कि पर्यावरण और पारिस्थितिकी पर विचार करने वालों के एक वर्ग ने इस सम्पूर्ण समस्या का कारण वैज्ञानिक अनुसंधान को स्वीकार किया। परन्तु विज्ञान ने प्रकृति के रहस्यों की जानकारी ही प्रदान की है, उसके उपयोग की दिशा को राजनीतिक, व्यापारिक अथवा दूसरे कारक निश्चित करते हैं। इसी कारण फरवरी 1973 में फ्रांस में वैज्ञानिकों के एक सम्मेलन ने निम्न प्रस्ताव प्रस्तुत किया—

- ☐ हम उन समस्त सिद्धान्तों को स्पष्ट रूप से ठुकराते हैं, जिनके अनुसार वैज्ञानिक खोज और तकनीकी प्रगति मानव जाति के लिये लाभदायक से अधिक हानिकारक है।
- ☐ व्यापक संहारकारी अस्त्रों को उन्नत किये जाने की ज़िम्मेदारी विज्ञान पर नहीं हैं।
- ☐ करोड़ों मज़दूरों पर लादी गयी काम की असहनीय परिस्थितियों से पैदा होने वाली शारीरिक और स्वाभाविक थकान में वृद्धि की ज़िम्मेदारी विज्ञान पर नहीं है।
- ☐ उत्पादन के निरन्तर गति से और तीव्रता के साथ बढ़ जाने के बावजूद काम के घंटे पहले की तरह बनाये रखने का दोषी विज्ञान नहीं है।
- ☐ विज्ञान का अर्थ प्रत्येक प्रकार के प्रदूषकों से प्रकृति का प्रदूषण किया जाना नहीं होता।
- ☐ इसके विपरीत विज्ञान समाज के समक्ष वह समाधान प्रस्तुत करता है, जो काम की बेहतर शर्तें बिना प्रदूषण के उत्पादन की परिस्थितियाँ पैदा करे। यदि इन समाधानों को लागू नहीं किया जाता तो यह विज्ञान की ग़लती नहीं है।
- ☐ उत्पादन की अराजकता की ज़िम्मेदारी विज्ञान पर नहीं है। वह न तो पूँजीवादी संचय के लिए ज़िम्मेदार है न उसके परिणामों के लिए। (5)

इसका मंतव्य यह है कि हमें विज्ञान और वैज्ञानिक अनुसंधानों का उपयोग इस संकट के समाधान के लिए करना चाहिये। अकादमीशियन **निकोलई दुबीनिन** के शब्दों में, "हमारे युग में चयन के समक्ष वे कर्तव्य उपस्थित हैं जिन्होंने फ़सल की खेती और पशु-पालन के क्षेत्र में विगत 20,000 वर्षों में जो कुछ किया गया है, उसे अंधकार में छुपा रखा था। कृषि योग्य ज़मीन, बागर धरती, चारागाहों, बग़ीचों, फलोद्यानों और जंगलों की प्रति हेक्टेयर उपज को 200 से 300 प्रतिशत तक बढ़ाया जाना चाहिये। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये हमें उद्देश्यपरक आनुवंशिक और चयनात्मक परियोजनाएँ तैयार और कार्यान्वित करनी चाहिये, जिनमें से प्रत्येक कृषि की फ़सलों, चारागाहों की घासों और जंगल की फ़सलों की तो बात छोड़िए—अलग-अलग क्षेत्रों, आमतौर पर संपूर्ण देश और कई मामलों में भू-मंडलीय पैमाने पर स्पष्ट रूप से उठायी गयी समस्या का समाधान करेगी। कृषि उपज और कच्चे मालों, उत्पादन और उत्पादकता के गुणों का महत्व-संक्रामकता से निरापदता, गेहूँ, राई, चावल और अन्य फ़सलों के खड़ा रहने की शक्ति, गेहूँ की ठंड का प्रतिरोध करने की क्षमता, चुकन्दर में उच्च शर्करा तत्व, आलू के रोगों की रोकथाम, बहुविध बालों वाली मक्का, लकड़ी के जल्दी परिपक्व होने और उसके गुण जैसे अन्य गुण-धर्मों से मिल कर अत्यधिक बढ़ जाता है।" (6) पारिस्थितिक संकट को दूर करने के लिए न केवल उत्पादन के प्राविधिक आधार में बल्कि वित्त के विभाजन में निर्णय के तौर तरीकों में और अंत में स्वत: संपत्ति के स्वरूप में भी ज़बरदस्त बदलाव

आवश्यक है। पारिस्थितिक संकट के समाधान के इर्द-गिर्द संघर्ष अनिवार्य रूप से तकनीकी समस्याओं के ढाँचे को पार कर जाता है और अपने आप में सामाजिक समस्याओं को भी समेट लेता है। (7)

ऐसे विश्व में जहाँ संपन्न और अविकसित देशों की प्रति व्यक्ति वार्षिक आय का अंतर 11430 डॉलर के बीच का हो, जहाँ 1.7 अरब जनसंख्या को पीने का स्वच्छ जल न प्राप्त हो पाता हो, जहाँ 1.2 अरब लोग अमानवीय आवासीय परिस्थितियों में जीवन व्यतीत करने को बाध्य हों और जहाँ विकासशील देशों के 34 करोड़ व्यक्तियों को पर्याप्त भोजन न प्राप्त होता हो, पूर्णतया प्रकृति-आधारित समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। यह आमानवीय होगा कि विश्व के कुछ लोग तो संपन्नता और सभ्यता का विलासमय जीवन व्यतीत करें और अधिकांश जनसंख्या आर्थिक संपन्नता और प्रगति के स्तर से पर्यावरण सुरक्षा के नाम पर वंचित रखी जाये। समस्त मानव समाज और विशेषकर प्रबुद्ध वर्ग का यह दायित्व है कि वे मानव जीवन की बेहतरी के नवीन मार्ग खोजें और उसकी प्राप्ति की प्रक्रिया में महायक हों।

परन्तु यह भी ध्यान रखा जाना चाहिये कि हमारा चिंतन खण्ड-खण्ड न हो वरन् संपूर्ण मानव जाति और उसके भविष्य की कल्याण कामना पर आधारित हो। इसी बात को पर्यावरण राज्य मन्त्री **श्रीमती मेनका गाँधी** ने एक साक्षात्कार में निम्न शब्दों में व्यक्त किया है—"प्रगति का अर्थ अलग-अलग लोगों के लिए अलग-अलग होता है। परन्तु मेरे लिए हमारी भावी संतानों और हमारे अपने स्वास्थ्य के मूल्य पर की जाने वाली प्रगति निकट दृष्टि के दोष से प्रभावित है। पचास व्यक्तियों को आज रोजगार देने वाली व्यवस्था जिससे भविष्य में पाँच हजार व्यक्तियों का स्वास्थ्य नष्ट हो, मुझे प्रगति नहीं प्रतीत होती।" (8)

मानवीय प्रगति केवल संसाधनों की समस्या से सम्बन्धित नहीं है। इसका अर्थ मानव समाज के लिए अपेक्षाकृत स्वस्थ वातावरण—सामाजिक और प्राकृतिक स्थितियों का निर्माण होना चाहिए जिससे मानव विकास सहज रूप से संभव हो सके। (9)

प्रकृति पर मानवीय प्रभाव की दृष्टि से अन्य कारकों के साथ-साथ औद्योगिक इकाइयाँ महत्वपूर्ण कार्य करती हैं। परन्तु औद्योगिक इकाइयों के अपशिष्ट पदार्थ ही प्रकृति-प्रदूषण के लिए अत्यधिक उत्तरदायी हैं। इस संदर्भ में निम्नलिखित वैज्ञानिक और प्रोद्योगिकी समस्याओं के प्रभावशाली समाधान आवश्यक हैं—

1. कोयले की खानों और कारखानों से होने वाले विभिन्न प्रकार के अपशिष्ट जल के बहिः स्रावों के गैरक्षारीयकरण के लिए सस्ते उपायों का विकास।

2. (ऊर्णन, प्लवन और अन्य प्रक्रियाओं का उपयोग करते हुए) आस्थगित और कोलाइड रूप से बिखेरी गयी गंदगियों की सफ़ाई।

3. स्थानीय शुद्धीकरण के लिए नयी भौतिक और भौतिक-रासायनिक पद्धतियों और सुविधाओं (रेडियोधर्मी और रासायनिक पद्धतियों, ओज़ोनीकरण, चुम्बकीय अभिक्रिया) का विकास।

4. खारी पानी और अन्य रूप से जहरीले अपशिष्टों को रखने के लिये पुरानी खानों तथा भूमिगत दीर्घाओं का उपयोग करते हुए अपशिष्ट पदार्थ को गहराई में और सुरक्षित रूप से पहुँचाने के लिए एक रासायनिक, यांत्रिक और तकनीकी आधार का निर्माण।

5. सम्पन्न पुनर्लाभ और वायुरोधीकरण की एक प्रणाली का निर्माण।

6. नाइट्रिक ऑक्साइड, गंधक की गैसों, कार्बन मोनोऑक्साइड तथा अन्य ऑक्साइड और क्षारीय गैसों को रोकने में कुशलतम पद्धतियों का विकास।

7. ठोस तरल अपशिष्टों का शोधन तथा उनका उपयोग किये जाने की वैज्ञानिक पद्धति का विकास। परंतु निम्न बातों को लंबे समय तक प्राथमिकता दी जाये :

1. वायु, सूर्य, भूमिगत उष्मा आदि की ऊर्जा के नवीन स्रोतों का अंगीकरण और उनका उपयोग।

2. उत्पादन की उत्प्रेरक प्रक्रियाओं का अंगीकरण, जो जैवमंडल के निकट की परिस्थितियों में प्रभावशाली हों।

3. सामान्यता जीवित कोषाणुओं में होने वाली प्रक्रियाओं पर आधारित उद्योगों में झिल्लिका प्रौद्योगिकी का व्यापक उपयोग।

4. निम्न और उच्च तापमान पर घटित होने वाली किण्वन प्रक्रियाओं का उपयोग।

5. क्षय रहित औद्योगिक और कृषि के आवर्तनों के निर्माण के लिए बन्द जल प्रसार योजनाओं में बहिःस्रावों का उपयोग करते हुए तथा उर्वरकों के निर्माण के लिए अवमल का शोधन करते हुए शुद्धीकरण की आधारभूत जीव-वैज्ञानिक पद्धतियों का उपयोग।

6. उद्योग में अत्यन्त ज़हरीले तत्वों का उन्मूलन।

7. पर्यावरण को क्षति पहुँचाने वाली औद्योगिक प्रक्रियाओं के उपयोग को रोकने के लिए विज्ञान पर आधारित निर्देशिकाओं की प्रणालियों का निर्माण। (10)

पर्यावरण-प्रदूषण की इस विभीषिका से बचाव के लिए अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सहयोग अनिवार्य है, क्योंकि आज प्रदूषण के प्रभाव औद्योगिक राष्ट्रों तक सीमित नहीं रह गये हैं। योरोपीय महाद्वीप के ढाँचे के अन्तर्गत इस प्रकार का प्रथम सम्मेलन प्राग में 1971 में आयोजित किया गया था। संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी 1972 में स्टाक होम में इसी उद्देश्य से एक सम्मेलन आयोजित किया और उसके प्रस्तावों के अनुरूप संयुक्त राष्ट्र पर्यावरणिक कार्यक्रम (यू० एन० ई० पी०) का प्रारम्भ किया। विश्व पर्यावरण की स्थिति के बारे में वार्षिक रिपोर्टों के अतिरिक्त यू० एन० ई० पी० की कारवाई के कार्यक्रम में निम्नलिखित विषय सम्मिलित किये गये हैं—आवासीय केन्द्र और उनकी पारिस्थितिकी, मानव-स्वास्थ्य, भूमि, जल, मरुस्थल, वाणिज्य, अर्थशास्त्र, प्रौद्योगिकी और अभियंत्रण, महासागर, प्रकृति का संरक्षण तथा विश्व के आनुवंशिक साधनों की सुरक्षा, ऊर्जा तथा पर्यावरण पर उसके स्रोतों का प्रभाव तथा प्राकृतिक आपदाएँ। (11)

1972 में यूनेस्को द्वारा प्रारम्भ किया गया मानव और जीवमण्डल (एम. ए. बी.) पर्यावरणीय अनुसंधान में लगी एक अग्रणी अन्तर-सरकारी एजेंसी है। इस कार्यक्रम की समन्वय परिषद्, जिसमें 30 देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था, की 1977 की बैठक में यह बताया गया था कि इस कार्यक्रम के अन्तर्गत 14 अनुसंधान योजनाएँ चलायी जा रही थीं। एम० ए० बी० के क्रियाकलापों में 87 राष्ट्रीय समितियाँ सहयोग करती हैं, जो लगभग 400 विषयों पर अध्ययन कर रही हैं। यहाँ पर एम० ए० बी० के कार्यक्रम की एक ही महत्वपूर्ण उपलब्धि का उल्लेख पर्याप्त होगा : 29 देशों ने जीवमण्डल के 118 संरक्षित क्षेत्रों की स्थापना कर ली है। (12)

विश्व पर्यावरण एवं विकास आयोग (डब्ल्यू. सी. ई. डी.) जिसकी स्थापना 1983 में 'संयुक्त राष्ट्र संघ' द्वारा की गयी थी, ने चार वर्षों के एक कार्यक्रम की योजना 1986 में प्रस्तुत की। विश्व परिस्थिति की जाँच के आधार पर आयोग ने 2000 ई० तक के लिए मानव जाति के अनवरत विकास के उद्देश्य से एक पारिस्थितिक रणनीति तैयार करके यह आह्वान किया कि "समय आ गया है कि संसाधनों के लिये वर्तमान और भावी पीढ़ियों की दृष्टि से निर्णय लिये जायें।" आयोग के मत में यद्यपि मानवीय जीवन की अवधि, शिक्षा प्राप्त करने वाले बच्चों की संख्या, साक्षर लोगों की संख्या और खाद्य-उत्पादन में पर्याप्त बढ़ोत्तरी हुयी है। और शिशु मृत्यु दर में भारी कमी हुयी है परन्तु "जिन प्रक्रियाओं के कारण उपर्युक्त उपलब्धियाँ सम्भव हुयी हैं, उनकी प्रवृत्तियों को हमारा ग्रह पृथ्वी और मानव समाज और अधिक सहन नहीं कर सकते। इन्हें पारम्परिक रूप में विकास और मानवीय वातावरण के प्रबंधन की असफलताएँ कहा जा सकता है।" (13)

आयोग के अध्यक्ष नार्वे की प्रधान मन्त्री ब्रन्टलैण्ड के अनुसार, अब इन समस्याओं को एक साथ ही देखा जाना चाहिये क्योंकि "हम जहाँ रहते हैं वह हमारा 'पर्यावरण' है। हम इसमें रहते हुए अपनी बेहतरी के उद्देश्य से जो प्रयत्न करते हैं वह 'प्रगति' है। दोनों ही एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते।" (14)

भारतीय परिस्थिति में पर्यावरणीय चेतना की जाग्रति का साक्ष्य पर्यावरण मन्त्रालय की निम्न योजनाओं के प्रारम्भ से प्राप्त होता है।

1. पर्यावरणीय अदालतों की स्थापना—जो वातावरण को प्रदूषित करने वाली औद्योगिक इकाइयों से सामान्य जनता को न्याय दिलाने में सहायता करेंगी।

2. राष्ट्रीय वानिकी कोष-ऐसी औद्योगिक तथा व्यापारिक इकाइयाँ जो देश के 'हरितीकरण' में महत्वपूर्ण योगदान देंगी उन्हें पूर्णतया करमुक्त करने का प्रस्ताव है।

3. राष्ट्रीय अपशिष्ट प्रबन्ध परिषद्—इसका मुख्य कार्य तापीय बिजलीघरों से उत्पन्न 4 करोड़ टन (वार्षिक) राख को ईटों तथा अन्य कार्यों में उपयोग करने, नगरों के कूड़ा-करकट से ऊर्जा उत्पन्न करने, नालियों के गन्दे पानी और मल से उर्वरक निर्माण करने की तकनीक विकसित करना है। परिषद् ने महानगरों को ऐसे संयन्त्र स्थापित

करने का आदेश दिया है, जिनसे कूड़ा-करकट को ईंधन की टिकियों में परिवर्तित किया जा सके।

4. सौर ऊर्जा आयोग—यह आयोग पारम्परिक प्रदूषण फैलाने वाली बड़ी ऊर्जा इकाइयों के स्थान पर नवीन अपारम्परिक प्रविधि की छोटी इकाइयाँ ग्राम स्तर पर उपलब्ध कराएगा।

5. राष्ट्रीय पशुशाला (ज़ू) प्राधिकरण—वन्य जीवन संरक्षण अधिनियम के अंतर्गत पशुशालाओं और अभयारण्यों का प्रभावी प्रबन्धन इस प्राधिकरण का दायित्व है।

इसके साथ-साथ मन्त्रालय ने पेट्रोल को सीसारहित करने, पर्यावरण को प्रदूषित न करने वाले उत्पादों को प्रोत्साहित करने, हानिकारक कीटनाशकों और बी० वी० ओ० पर प्रतिबन्ध लगाने, सार्वजनिक स्थानों पर धूम्रपान रोकने, चुनावों में पशुचिन्हों और पशुओं का अनुपयोग, लकड़ी के स्थानापन्न खोजने और चिड़ियों तथा वन्य पशुओं का व्यापार रोकने की योजनाएँ भी हैं। (15)

इन योजनाओं के प्रभावी कार्यान्वयन से निश्चय ही पर्यावरण संरक्षण को बल मिलेगा।

परन्तु पर्यावरण-संरक्षण की चेतना का प्रसार जन-जन में होना चाहिये। यह कार्य 'पर्यावरण शिक्षा' के द्वारा किया जा सकता है। यूनेस्को के महानिदेशक **आमाबाउ महतार एम 'बाउ** के अनुसार, "यदि वे अपने पर्यावरण को संरक्षित और गठित करना चाहते हैं तो दुनिया के राष्ट्रों को अपनी नैतिक और भौतिक जिम्मेदारियों से अवगत हो जाना चाहिये। इसके लिए शब्द के व्यापकतम अर्थ में शिक्षा की अनिवार्य भूमिका का बोध आवश्यक है, जो जानकारी प्रदान कर सके, और उन मूल्यों को मन में बिठा सके जो उन्हें सम्बद्ध समस्याओं को समझने और जो कुछ भी दाँव पर लगा हो उसे पहचानने में सक्षम बनाएगा और सर्वोपरि रूप से कार्यवाही की इच्छा को—अर्थात् आवश्यक ज्ञान और कौशल अर्जित करने की इच्छा को—प्रोत्साहित करेगा। लेकिन यदि शिक्षा को इस प्रकार पर्यावरण की सुरक्षा के प्रयासों की प्रेरक शक्ति बनना है तो उसे इस नये बोध के प्रकाश में पुनः दिशा प्रदान करनी होगी, तथा उसे अपने दृष्टिकोण, अपनी अंतर्वस्तु और अपनी प्रणाली को राष्ट्रीय और विश्वस्तर पर पर्यावरण की वास्तविक प्रकृति पर आधारित करना होगा।" (16)

बाउ का कथन है कि "इच्छित प्रभाव को प्राप्त करने के लिए पर्यावरणिक शिक्षा को नीति की परिभाषा, वैधानिक उपायों, वैचारिक प्रयासों, अनुसंधान, जनता में और जो जिम्मेदारी के पदों पर हैं, दोनों के बीच सूचना प्रदान करने के काम, प्रारम्भिक परीक्षण और उन लोगों का प्रशिक्षण जो पर्यावरणिक समस्याओं के प्रभारी हैं, शिक्षा उपकरणों का निर्माण करने और दृश्य-प्रचार साधनों के प्रयोग सहित सम्पूर्ण शृंखलाओं के सुसंगत प्रयोग पर आधारित किया जाना चाहिये।"(17)

परन्तु जनता में पर्यावरण चेतना के कार्य के लिये राष्ट्रीय सेवा योजना, नेहरू

युवक केन्द्रों और अन्य सामाजिक संस्थाओं का व्यापक उपयोग किया जाना चाहिये। ग्रामों ओर नगरों में प्रभावी पर्यावरण समितियों का गठन किया जाना चाहिये और किसी भी विकास-योजना के संदर्भ में इनकी संस्तुति पर ध्यान दिया जाना चाहिये। समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं और प्रचार साधनों को पर्यावरण संरक्षण की चेतना जगाने का महत्वपूर्ण कार्य सौंपा जाना चाहिये। लेखों, वाद-विवादों और विभिन्न प्रकार की प्रतियोगिताओं और प्रदशनियों द्वारा यह चेतना अधिकाधिक लोगों तक पहुँचानी चाहिये। यह भी आवश्यक है कि जो व्यक्ति या संस्थायें इस कार्य में महत्वपूर्ण योगदान करें उन्हें सम्मानित किया जाना चाहिये।

व्यक्ति के स्तर पर हम पर्यावरण संरक्षण में अपना योगदान कर सकते हैं जब हम स्वीकार करें कि हम पर्यावरण के अंग हैं और पर्यावरण को विरूपित करने का हमारा कोई भी कार्य मानवता के प्रति अपराध है। यदि हम आवश्यकता के अनुसार ही प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग करें और सम्पूर्ण प्रकृति-वनस्पति एवं जीवधारियों के प्रति 'आक्रामक' और 'उपभोगपरक' दृष्टि के स्थान पर मित्रता और सौहार्दपूर्ण दृष्टि रखें तो पर्यावरण संरक्षण भी हो सकता है और मानव जाति का विकास और आर्थिक प्रगति भी।

संदर्भ सूची

1. चार्ल्स पी० किंडलबर्जर तथा ब्रूस हेरिक **'इकोनामिक डेवलेपमेंट'** (मैक्ग्राहिल कोगाकुशा, टोक्यो, 1977) पृ० 1
2. उपर्युक्त, पृ० 3
3. पाल स्ट्रीटेन, 'द फ्रंटियर्स ऑव डेवलपमेंटल स्टडीज़' (मैकमिलन, 1979) पृ० 63
4. अकादमीशियन व० न० लास्कोरित का लेख 'औद्योगिक विकास और पर्यावरण की सुरक्षा', **समाज और पर्यावरण** (प्रगति प्रकाशन, मास्को 1986), पृ० 127
5. साइंटिफिक वर्ल्ड, सं० 4, 1973 पृ० 12
6. अकादमीशियन निकोलाई दुबोनिन का लेख 'मानव का भविष्य और आनुवंशिकी की प्रगति, **मानव पर्यावरण की सामाजिक समस्यायें**, पी० फेदोस्येव तथा टी० टिम्पोफ्येव (सं०) (लोक साहित्य प्रकाशन, लखनऊ 1985) पृ० 161
7. तिमूर तिमाफ़ेयेव का लेख 'शहरीकरण, वैज्ञानिक और प्राविधिक क्रांति तथा कुछ पारिस्थितिक समस्याएँ', **मानव पर्यावरण की सामाजिक समस्याएँ** पृ० 58
8. 'ट पॉलीटिक्स ऑव इन्विरानमेंट' में पर्यावरण राज्य मंत्री श्रीमती मेनका गांधी का साक्षात्कार, इलेस्ट्रेड वीकली ऑव इण्डिया, मार्च 6–12, 1990 पृ० 17
9. इवान फ्रोलोव **'ग्लोबल प्राब्लम्स ऑव सिविलाइजेशन'** एम्प्लाइड पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1989) पृ० 166
10. अलेक्चेण्डर झिरीत्सकी का लेख 'पारिस्थितिकी और राजनीतिक संघर्ष, **मानव पर्यावरण की सामाजिक समस्याएँ**, पृ० 280–82
11. अकादमीशियन डब्ल्यू० माइकेलो का लेख 'पर्यावरण की सुरक्षा और तर्कसंगत परिवर्तन के राजनीतिक पक्ष, **मानव पर्यावरण की सामाजिक सयस्याएं** । पृ० 390.
12. उपर्युक्त, पृ० 391
13. इवान फ्रोलोव **ग्लोबल प्राब्लम ऑव सिविलाइजेशन** पृ० 20
14. उपर्युक्त पृ० 23
15. द पॉलीटिक्स ऑव इन्विरानमेंट 'इलेस्ट्रेटेड वीकली ऑव इण्डिया' मार्च 6–12 1990 पृ० 16–17
16. अमादाउ महतार एम वाड का 'पारिस्थितिकी और शिक्षा' विषय पर पारिस्थितिकी के क्षेत्र में शिक्षा और प्रशिक्षण के बारे में अंतर्सरकारी सम्मेलन में भाषण (त्बिलिसी, 1977) **मानव पर्यावरण की सामाजिक समस्याएँ**, पृ० 89-90
17. उपर्युक्त, पृष्ठ 95

□□

मानसिक संकट

□ फेलिक्स आर० पैटूरी*

[प्रस्तुत लेख में लेखक ने वर्तमान समय की कुछ ज्वलंत समस्याओं का विश्लेषण सर्वथा नयी और अ-पारंपरिक दृष्टि से किया है। आप लेखक के दृष्टिकोण से सहमत हों या असहमत, किन्तु इनके विचार आपको निश्चय ही चिंतन के लिए विवश करेंगे। यह लेख फेडरल रिपब्लिक ऑव जर्मनी की पत्रिका 'स्केला' (अंग्रेज़ी संस्करण) के वर्ष 1982 के अंक 1 में 'द मेंटल क्राइसिस' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। इस पत्रिका और लेखक के सौजन्य से इस लेख का हिन्दी रूपान्तर 'आविष्कार' पत्रिका के जुलाई 1983 अंक में प्रकाशित हो चुका है।

इस लेख को पुस्तक में सम्मिलित करने के लिए मैं अपनी ओर से और 'विज्ञान परिषद् प्रयाग' की ओर से 'स्केला' पत्रिका, लेखक श्री फेलिक्स आर० पैटूरी, 'आविष्कार' के वरिष्ठ सम्पादक श्री डी० एन० भटनागर और प्रकाशक, एन० आर० डी० सी०, नई दिल्ली, हिन्दी रूपान्तरकार श्रीमती मंजुलिका लक्ष्मी और प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

—सम्पादक]

□ खाद्य पदार्थों की कमी, कच्चे माल के चुकते स्रोत, प्रदूषण का भय और ऊर्जा संकट—इन सारी कठिनाइयों की चीख-पुकार के बीच साँस लेते हुए ऐसा लगता है कि हम अब तक की अपनी जानी पहचानी दुनिया में नहीं बल्कि अनगिनत संकटों से घिरे किसी भयावह ग्रह में निवास कर रहे हों। लेकिन क्या सचमुच इन समस्त संकटों और दुश्चिताओं का कोई वास्तविक आधार है भी ? क्या हम सचमुच अपनी धरती की खनिज सम्पदा को लूट रहे हैं ? हवा, पानी, मिट्टी में ज़हर घोल रहे हैं ? और प्राकृतिक आवासों का विनाश करके हज़ारों की संख्या में जीवों और वनस्पतियों को समाप्त कर रहे हैं ? क्या यह सच नहीं है कि ये सारी मुश्किलें हमारे दिमाग में ही हैं ? आइए हम चार प्रमुख संकटों—ऊर्जा की कमी, खनिज सम्पदा का क्षय, पर्यावरण प्रदूषण और खाद्य समस्या—से संबंधित वस्तुस्थिति का विश्लेषण करें।

एक बात स्पष्ट है कि फिलहाल किसी ऊर्जा संकट की बात करनी ही हास्यापद है क्योंकि सभी बड़ी तेल कम्पनियों के तेल भण्डार मुँह तक लबालब भरे हुए हैं। औद्योगिक

* सन् 1940 में ब्रस्लो में जन्मे अनेक बहुर्चाचत पुस्तकों और निबन्धों के लेखक फेलिक्स आर० पैटूरी छठे दशक में गठित विश्व की ऊर्जा सम्बन्धी वस्तुस्थिति का विश्लेषण और भविष्यवाणियाँ करने वाली समिति के सम्माननीय सदस्य रह चुके हैं। सम्प्रति स्वन्तत्र पत्रकारिता में व्यस्त हैं।

देशों के अधिकांश बिजलीघरों पर उनकी पूर्ण क्षमता का आधा ही भार है और बिजली कटौती की कोई आवश्यकता नहीं पड़ी है। सालाना खर्च के बावजूद भी तेलों के ज्ञात सुरक्षित भण्डारों की संख्या प्रतिवर्ष वृद्धि पर है।

सन् 1920 में भूगर्भविज्ञानियों ने सारे संसार के उपयोग किए जाने वाले तेल भण्डारों का अनुमान लगाते हुए उसकी मात्रा 60,000 लाख टन आँकी। आज स्थिति यह है कि अब तक 600,000 लाख टन का उपयोग कर चुकने के बाद भी ज्ञात तेल भण्डारों में अभी 870,000 लाख टन तेल बचा हुआ है, इसकी पुष्टि हो चुकी है। इसके अतिरिक्त वैज्ञानिकों का अनुमान है कि वर्तमान प्रौद्योगिक ज्ञान की सहायता से जो अज्ञात तेल क्षेत्र अभी ढूंढ़ निकाले जा सकते हैं उनमें 1500,000 लाख टन तेल मिलने की सम्भावना है।

हमारे सुरक्षित तेल भण्डारों का अनुमानित स्तर तो और भी अधिक है—न्यूनतम यदि 2700,000 लाख टन है तो अधिकतम लगभग 6500,000 लाख टन तक। कहा जाता है कि तैलीय बालुकाराशि और तेल-शिलाओं में भी 7000,000 लाख टन तक तेल छिपा है। इसका एक चौथाई तो तत्काल ही प्राप्त किया जा सकता है, वह भी बिना किसी अतिरिक्त व्यय के। और तो और निराशावादी चिंतकों के अनुमान के अनुसार भी 1000,000 लाख टन तेल सम्पदा अभी मानव जाति के पास है और वर्तमान 30,000 लाख टन सालाना खर्च की दर से भी अभी यह उपरोक्त राशि आगामी 130 वर्षों तक तो चुकने वाली नहीं है।

प्राकृतिक गैस के संबंध में भी स्थिति इतनी ही आशाजनक है। एक अंदाज़ के अनुसार आज तक हम लगभग 200,000 लाख टन गैस का उपयोग कर चुके हैं और सुरक्षित भण्डारों में 1800,000 से 4000,000 लाख टन तक पाए जाने का अनुमान है, कोयले (ब्राउन तथा पिट कोयले) की अनुमानित मात्रा तो भविष्य की और भी सुनहरी तस्वीर पेश करती है। 140 लाख टन के उसके सुरक्षित भण्डारों में इतना कोयला भरा पड़ा है कि सारी दुनिया अगले 500 सालों तक उसका बेखटके इस्तेमाल कर सकती है।

यूरेनियम के प्रश्न को तो इस चर्चा में शामिल करना अनावश्यक ही है क्योंकि केवल पाश्चात्य देशों में ही विद्यमान 2090 लाख टन का उसका सुरक्षित भण्डार उस समय के बहुत बाद तक के लिए काफी होगा जब लोगों की लगातार बढ़ती संख्या अपनी आवश्यकता से अधिक विखण्डनीय ईंधन का उत्पादन करने में समर्थ हो जाएगी, भले ही इस बीच नाभिकीय प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अधिकाधिक विस्तार हो जाए।

केवल जल विद्युत् ही ऊर्जा का एकमात्र ऐसा स्वरूप है जिसमें और उन्नति के कोई अवसर औद्योगिक देशों में नहीं बचे हैं पर तीसरी दुनिया के देशों में इसके विकास की संभावनाएँ असीमित हैं। इस सब के अतिरिक्त ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों की वकालत करने वाला पक्ष तो और भी अनेक सुरक्षित शक्ति-भण्डारों की बात करता है। हमारी धरती तक पहुँचने वाली सौर ऊर्जा की ही मात्रा हमारी ऊर्जा सम्बन्धी वार्षिक आवश्यकता से

10,000 गुने अधिक है। विश्व का वार्षिक बायोमास उत्पादन भी 750,000 लाख टन कच्चे तेल के बराबर है—दूसरे शब्दों में हमारी वर्तमान आवश्यकता से लगभग 10 गुना अधिक। "वर्ल्ड मेटीरियोलाजिकल आर्गनाइजेशन" के अनुसार केवल वायु वेग से ही सारी दुनिया के विद्युत् स्टेशनों द्वारा उत्पादित वर्तमान विद्युत्-शक्ति का 10 गुना पैदा करना संभव है। कुछ अन्य न समाप्त होने वाले वैकल्पिक स्रोतों में ज्वार-भाटा, समुद्री जल के परिवर्तनशील ताप और भूतापीय ऊर्जा के नाम भी लिए जा सकते हैं।

अनर्थकारी दौर

भले ही यह एक विरोधाभास प्रतीत हो किन्तु इन सारी आश्वस्तकारी स्थितियों के बावजूद भी हम अवश्य ही अगले बीस-बाइस वर्षों में ऊर्जा संकट के अनर्थकारी दौर में पहुँच जाएँगे यदि तत्काल ही ऊर्जा के समस्त संभाव्य स्रोतों के विकास की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। सारी दुनिया में ऊर्जा की भूख बढ़ती जा रही है। औद्योगिक रूप से उन्नत देशों की सम्पन्नता का उपभोग करने वाले यदि अपनी विशिष्ट स्थिति से संतुष्ट होकर आर्थिक और प्रौद्योगिक प्रगति के क्षेत्र में 'शून्य वृद्धि' (ज़ीरो ग्रोथ) की बात करने लगे तो यह उनका अहम् मात्र होगा। भविष्य की सारी माँगें तो तीसरी दुनिया के देशों की ओर से आएँगी। यूँ समझिए कि आज एक अमेरिकी किसी यूरोपवासी से दुगुनी ऊर्जा इस्तेमाल करता है पर किसी नेपाली की तुलना में तो वह खपत कम से कम हज़ार गुना अधिक है। सन् 1979 में जहाँ उत्तरी अमेरिका की ऊर्जा खपत समस्त विश्व का 30.3 प्रतिशत थी वहीं उससे काफी छोटा होते हुए भी पश्चिमी यूरोप की खपत 18.5 प्रतिशत समूचे मध्य और दक्षिणी अमरीका की 4.6 प्रतिशत तथा विशालकाय होते हुए भी अफ्रीका महाद्वीप की कुल 2.1 प्रतिशत मात्र ही थी। इन आँकड़ों के आधार पर ऊर्जा के क्षेत्र में 'शून्य वृद्धि' की बात भला कौन सोच सकता है? उदाहरण के लिए ऊर्जा की प्रति व्यक्ति खपत यदि 1981 में जितनी थी उसी स्तर पर रोक दी जाए, जो कि सामाजिक दृष्टि से न्यायोचित नहीं होगा, तो भी 'शून्य वृद्धि' की सीमा छू सकना संभव न होगा, क्योंकि इस सदी के अंत तक विश्व की आबादी 55 प्रतिशत और बढ़ जाएगी जिसके लिए 50 प्रतिशत और अधिक ऊर्जा की आवश्यकता होगी।

एक लम्बे अरसे के बाद यह कहा जा सकता है कि ऊर्जा के अन्य विकल्प इस बढ़ती माँग की पूर्ति कर सकेंगे, पर इक्कीसवीं सदी के मध्य तक उनका यह योगदान बहुत मामूली रहेगा। फेडरल रिपब्लिक ऑव जर्मनी में आणविक ऊर्जा के विरोधियों से यदि सौर ऊर्जा को अपनाने की बात कही जाए, जो कि बहुत महँगी है, और 1990 तक 10,000,00 घरों में ऊष्मकों की व्यवस्था कर ली जाए तो तेल की बचत 350 लाख टन प्रतिवर्ष अवश्य हो जाएगी, किन्तु सारे देश की खपत में सौर ऊर्जा का योगदान मात्र 1.5 प्रतिशत ही होगा।

खतरनाक विकल्प

बड़े स्तर पर आणविक ऊर्जा का उपयोग ही (भले ही नापसंद किया जाता हो) आगामी तीस वर्ष में ऊर्जा आपूर्ति के मार्ग में आने वाले टेढ़े मसलों का हल प्रस्तुत कर

सकता है। यह भी सत्य है कि आणविक ऊर्जा की उपेक्षा करना राजनीतिक स्तर पर असीमित "ब्लैकमेल" को निमंत्रण देना होगा।

इसके विरोधियों का कहना है कि आणविक ऊर्जा इतनी ख़तरनाक है कि इसे किसी प्रकार न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता। यह सच है कि दुरुपयोग की आशंकाएँ बहुत हैं। लेकिन अधिकांश आशंकाएँ बढ़ा चढ़ा कर बताई गई हैं। सामान्य अवस्था में क्रियाशील आणविक केन्द्रों से किसी प्रकार का भय या आशंका नहीं है। यदि वे कार्य करना बन्द कर दें तो भी चिंता का विषय नहीं है, किन्तु युद्धकाल में शत्रु के बम वर्षण पर या गम्भीर रिऐक्टर दुर्घटना के समय ये अवश्य घातक सिद्ध हो सकते हैं। ऐसी एक दुर्घटना हज़ारों व्यक्तियों के प्राण ले सकती है, यद्यपि इसकी हज़ारों शताब्दियों में तनिक ही सम्भावना उठती है।

प्रौद्योगिकी के ख़तरों से घबराने वाले भी यह भूल जाते हैं कि इस प्रकार वे उससे मिलने वाली असंख्य सुविधाओं से वंचित रह जाने का ख़तरा मोल ले रहे हैं। किसी विकसित देश में आज अगर दो दिन के लिए भी बिजली गायब हो जाए तो चारों ओर तहलका मच जाए। प्रशीतन गृहों और रेफ्रीजेरेटरों में रखी हज़ारों-लाखों की खाद्य-वस्तुएँ बर्बाद हो जाएँगी। अस्पतालों के जीवनदायक यान्त्रिक उपकरणों की चूक अनगिनत मानव प्राणों को ले डूबेंगी। डेयरी फार्मों पर मशीनों से दुही जाने वाली गायों के थन फट जाएँगे क्योंकि मशीन की आदी गायें हाथ से न दुही जा सकेंगी। ऐसे नुकसानों के उदाहरण सैकड़ों हैं।

कुछ कम ख़तरनाक और सरल प्रौद्योगिकी के पक्षधरों का दावा है कि आने वाले वर्षों की माँग आणविक की अपेक्षाकृत कुछ कम ख़तरनाक स्रोतों से भी पूरी की जा सकती है। इस सम्बन्ध में वर्तमान स्थिति को देखते हुए दो प्रश्न विचारणीय हैं—प्रथम तो यह कि अन्य विकल्पों से संबंधित प्रौद्योगिकी क्या इतनी सक्षम है कि आगामी तीस वर्ष की ऊर्जा संबंधी माँगों का सामना कर सके? दूसरे यह 'कम ख़तरनाक' और सरल प्रौद्योगिकी क्या सचमुच कम ख़तरनाक है? सिसली में स्थापित विद्युत् प्रदायक प्रथम सौर ऊर्जा केन्द्र की क्षमता अपने प्रतिद्वन्द्वी आणविक ऊर्जा केन्द्र की क्षमता का मात्र दसवाँ भाग है। इस केन्द्र पर गतिशील अनेक परावर्तक सूर्य की किरणों को एक विशाल टावर के ऊपर स्थित स्टीम ब्वायलर पर केन्द्रित करते हैं। इस विशाल ब्वायलर में संचित ऊर्जाशक्ति अपनी पूर्णता की अवस्था में एक या दो हिरोशिमा बमों के समान ही विस्फोटक होती है। अब यदि इन पर किन्हीं आतंकवादियों का हमला हो जाए या ये किसी दुर्घटनावश फट जाए तो? साधारण अवस्था में भी सौर ऊर्जा केन्द्र अपने इर्द गिर्द के पर्यावरण के लिए वांछनीय नहीं हैं क्योंकि इनके कारण यूरोप का काफी बड़ा खुला भूभाग भारी दर्पणों के नीचे छिप जाएगा। प्राकृतिक दृश्यावली को बरबाद करने के अतिरिक्त ये सौर केन्द्र स्थानीय जलवायु में भी परिवर्तन ला देंगे। फलस्वरूप कृषकों के लिए कठिनाइयाँ बढ़ेंगी और अनेक जीव समाप्त हो चलेंगे।

और पवन ऊर्जा? यह भी कम बड़ा प्रश्नचिह्न नहीं है। वैसे तो नासा (अमेरिका

का नेशनल एरोनाटिक्स एण्ड स्पेस एडमिनिस्ट्रेशन) और फेडरल जर्मन सरकार के प्रयत्न पवन चक्कियों को पुनर्जीवित करने में लगे हैं पर उनका पुनरागमन ऊर्जा की समस्याओं का कोई सार्थक हल पेश कर सकेगा इसमें संदेह है। केवल जर्मनी की ऊर्जा खपत के 10 प्रतिशत की आपूर्ति मात्र के लिए समूचे उत्तरी समुद्र तट पर 40,000 आधुनिक पवन टरबाइनों का निर्माण करना पड़ेगा। नई विशाल इस्पाती पवन चक्कियाँ निश्चत ही मध्यकालीन परम्परागत पवनचक्कियों जैसी न तो रोमानी होंगी और न उनके बेडौल आकार को कहीं आँखों की ओट स्थापित करना ही सम्भव होगा। हर ऐसी चक्की एक मेगावाट विद्युत् ऊर्जा देने में सक्षम होगी। लेकिन इनके परिचालन से होने वाला शोर आस-पास के एक बड़े क्षेत्र को प्रभावित करेगा। इसके अतिरिक्त ये पवन चक्कियाँ पर्यावरण से जितनी मात्रा में ऊर्जा का अवशोषण करेंगी उतना ही प्राकृतिक संतुलन की सुचारू व्यवस्था में व्यवधान डालेंगी, जैसा कि आजकल विद्युत्शक्ति केन्द्रों द्वारा छोड़ी गई फालतू ताप शक्ति के कारण होता है। सांस के रोगियों के लिए अभिशाप स्वरूप हवा रहित घुटन भरे दिनों की संख्या बढ़ेगी तथा धुंए और कोहरे की सघनता भी निश्चय ही नाटकीय गति से ऊपर जाएगी।

कम ख़तरनाक ऊर्जा

यूरोप में बायोमास से प्राप्त होने वाली ऊर्जा की उत्पादन समस्या भी बहुत भिन्न नहीं है। ब्राज़ील में अब तक 700,000 मोटर गाड़ियाँ गन्नों से निर्मित इथेनॉल से चलने लगी होंगी। वहाँ पारम्परिक तेल का उपयोग करने वाले संस्थानों और मशीनों को इथेनॉल से चलाने के लिए समस्त कृषि भूमि के मात्र 2 प्रतिशत पर ही और गन्ने की खेती करने की आवश्यकता होगी। किन्तु उनके विशाल देश का यह 2 प्रतिशत क्षेत्र इतना बड़ा है जिसमें बेल्जियम, आस्ट्रिया और स्विटज़रलैण्ड, तीनों समा जाएँ। अत: यह इथेनॉल क्रान्ति घनी आबादी और छोटे क्षेत्रफल वाले यूरोपीय देशों या जापान, या अन्य तीसरी दुनिया के देशों के लिए संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त ब्राज़ील में तो प्रतिवर्ष गन्ने की तीन फसलें बोई और काटी जा सकती हैं, पर मध्य यूरोप की जलवायु इसके लिए अपेक्षाकृत अनुपयुक्त है।

तब क्या जलविद्युत् ऊर्जा ही एकमात्र कम ख़तरनाक विकल्प है?—नहीं, क्योंकि प्रौद्योगिकी में विकसित देश पहले ही इस सम्भावना का भरपूर लाभ उठा चुके हैं, और जहाँ तक कम ख़तरनाक होने की बात है तो वास्तविकता यह है कि यही सम्भवत: ऊर्जा प्राप्ति का सर्वाधिक ख़तरनाक साधन है। बाँधों के टूटने तथा दुर्घटनाओं के कारण मानव जीवन का जितना विनाश इस साधन से हुआ है उतना अन्य किसी से नहीं। बाँध बार-बार टूटते रहे हैं। और भविष्य में अब नहीं टूटेंगे यह कोई नहीं कह सकता। और फिर जितने ही विशाल जलसमूह को बाँधने की कोशिश की जाती है उतना ही ख़तरा भी बढ़ता जाता है। यह अवश्य है कि आज की नई भू-खनन और पुख्ता कंक्रीट की तकनीक इन ख़तरों में कमी ले आएगी। मोज़ाम्बीक में जाम्बेसी नदी पर बना 160 मीटर ऊँचा और 250 किलोमीटर लम्बी झील बनाने वाला बाँध इस दिशा में प्रगति का साक्षी है।

तीसरी दुनिया में स्थापित किए जाने वाले अन्य भारी भरकम जलविद्युत् केन्द्रों में दूसरा नाम है उत्तरी पाकिस्तान के मंगला बाँध का। सिन्धु की सहायक एक नदी के जल पर निर्मित इस बाँध का आयतन 1420 लाख घनमीटर है जो कियोप्स पिरामिड से 55 गुना अधिक है। 145 मीटर ऊँचा यह बाँध 2.74 किलोमीटर चोड़ा है। इतनी अधिक क्षमता वाला एक भी बाँध यदि दुर्घटनाग्रस्त होकर टूट जाए या उस पर बम गिरा दिया जाए तो उससे मुक्त होने वाली ऊर्जा कुछेक हिरोशिमा बमों से कम न होगी। सामान्य रूप से कार्य करने की अवस्था में भी यह पर्यावरणीय संतुलन में जो गड़बड़ियाँ पैदा कर देते हैं उस क्षति को ही पूरा नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त 250 किलोमीटर लम्बी झील के निर्माण में जो समूचा जैविक क्षेत्र जलमग्न हो जाता है वही कम चिन्ता का विषय नहीं है। इन विशाल झीलों वाले बाँधों से भी अधिक क्षयकारी वे नदी जल से चालित शक्ति केन्द्र हैं जो लहरों के बहाव की शक्ति का ऊर्जा उत्पादन के लिए उपयोग करते हैं और पूर्णतः हानिरहित प्रतीत होते हैं। राइन नदी के तट पर स्थित विद्युत् शक्ति केन्द्र इसका अच्छा उदाहरण है। वहाँ ऊर्जा उत्पादन के लिए नदी-जल का बहाव इस प्रकार शासित करना पड़ा कि आसपास भूमिगत जल का स्तर 6-8 मीटर तक नीचे तक चला गया। परिणामस्वरूप हरी-भरी वनस्पतियों वाला कई किलोमीटर लम्बा-चौड़ा चरागाह सूखी घास के मैदान में बदल गया।

ख़तरों पर एक नज़र

विद्युत् शक्ति केन्द्रों की व्यर्थ जाने वाली ऊष्मा का उपयोग करके घरों को ऊष्मा प्रदान करने वाली व्यवस्था भी अनचाहे परिणाम पैदा कर सकती है। इसमें ऊष्मक व्यवस्था के भूमिगत संचार जाल से 70 प्रतिशत ऊष्मा व्यर्थ ही भूमि द्वारा शोषित की जाती रहती है। यूँ यह भी शायद बहुत बड़ा दोष नहीं है। अधिक विचारणीय तो यह है कि यह व्यवस्था तभी कम खर्चीली साबित होगी यदि विद्युत् केन्द्र के 10 किलोमीटर के घेरे में ही रिहायशी बस्ती हो और अधिकाधिक घरों तक इसका लाभ पहुँचाया जा सके। इस प्रकार कम खर्च पर ज़्यादे से ज़्यादा लोग ऊष्मक व्यवस्था का लाभ उठा सकें इसके लिए आवश्यक है कि बड़े विद्युत् शक्ति केन्द्र घनी बस्तियों के बीचोबीच स्थापित किए जाएँ—भले ही उनके साथ अनेक खतरे जुड़े हों।

अब अगर उपर्युक्त सूचनाएँ सामान्य जन तक पहुँच जाएँ तो निश्चित ही वे लोग केवल आणविक ऊर्जा के आसन्न ख़तरों के विरुद्ध नारे ही नहीं बुलन्द करेंगे, बल्कि इन समस्त तथाकथित **'हानिरहित और सुरक्षित'** माध्यमों के विरोध में उठ भी खड़े होंगे। यह जानकारी शायद यह भी सोचने पर विवश कर दे कि पूर्णतया **'हानिरहित और सुरक्षित'** कहा जा सकने वाला कोई विकल्प है ही नहीं। बहरहाल इतना तो अवश्य होगा कि हम खतरों के साथ ही जिन्दा रहने की अनिवार्यता को स्वीकार कर लेंगे। और केवल यही नहीं हमें एक ही समय में हर तरह के ख़तरों के साथ रहने को बाध्य होना पड़ेगा क्योंकि कोई भी वैकल्पिक प्रौद्योगिकी अभी पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकी है। अतः अपनी आवश्यकताओं के लिए हमें तत्काल इस प्रकार की ऊर्जा प्रौद्योगिकी के विकास की आवश्यकता

है। इसमें आणविक शक्ति भी शामिल है क्योंकि ऊर्जा-प्रदायक आणविक रिऐक्टरों का निर्माण सबसे शीघ्रता से किया जा सकता है।

भ्रामक आंकड़े

सन् 1930 में जब प्रशियन जियोलॉजिकल एस्टैब्लिशमेन्ट ने पृथ्वी के गर्भ में छिपे ताँबे का अनुमानित भण्डार 750 लाख टन आँका था तो अन्दाज़ यह था कि यह ताम्र राशि पच्चीस वर्ष में समाप्त हो जाएगी। जन सामान्य तब इस जानकारी से आतंकित नहीं हुआ था क्योंकि तब तक समाचार पत्रों ने आज की तरह 'प्राकृतिक सम्पदा की लूट' के विरुद्ध जनमत तैयार करने की ज़िम्मेदारी नहीं ओढ़ी थी लेकिन अगर लोग इसके प्रति सचेत भी रहे होते तो उनका भय निर्मूल साबित होता। कारण कि सन् 1930 से 1970 के बीच ही सारे विश्व का ताँबे का उत्पादन 1,500 लाख टन से अधिक रहा और फिर 1970 में खानों में सुरक्षित भण्डार लगभग 2,370 लाख टन का था। या यूं कह लीजिए कि प्रतिवर्ष 60 लाख टन की उत्पादन दर से आने वाले 40 वर्ष के लिए पर्याप्त। तब से अब तक इन 40 वर्ष की अवधि का एक चौथाई हम पार कर चुके हैं—650 लाख टन ताँबा खानों से निकाला जा चुका है और अब भी हमारे सुरक्षित भण्डारों में पूर्वानुमानित 1720 लाख टन से कहीं बहुत अधिक ताँबा बचा हुआ है—लगभग 4,800 लाख टन।

वास्तव में संचार साधनों ने इस प्रकार की सन्तोषजनक जानकारियों और खोजों के प्रचार की ओर कभी बहुत ध्यान नहीं दिया। समाचारपत्र शायद बुरी खबरों पर ही पनपते हैं। हमारे वर्तमान ताँबा उत्पादन की दर पर आने वाले 70 वर्ष के लिए हमारे पास पर्याप्त भण्डार है, ये आँकड़े भी अन्तिम नहीं हैं क्योंकि यह मात्रा तो हमारे वर्तमान प्रौद्योगिकी कौशल और आर्थिक क्षमता के आधार पर ही निर्धारित की गई है। आने वाले वर्षों में प्रौद्योगिक प्रगति हमें निश्चित रूप से अन्य नए स्रोतों का पता देगी क्योंकि भूगर्भ वैज्ञानिक इसे स्वीकार करते हैं कि धातुओं की खोज में अभी तक तो सिर्फ पृथ्वी की ऊपरी परतों को ही 'खुरचा' गया है। एक बात और—यदि औद्योगिक केन्द्र अभी ही 30 प्रतिशत और व्यय करने को तैयार हों तो ज्ञात ताम्र भण्डारों से ही कम से कम 35 प्रतिशत अधिक ताँबा प्राप्त करना सम्भव होगा। अतः 4,800 लाख टन की यह सीमा रेखा अंतिम कदापि नहीं है।

ताँबा हमारे उद्योगों के लिए एक महत्वपूर्ण कच्चा माल है यह निर्विवाद है, पर ज़रूरी वस्तुओं के उत्पादन के लिए उससे कहीं अधिक आवश्यक है एलुमिनियम। विश्व की प्रतिवर्ष ताँबे की खपत जहाँ 990 लाख टन है वहीं एलुमिनियम की 160 टन। एलुमिनियम का उत्पादन बाक्साइट से होता है। आइए इसके उत्पादन और खर्च पर भी नज़र डालें, सन् 1970 में एलुमिनियम के ज्ञात भण्डारों में अनुमानित राशि 78,000 लाख मिलियन टन : (सन् 1979 तक उत्पादित एलुमिनियम 219,000 टन : फिर सन् 1980 में सुरक्षित भण्डारों में अनुमानित राशि 21,9000 लाख टन—अतः पृथ्वी की प्राकृतिक खनिज सम्पदा की मनमानी लूट हो रही है यह आक्षेप सही नहीं है।

आज से 10 वर्ष पूर्व ज़िंक और सीसे के क्षय होते भण्डार भी गम्भीर चिंता के कारण बने हुए थे। किन्तु यहाँ भी स्थिति में अनपेक्षित रूप से सुधार हुआ। उस समय की अनुमानित 880 लाख टन की राशि का लगभग आधा—440 लाख टन—खनिज संस्थाएँ 1970 से 1979 के बीच ही निकल चुकी थीं और 1980 में फिर भी सुरक्षित भण्डारों में 2160 लाख टन विद्यमान होने का वैज्ञानिकों का पक्का अनुमान था। अन्य धातुओं की भाँति यहाँ भी यह आँकड़ा अन्तिम नहीं कहा जा सकता।

उसी समय के सीसे से सम्बन्धित आँकड़े भी देखिए—सन् 1970 में सुरक्षित भण्डारों को अनुमानित राशि 770 लाख टन : सन् 1979 के अन्त तक का उत्पादन 250 लाख टन : एक अस्थाई अनुमान के अनुसार वर्ष 1980 में भविष्य के लिए अनुमानित राशि, 1,300 लाख टन। उद्योगों के लिए कच्चे माल के रूप में प्रयुक्त होने वाली सर्वाधिक महत्वपूर्ण धातुओं में केवल निकल और टिन की स्थिति का ही विश्लेषण अब बाकी है। इनकी वस्तुस्थिति कमोवेश अन्य धातुओं जैसी ही है। वर्ष 1970 और 1980 के बीच निकल के ज्ञात 430 लाख टन के भण्डार से 50 लाख टन निकाला जा चुका था और 490 लाख टन फिर भी बना हुआ था। वैसा ही गलत अनुमान टिन के विषय में भी था जहाँ 50 लाख टन के भण्डार से 20 लाख टन निकाले जाने के बाद भी अभी 70 लाख टन सुरक्षित है।

तो जिन आँकड़ों के आधार लेकर प्राकृतिक सम्पदा की लूट पर यह सारी हाय तौबा मचाई गई वे आँकड़े ही पूर्णतः भ्रामक थे। बारम्बार प्रमुख कच्चे माल के भारी मूल्य वृद्धि की सूचनाओं ने यह आशंका पैदा कर दी कि वे अविलम्ब बिक कर खत्म न हो जाएँ। दाम चढ़े अवश्य पर माल की कमी के कारण नहीं, वरन् आपूर्ति व्यवस्था में आने वाले अस्थाई व्यवधानों के कारण, और सबसे बढ़कर इसलिए कि उत्पादक देशों ने इस भय के वातावरण का नाजायज़ लाभ उठाना चाहा। 'क्लब ऑव रोम' ने जब 1973 में 'लिमिट्स ऑव ग्रोथ' (वृद्धि की सीमाएँ) नामक पुस्तक प्रकाशित करके माल के छीजते भण्डारों की बात पर बल दिया तो औद्योगिक देशों में उनके मूल्य आसमान पर चढ़ गए। एक तथ्य यह भी था कि उत्पादक देश वास्तव में इस भय से ग्रस्त हो चले कि शायद वे अपनी धरती में छिपे उन मूल्यवान भण्डारों को बेचे डाल रहे हैं जिसका प्रतिस्थापन संभव नहीं है। दो वर्ष के भीतर ही तांबे का मूल्य 350 डी एम से बढ़कर 550 डी एम प्रति 100 किलोग्राम हो गया। ज़िंक का मूल्य तो 170 प्रतिशत बढ़ा, 125 डी एम से 340 डी एम। इन्हीं दो वर्षों में एलुमिनियम 140 डी एम से बढ़कर 250 डी एम तक पहुँच गया। इसी बीच उत्पादक देशों में खानों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया जिससे उन देशों की इन अमूल्य सम्पदाओं पर उनके आधार अपेक्षाकृत और मजबूत हो जाएँ।

कच्चे माल की कमी नहीं

इस आतंक का प्रभाव सर्वत्र हानिकर रहा पर इन 'खजानों के मालिक' तीसरी दुनिया के देशों के लिए तो यह और भी बुरा रहा। कच्चे माल के दामों में अकल्पनीय वृद्धि का उनका यह स्वप्न जल्दी ही साबुन के बुलबुले की तरह बैठ गया। मूल्य फिर

पुरानी दरों पर पहुँच गए— कहीं-कहीं तो पहले से भी नीचे। सन् 1974 में 550 डी एम पर बिकने वाला ताँबा 1975 में 300 डी एम तक गिर गया अर्थात् मूल्यवृद्धि बिन्दु के पहले से भी 50 डी एम कम। जिंक के दाम 1975 तक घटकर 140 डी एम पहुँच गए थे और फिर सन् 1978 तक उनके मूल्य में और 70 डी एम की कमी आ गई। एलुमिनियम और जिंक के साथ भी कमोवेश यही हुआ। माँग और आपूर्ति के बीच शाश्वत सम्बन्ध ने कृत्रिम तरीके से आतंक के कारण बढ़े भारी दामों को जल्दी ही उनके पूर्व स्तर तक पहुँचा दिया। सन् 1975 के बाद भी अखबारों और रेडियो व टेलीविजन द्वारा कच्चे माल की मूल्यवृद्धि की घोषणा की जाती रही। और यह घोषणा सच साबित हुई जब 1979 में पुन: एक बार विश्व कच्चे माल के संकट के आतंक से घिर गया। मूल्य फिर बेतहाशा बढ़े या जल्दी ही पिछली बार की भाँति अपने पूर्व स्तर पर पहुँच गए।

आज स्थिति यह है कि न तो हम, न हमारी आने वाली संतानें और न उनकी संतानें—कोई भी कच्चे माल की कमी से ग्रस्त नहीं होने जा रही हैं। यह बात केवल उपर्युक्त अलौह धातुओं के सम्बन्ध में ही लागू नहीं है बल्कि लोहा, इस्पात, काँच, पोर्सिलेन तथा प्लास्टिक के विषय में भी उतनी ही सही है। यहाँ केवल जिंक, निकल और ताँबे आदि का ही प्रश्न इसलिए उठाया गया क्योंकि संकट की बात उठाई जाने पर सबसे पहले इन्हीं की कमी की चर्चा होती है।

श्री लंका में 1963 में डी डी टी का उपयोग पूर्णत: निषिद्ध कर दिया गया था, क्योंकि विश्व भर के आँकड़े यह इंगित कर रहे थे कि यह कीटनाशी पेड़-पौधों, जन्तुओं और मानव जीवन सभी के लिए हानिकर है। खाद्य पदार्थों के माध्यम से यह डी डी टी जीवित वस्तुओं और जैव उत्पादों में भी, यहाँ तक कि माँ के दूध में भी, संकेन्द्रित पाया गया। अन्य खोजों से भी पता चला कि डी डी टी से बड़ी संख्या में उपयोगी कीटों का का विनाश होता है। यह सभी सूचनाएँ अपनी जगह सही थीं। तथापि यह तस्वीर का केवल एक पहलू हुआ। 1963 के बाद कुछ ही वर्षों में श्री लंका में मलेरिया से ग्रस्त लोगों की संख्या तेज़ी से बढ़कर शून्य से 5 लाख तक पहुँच गई। 1969 तक वहाँ 10 लाख से अधिक व्यक्ति मलेरिया से ग्रस्त हो चुके थे। उनमें भी एक तिहाई इसी रोग से काल कवलित हो गए जिसे पहले कभी श्रीलंका से पूरी तरह खत्म किया जा चुका था। डी डी टी स्वास्थ्य के लिए हानिकर अवश्य था पर अभी तक उसके कारण किसी गम्भीर नुकसान या मौत की खबर नहीं मिली थी। अंतत: 1969 में श्रीलंका सरकार ने डी डी टी संबंधित अपनी निषेधाज्ञा हटा ली। इन उपरोक्त तथ्यों में मात्र निषेधाज्ञा को ही अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रचारित किया गया और अन्य तथ्यों की उपेक्षा की गई। इस तरह एकतरफा आँकड़ों का नतीजा ऐसा विनाशकारी निकला। अधिकांशत: आँकड़ों को ऐसा ही एकतरफा प्रचार मिलता है क्योंकि सकारात्मक समाचार कभी काफी सनसनीखेज नहीं होते। डी डी टी एकमात्र अपवाद नहीं है। वायु, जल और मिट्टी से संबंधित पर्यावरण प्रदूषण की विध्वंसक खबरों को भी इस जानकारी के परिप्रेक्ष्य में ही आँकना उचित होगा। यह सच है कि सल्फर डाइऑक्साइड, कार्बन और नाइट्रोजन मोनोऑक्साइड, हाइड्रोकार्बन, भारी धात्विक यौगिक, फॉस्फेट और धूल द्वारा प्रदूषण हमारे लिए एक गम्भीर ख़तरा बन

गया है। फिर भी इनका संकेन्द्रण बढ़ती औद्योगिकता के साथ-साथ बढ़ रहा है यह सत्य नहीं है। इसके विपरीत विश्व के सर्वाधिक उन्नत देशों में सबसे शुद्ध पेयजल उपलब्ध है। तीसरा दुनिया के देशों में मरने वाले शिशुओं और बालकों में 60 प्रतिशत प्रदूषित जल के कारण ही मृत्यु के ग्रास बनते हैं। वहाँ अस्पतालों में भर्ती होने वाले रोगियों में चौथाई संख्या केवल प्रदूषित जल के उपयोग से ही रोगग्रस्त होती है।

कम धूल

औद्योगीकरण की शैशवावस्था के 7-8 दशकों में पर्यावरण तंत्र को जितनी क्षति पहुँची है उसके उपचार की जटिल प्रौद्योगिकी और आर्थिक साधन केवल बहुत सम्पन्न देशों के पास ही हैं। भले ही यह विरोधाभास प्रतीत हो पर "स्वच्छ" प्रौद्योगिकी का मार्ग भी प्रौद्योगिक विकास और औद्योगिक सम्पन्नता से ही प्रशस्त हो सकता है। इनके रास्ते विकासशून्यता से नहीं निकल सकते। पिछले पच्चीस वर्षों में प्रमुख औद्योगिक देशों के विकास ने इस सत्य की पुष्टि की है। उदाहरणस्वरूप 90 प्रतिशत कार्बन डाइऑक्साइड उत्सर्जन का कारण कोयला, तेल और गैस का दहन है। और यद्यपि पिछले 15 वर्षों में औद्योगिक देशों की ऊर्जा खपत 50 प्रतिशत बढ़ गई है, वायुमण्डल में सल्फर डाइऑक्साइड की मात्रा अप्रभावित है।

धूल की मात्रा भी पिछले वर्षों से लगातार घटती जा रही है। 1970 में जर्मनी के सबसे बड़े औद्योगिक क्षेत्र रूर पर 260 हज़ार टन धूल जमी। सात वर्ष बाद यह मात्रा घट कर 150 हज़ार टन रह गई और इसके बाद से लगातार इसमें कुछ कमी ही आई है। औद्योगिक क्षेत्रों में रासायनिक कारखानों से निकलने वाली दुर्गन्ध कार्बनिक यौगिकों और हाइड्रोकार्बनजन्य वायु प्रदूषण के स्तर में भी निरंतर कमी होती आती रही।

कहना न होगा कि पिछले 15 वर्षों में इसी भाँति जलप्रदूषण की मात्रा भी घटी है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि हमारी झीलें और नदियाँ स्वच्छ हैं। पर अपने समर्थ आर्थिक साधनों की सहायता से औद्योगिक समाज उनके पुनरुद्धार की व्यवस्था सरलता से कर सकता है जैसा कि बर्लिन की तेगल झील पर कुछ वर्ष पूर्व आरम्भ किया गया था।

अधिक भोजन

लोगों को यह आशंका है कि वर्ष 2000 की अनुमानित 60,000 लाख आबादी के लिए जब वर्तमान अछूती भूमि को भी कृष्य भूमि में बदल दिया जाएगा, जितनी निराधार है उतना ही निराधार भय भी है कि आबादी की बढ़ती गति के साथ खाद्योत्पादन का सामंजस्य नहीं हो पाएगा। यहाँ भी विज्ञान और उन्नत प्रौद्योगिकी की बदौलत भविष्य की तस्वीर निराशाजनक नहीं है। संयुक्त राज्य अमेरिका में पिछले तीस वर्ष में गेहूँ का उत्पादन 1.5 टन प्रति हेक्टेयर से बढ़कर 2.3 टन प्रति हेक्टेयर तक पहुँच गया है—अर्थात् 53 प्रतिशत की वृद्धि। फेडेरल रिपब्लिक ऑव जर्मनी में इस वृद्धि की दर 77 प्रतिशत थी जबकि उसी अवधि में कृषि कर्मचारियों की संख्या घटकर कुल संख्या का मात्र पाँचवां अंश रह गया था। सन् 2000 तक विश्व की आबादी एक तिहाई बढ़ने की उम्मीद है पर खाद्योत्पादन की मात्रा आज की तुलना में लगभग दुगुनी हो जाएगी जबकि आज से केवल 4 प्रतिशत ही अधिक भूमि कृषि कार्यों में लगाई जाएगी, दूसरे शब्दों में

प्रति हेक्टेयर उत्पादन की मात्रा बढ़ जाएगी। 1970 में प्रति हेक्टेयर की औसत उपज केवल 2.6 लोगों के लिए पर्याप्त थी। आने वाले सन् 2000 तक वही हेक्टेयर अपनी बढ़ी हुई उपज से 4 लोगों को खिला सकेगा। इस प्रकार यद्यपि आबादी तीव्र गति से बढ़ेगी फिर भी हम इस सदी के अंतिम वर्ष में प्रति व्यक्ति खाद्यों की खपत 10 प्रतिशत बढ़ा सकेंगे। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि संसार में हर व्यक्ति के लिए यथेष्ट खाद्य पदार्थ उपलब्ध होंगे। बल्कि एशिया और अफ्रीका के शुष्क क्षेत्रों में स्थिति बड़ी भयावह हो जाएगी यदि जल्दी ही उनकी ओर बढ़ते मरुस्थलों को सिंचाई और वनीकरण द्वारा नियंत्रित न किया गया, जैसा कि रूस और चीन ने किया।

मानसिक संकट

सुनने में आकर्षक प्रतीत होने वाली पोषक भोजन सम्बन्धी भविष्यवाणियाँ बहुत आशाजनक नहीं हैं। मुख्यतः वे संयुक्त राष्ट्र संघ के खाद्यान्न और कृषि विभाग के आँकड़ों पर आधारित हैं जो कि अधिकतर चेतावनी और आय-व्यय तालिका के ऋणात्मक आँकड़ों से भरी रहती हैं। उनके नवीनतम खाद्य पदार्थों जैसे शैवाल, क्रिल, यीस्ट और बैक्टीरिया जैसी उच्च प्रोटीन वाली वस्तुओं का नाम नहीं रहता जबकि भविष्य में इन्हें खाद्य के रूप में उपयोग करने पर अनेक स्थानों में शोध हो रहे हैं? इसके अतिरिक्त लवण प्रतिरोधी ऐसे पौधों के विषय में, जो कि समुद्री जल से ही सींचे जा सकें, जो शोध कार्य हो रहा है उसकी भी उपेक्षा की जाती है? ऐसे सूक्ष्म शैवाल भी उपेक्षित हैं जो भूमि की नाइट्रोजन की माँग वायु से लेकर पूरी कर सकें।

इन सारे तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में क्या सचमुच प्रौद्योगिक संकटावस्था की बात कहना उचित है? वास्तव में हमारी एकमात्र और सबसे बड़ी कठिनाई मानसिक संकट की अवस्था है।

आज विज्ञान के क्षेत्रों में ज्ञान के इस विशिष्टीकरण के फलस्वरूप हम समस्या के 'आदर्श' निदान के फेर में पड़ गए हैं। ऐसे विशेषज्ञों की सेवा लेने वाले उन्हें मोटी रकम देकर यह समझते हैं कि उससे समस्या का निदान मिल जाएगा। आज हमारे पास हर शाखा के विशेषज्ञ हैं, लेकिन मात्र विशेषज्ञों की उपस्थिति से ही कैसे सारी दुष्कर समस्याओं का हल मिल जाएगा? आम जनता का उनसे यह उम्मीद करना ही अनुचित है। राजनेताओं और तकनीकीविदों से यह आशा करना कि वे कभी न चुकने वाली और सुरक्षित ऊर्जा का प्रबंध कर सकेंगे या विश्व की बढ़ती जनसंख्या के लिए खाद्यान्न जुटा सकेंगे केवल दुराशामात्र है जबकि पूर्णतया निश्चित तो वास्तव में कुछ भी नहीं है।

व्यर्थ की अपेक्षाएँ ही निराशाओं को जन्म देती हैं। समस्या की सही पहचान करके एक 'आदर्श' नहीं बल्कि संतुलित और समझदारीपूर्ण समझौते पर आधारित अनुकूलतम निदान ढूँढ़ने का प्रयत्न करना ही समीचीन होगा। ऐसे समझौते वैराग्यपूर्ण उपेक्षा नहीं जगाते, जैसा कि अस्तित्वहीन, पर ज़ोर-शोर से घोषित, विपत्ति की सूचना से जन्मता है। ऐसी चुनौतियाँ जीवन जीने का एक ठोस कारण—एक सार्थकता—प्रदान करती हैं। वे हमें सफलता और संतुष्टि का अनुभव करने का अवसर भी देती हैं। इसी स्वस्थ दृष्टिकोण का पोषण करके मानव अपने भौतिक और मानसिक भविष्य को सुखद और उपभोग्य बना सकता है। ◻◻

समीर
(सोशल एक्शन मूवमेण्ट फॉर एजूकेशन एण्ड इकोरेस्टोरेशन)
इको रेस्टोरेंशन क्लब : एक विवरण

□ डॉ० चन्द्रविजय चतुर्वेदी

प्राकृतिक संसाधनों के अवैज्ञानिक दोहन तथा प्रकृति से शनैः शनैः दूर रहने की प्रवृत्ति ने मानवकृत प्राकृतिक आपदाओं की ऐसी समस्या हमारे सामने खड़ी कर दी है जिससे एक ओर विकास के सभी प्रयास निष्फल हो रहे हैं तो दूसरी ओर मानव अस्तित्व भी ख़तरे में पड़ गया है। सम्प्रति बचे हुए पर्यावरण को बचाने मात्र से काम चलने वाला नहीं है वरन् बिगड़े हुए पर्यावरण को जीवन्त करने की दिशा में ठोस कदम उठाने की आवश्यकता है। प्राणिमात्र की जीवनाधार व्यवस्था को पुनर्स्थापित करने के लिए समाज के पढ़े-लिखे व्यक्तियों को एकजुट होकर आगे आने की आवश्यकता है। उत्तर प्रदेश सरकार के पर्यावरण निदेशालय ने शिक्षण संस्थाओं, सरकारी अधिकारियों तथा समाज के समस्त बुद्धिजीवी वर्ग का आह्वान एक ऐसे मंच के रूप में किया जहाँ मानव अस्तित्व एवं विकास की वर्तमान समस्याओं पर गहन चिन्तन हो सके और उनके समाधान की दिशा में बुद्धिजीवियों द्वारा आवश्यक कार्य हाथ में लिए जा सकें। इसको सम्भव करने के लिए 'इको रेस्टोरेशन निर्माण क्लब' की संकल्पना की गई, जिसके माध्यम से बुद्धिजीवियों का यह अभियान प्रारम्भ किया गया।

श्री जगदीशचन्द्र पन्त, तत्कालीन प्रमुख सचिव, उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ (सम्प्रति) अतिरिक्त सचिव, भारत सरकार, नई दिल्ली के आह्वान पर तथा पर्यावरण निदेशालय, उ० प्र० के अनुरोध पर शिक्षा निदेशक (उच्च शिक्षा) **डॉ० बी० एम०** एल० **तिवारी** के सहयोग से प्रदेश के उच्च शिक्षा के केन्द्रों में 'इको रेस्टोरेशन निर्माण क्लब' की स्थापना एक ऐसे मंच की संकल्पना में की गई जिसमें शिक्षा एवं पर्यावरण सुरक्षा के अभियान में व्यर्थ सामाजिक संगठन एवं शासन के विभिन्न विभागों को सहयुक्त किया जा सके।

प्रशिक्षण कार्यशाला

पर्यावरण निदेशालय द्वारा यह अनुभव किया गया कि पर्यावरण की सुरक्षा एवं उसके पुनर्स्थापना का कार्य एक विशिष्ट कौशल, निष्ठा और चेतना की अपेक्षा करता है। इस अपेक्षा की पूर्ति के लिए प्रदेश के उच्च शिक्षा के केन्द्रों से शिक्षकों तथा तकनीकी विशेषज्ञों को प्रशिक्षण के लिए आमंत्रित किया जाय। निश्चय किया गया कि शांतिकुंज

सहायक निदेशक, शिक्षा निदेशालय (उच्च शिक्षा), इलाहाबाद

(हरिद्वार) में तीन छ:दिवसीय प्रशिक्षण कार्यशालायें आयोजित की जायें जिसमें विभिन्न वर्गों के विशेषज्ञों को आमंत्रित किया जाय ।

प्रथम कार्यशाला

प्रथम प्रशिक्षण कार्यशाला का आयोजन 18 से 23 दिसम्बर, 1989 के बीच शांतिकुंज (हरिद्वार) में सम्पन्न हुयी । इस कार्यशाला में 91 से अधिक प्रतिभागी प्रदेश के विभिन्न अंचलों से सम्मिलित हुए । प्रतिभागियों में से प्रदेश के महाविद्यालयों से इंजीनियरिंग कॉलेजों से, कृषि एवं प्रौद्योगिक संस्थानों से विद्वान विशेषज्ञ सम्मिलित हुए, इनके साथ ही सार्वजनिक निर्माण विभाग के अभियन्ता, भूगर्भ एवं खनन निदेशालय के विशेषज्ञ, वन विभाग के अधिकारी, प्रदूषण कंट्रोल बोर्ड के वैज्ञानिक अधिकारी भी सम्मिलित हुए । इस कार्यशाला की सबसे बड़ी विशेषता और सफलता विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञों का एक स्थान पर उपस्थित होकर पर्यावरण और प्रदूषण की वर्तमान विश्वव्यापी समस्या पर गहन चिन्तन रहा है ।

कार्यशाला का उद्घाटन करते हुए प्रमुख सचिव **श्री जगदीशचन्द्र पंत** जी ने प्रतिभागियों को उद्बोधित करते हुए कहा कि समाज का वह प्रबुद्ध वर्ग आज यहाँ एकत्रित है जिसका न्यूनतम योगदान पर्यावरण को असंतुलित करने में रहा है, पर उसे अपना सर्वाधिक योगदान प्रदूषण को दूर करने तथा पर्यावरण को संतुलित करने में देना है । प्रदेश के बुद्धिजीवियों एवं तकनीकी बिशेषज्ञों का यह पुनीत कर्तव्य है कि वे समय की गति पहचानते हुए एक ऐसी वैज्ञानिक परिदृष्टि विकसित करें जिससे विकास और प्रगति के साथ पर्यावरण को संतुलित रखा जा सके । पंत जी ने अपने विचारोत्तेजक उद्बोधन में 'इको रेस्टोरेशन निर्माण क्लब' के पंचसूत्रीय संकल्प की विशद व्यंजना की । उन्होंने कहा कि वर्तमान वैज्ञानिक एवं औद्योगिक संस्कृति ने जिस सम्भ्रम और संकट का वातावरण स्थापित कर दिया है उसमें हमें ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की ओर अग्रसर होना है जिसमें न्याय और व्यक्ति की गरिमा अनुप्राणित हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रदेश के उच्च शिक्षा के केन्द्रों में शोध प्रयोग, पाठ्यक्रम संशोधन एवं परियोजनाओं का प्रसार इस रूप में हो जिससे मानव की पहचान पर संकट न आने पाये । **श्री जगदीशचन्द्र पंत जी** ने प्रतिभागियों का आह्वान किया कि वे अपने संस्थानों से प्रभूत ज्ञान के माध्यम से वर्तमान पर्यावरण असन्तुलन की समस्या का एक व्यवहारिक समाधान प्रस्तुत करें । उन्होंने कहा कि यह समय की पुकार है कि बुद्धिजीवी और तकनीकी विशेषज्ञ विकास की योजनाओं के निर्माण और क्रियान्वयन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने के लिए आगे आयें । पन्त जी ने अपनी वार्ता में विकास के यात्राक्रम और पर्यावरण पर उसके प्रभाव की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करते हुए प्रतिभागियों में जो वैचारिक हलचल उत्पन्न की उसका प्रभाव कार्यशाला की सम्पूर्ण अवधि में परिलक्षित होता रहा ।

द्वितीय कार्यशाला

पर्यावरण निदेशालय, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा विभाग तथा उच्च शिक्षा निदेशालय के सहयोग से प्रदेश के मेडिकल कॉलेजों के शिक्षकों तथा महाविद्यालयों के शिक्षकों की

द्वितीय कार्यशाला (3 से 8 जनवरी 1990) शान्तिकुंज, हरिद्वार में आयोजित की गई।

कार्यशाला का उद्घाटन करते हुए प्रमुख सचिव **श्री जगदीशचन्द्र पन्त जी** ने कहा कि ज्ञान और विज्ञान की सीमा इतनी बढ़ गई है कि एक व्यक्ति के लिए सर्वांगीण ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं है। विविध विषयों के ज्ञाता एक ही मंच पर एकत्रित होकर ही मानव कल्याण करने में सक्षम हो सकते हैं। ज्ञान एवं विज्ञान का उद्देश्य है मानव कल्याण। प्राकृतिक साधनों का उपयोग सर्वमानव के निमित्त हो तथा पर्यावरण सन्तुलित बना रहे यही हमारा संकल्प होना चाहिये। पन्त जी ने आगे कहा कि भारत की आज़ादी के बाद विश्व के अन्यान्य राष्ट्र उपनिवेशवाद से मुक्त हुए हैं और इन्हें तीसरा विश्व कहा जा रहा है। इस तीसरे विश्व के राष्ट्र विकास कार्य में लगे हुए हैं। हमें विकास की रणनीति ऐसी बनानी पड़ेगी जिससे प्राकृतिक सम्पदाओं का कम से कम क्षरण हो। स्थिति ऐसी उत्पन्न हो रही है जिसमें साँस लेने के लिए शुद्ध वायु का मिलना सम्भव नहीं होगा। अपने देश के परिप्रेक्ष्य में पन्त जी ने कहा कि गाँव की आवश्यकता के अनुरूप तकनीकी का विकास करना होगा जिससे पर्यावरण को दुर्दशा से बचाया जा सके।

अपने विचारोत्तेजक उद्‌बोधन में पन्त जी ने नारी जागरण और नर के उदात्तीकरण की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा कि ये दोनों मुद्दे शिक्षा प्रसार से जुड़े हुए हैं। सामाजिक विषमता की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि अधिकाधिक हथियाने के लोभ को रोकने पर विचार करने की आवश्यकता है। जनसंख्या नियंत्रण जब तक सबकी चिन्ता का विषय नहीं बनता तब तक विकास एवं पर्यावरण का संरक्षण सम्भव नहीं है। अंततः एक परिवार एक शिशु के सिद्धान्त को मापदण्ड बनाना होगा। इसे कानून बना कर लागू किये जाने के बजाय जनमत जागरण आवश्यक है।

सामान्य स्वास्थ्य और चिकित्सा के पहलू पर चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि अन्य चिकित्सा पद्धति के साथ भारतीय चिकित्सा पद्धति के द्वारा मातृ-स्वास्थ्य एवं सामान्य स्वास्थ्य की रक्षा न्यूनतम खर्च में किये जाने की आवश्यकता है। उन्होंने अपने उद्‌बोधन में डॉक्टरों का आह्वान करते हुए कहा कि सम्प्रति वर्तमान सन्दर्भों में उन्हें निम्नलिखित विषयों पर सोचना होगा—

(i) जनसंख्या नियंत्रण, (ii) सामान्य स्वास्थ्य, (iii) न्यूनतम लागत में चिकित्सा उपलब्धि, और (iv) मेडिकल इथिक्स।

कार्यशाला के प्रतिभागियों को सम्बोधित करते हुए 'ब्रह्म वर्चस्व शोध संस्थान' के निदेशक **डॉ० प्रणव पाण्डया** ने कहा कि हम यहाँ पर्यावरण संरक्षण के जिस संकल्प के साथ उपस्थित हुए हैं वह निश्चय ही असम्भव को सम्भव बना सकेगा। शासन तन्त्र के माध्यम से जो चेतना जागृत नहीं की जा सकती वह जन-जागरण 'इको रेस्टोरेशन निर्माण क्लब' के माध्यम से हो सकेगा। "थिंक ग्लोबली एक्ट लोकली" के सूत्र को प्रख्यापित करते हुए **डॉ० पाण्डया** ने कहा कि तकनीकी विशेषज्ञों तथा प्रबुद्ध शिक्षकों के चिन्तन से जो निष्कर्ष

निकलेगा उसे हम जनता एवं शासन दोनों स्तर पर क्रियान्वयन के लिए प्रेषित करेंगे। उन्होंने कहा कि आस्था के माध्यम से ही भक्ति और ज्ञान की प्राप्ति होती है। भक्ति, कर्म और ज्ञान तीनों का परस्पर सम्बन्ध है। आन्तरिक श्रद्धाभावना का उदय होने पर ही ज्ञान में तर्क तथा तथ्य का अन्वेषण करना चाहिए। अपनी चर्चा में अध्यात्म तथा चिकित्सा-शास्त्र का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करते हुए डॉ० पाण्डया ने कहा कि मस्तिष्क का सभी अंगों से सम्पर्क है। यह सभी अंगों का संचालक है। इससे भी ऊपर एक सूक्ष्म तत्व है जो परम तत्व है तथा परम तत्व की सामर्थ्य तकनीक से बहुत ऊपर है। आगे उन्होंने कहा कि जल के आधार पर ही पृथ्वी पर प्राण एवं जीवन है। अतएव प्रकृति का विनाश नहीं होना चाहिए। ओज़ोन लेयर पर डॉ० पाण्डया ने विस्तृत रूप से प्रकाश डाला।

तृतीय कार्यशाला

24 जनवरी से 29 जनवरी 1990 के मध्य आयोजित तृतीय कार्यशाला में प्रदेश के महाविद्यालयों के शिक्षक सम्मिलित हुए। दिनांक 24 जनवरी को कार्यशाला का उद्घाटन करते हुए **श्री जगदीशचन्द्र पन्त**, अतिरिक्त सचिव, कृषि विभाग, भारत सरकार ने उद्बोधित करते हुए कहा कि समाज के कमज़ोर एवं पिछड़े वर्ग के लोगों के आर्थिक विकास की रणनीति का निर्धारण बड़े महत्त्व का विषय है। एक ओर केन्द्रीय नियोजन के द्वारा स्थानीय पर्यावरणीय समस्याओं पर विचार किये बिना वृहद्‌ाकार परियोजनाओं को स्वीकृति प्रदान किया जाना आसमान से बरसी हुई आफत का रूप लेती है तो दूसरी ओर अभी तक नियोजन की प्रक्रिया में पर्यावरण संरक्षण एक अनुशासन का स्थान प्राप्त नहीं कर पाया है। आम आदमी के रोज़मर्रा की आवश्यकताओं में आत्मनिर्भरता सुनिश्चित किए बगैर ग्रामीण क्षेत्र में पर्यावरण की सुरक्षा सम्भव नहीं है। नियोजन प्रक्रिया में इन विषयों पर विचार की आवश्यकता है। भूमि-जल संरक्षण एवं हरीतिमा-संवर्द्धन रोज़गार सृजन का एक महत्वपूर्ण कार्यक्रम बनाया जा सकता है। व्यर्थ पदार्थों का पुनरुपयोग एवं पुनरावर्तन के लिए गृह उद्योगों की व्यवस्था से भी रोज़गार सृजन एवं पर्यावरण संरक्षण सुनिश्चित किया जा सकता है। कृषि में रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशक दवाओं से कई समस्यायें पैदा हुई हैं जिन पर शोध किया जाना है। विद्युत् ऊर्जा का उपयोग कैसे कम किया जाय यह प्रौद्योगिकी क्षेत्र में शोध का महत्वपूर्ण विषय है। ऊर्जा संरक्षण, वैकल्पिक ऊर्जा के स्रोत, कम खर्चीली विकास प्रक्रिया, औद्योगिक उत्प्रवाहों की सफ़ाई आदि ऐसे विषय हैं जिनमें विभिन्न विज्ञानों के विशेषज्ञों को मिलकर विचार करना होगा। उच्च शिक्षा, इंजीनियरिंग एवं मेडिकल कॉलेजों के पाठ्यक्रमों में ऐसे परिवर्तन लाये जाने हैं, जिनसे नये स्नातकों को पर्यावरण संरक्षण का पर्याप्त ज्ञान प्रदान किया जा सके। प्रबन्ध संस्थानों एवं प्रशिक्षण संस्थानों में, जहाँ विभिन्न क्षेत्र के विशेषज्ञ एकत्रित होते हैं, पर्यावरण संरक्षण चिन्तन और अध्ययन का एक अनिवार्य विषय होना चाहिए।

शिक्षकों को उद्बोधित करते हुए श्री पन्त जी ने कहा कि राजनीति निरपेक्ष बुद्धि-जीवियों के ऐसे अभियान से ही लोकशक्ति को बल मिलेगा, लोकमत प्रखर हो उठेगा और साथ-साथ लोक शिक्षण भी होगा। समग्र परिवर्तन के इन प्रयासों से एक ओर समाज के

अन्तर्विरोधों का समाधान होगा तो दूसरी ओर प्रकृति का सम्बर्द्धन भी। नये युग के निर्माण में उच्च शिक्षा के केन्द्रों को अपना योगदान प्रस्तुत करने में विलम्ब नहीं करना चाहिए। इसी में उनकी सार्थकता है। ऐसा सुगन्धित समीर, ऐसी हवा अब इन केन्द्रों से चारों ओर बहने लगे और सबके घावों को आराम पहुँचाये। पर्यावरण संरक्षण की उपेक्षा से मानव अस्तित्व को पहुँचने वाले खतरे की जानकारी होने पर भी उसके प्रति उदासीन होना आत्मघाती ही माना जायेगा।

कार्यशाला के प्रारम्भ में 'ब्रह्म वर्चस्व शोध संस्थान' के निदेशक **डॉ० प्रणव पाण्ड्या** ने प्रतिभागियों का स्वागत करते हुए पर्यावरण संरक्षण की वर्तमान आवश्यकता की विस्तृत चर्चा करते हुए कहा कि यह समाज के बुद्धिजीवी वर्ग का उत्तरदायित्व है कि वह समाज को प्रकृति के साथ जोड़ने में अपनी भूमिका को पहचाने। कार्यक्रम का संचालन करते हुए सहायक निदेशक (उ० शि०) **डॉ० चन्द्रविजय चतुर्वेदी** ने 'इको रेस्टोरेशन निर्माण क्लब' के उद्देश्यों को स्पष्ट किया और कहा कि इसके माध्यम से शिक्षा में वे आयाम जुड़ सकेंगे जिनसे समाज की अस्मिता की रक्षा हो सकेगी। पर्यावरण निदेशालय के सहायक निदेशक **डॉ० रामबूझ** ने प्रकृति की विविधता का चित्र प्रस्तुत करते हुए वन और जीव को मानव के अस्तित्व के साथ रेखांकित किया। □□

फार्म 4 / FORM IV

[नियम 8 देखिये (See Rule 8)]

1. प्रकाशन स्थान — विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद–211002
2. प्रकाशन अवधि — मासिक, प्रत्येक मास का 15 दिनांक
3. मुद्रक का नाम — श्री सरयू प्रसाद पाण्डेय
   क्या भारत का नागरिक है ? — हाँ
   पता — नागरी प्रेस, अलोपीबाग, इलाहाबाद
4. प्रकाशक का नाम — डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी
   क्या भारत का नागरिक है ? — हाँ
   पता — प्रोफेसर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
5. सम्पादक का नाम — प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव
   क्या भारत का नागरिक है ? — हाँ
   पता — वनस्पति विभाग, सी०एम०पी० डिग्री कॉलेज इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
6. उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचार-पत्र के स्वामी हों तथा जो समस्त पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हों — विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद–211002

मैं, हनुमान प्रसाद तिवारी, एतत् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गए विवरण सत्य हैं।

दिनांक 1-1-91

हनुमान प्रसाद तिवारी
प्रधानमंत्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद

एक पर्यावरण अभियान

□ डॉ० जगदीशचंद्र पंत

इको-रेस्टोरेशन-निर्माण क्लब

विशिष्ट संस्थानों के बुद्धिजीवियों का संकल्प-पत्र

जबकि हमारा पर्यावरण तीव्रगति से उत्तरोत्तर इतना प्रदूषित हो गया है कि **शुद्ध** वायु, **शुद्ध जल,** एवं **शुद्ध भोजन दुर्लभ होते जा रहे** हैं,

जबकि कतिपय स्वार्थी तत्वों के आग्रह से चल रहे **प्राकृतिक** संसाधनों के अन्धाधुन्ध विनाश के फलस्वरूप **समस्त प्राणियों की जीवनाधार व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो रही है,**

जबकि अज्ञान, उपेक्षा तथा विश्वसनीय एवं सस्ती बाल-स्वास्थ्य-रक्षा सुविधाओं के अभाव से **मानव जाति के अस्तित्व को खतरे में डालने वाला 'जनसंख्या विस्फोट' हो रहा है,**

हमारा संकल्प है कि हम अपने बल एवं बुद्धि का उपयोग करेंगे।

1. समाज में नारी की प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने के उद्देश्य से **नारी जागरण** के लिए

2. कम से कम समय में येन-केन-प्रकारेण धनार्जन करने की लत से नर को छुटकारा दिलाने के उद्देश्य से **नर का उद्दात्तीकरण** करने के लिए

3. एक परिवार एक सन्तान के आदर्श को स्थापित कर **जनसंख्या नियन्त्रण** के लिए

4. पृथ्वी के वायु-मण्डल में कार्बन डाइऑक्साइड के अधिकतम संविलयन और जीवन-दायिनी ऑक्सीजन के अधिकतम उत्पादन करने के उद्देश्य से **भूमि-जल संरक्षण एवं हरीतिमा संवर्धन** के लिए

5. सफाई हेतु तथा सभी प्रकार के व्यर्थ पदार्थों का पुनरावर्तन एवं पुनरुपयोग कर कुटीर एवं लघु उद्योग के क्षेत्र में **रोजगार सृजन** के लिए

अतिरिक्त सचिव, भारत सरकार, नई दिल्ली